विभिन्न धर्मों में ईश्वर-कल्पना

[Vibhinn Dharmon Me Ishwar-Kalpana]

विभिन्न धर्मों में ईश्वर-कल्पना

लेखक

डॉ० प्रभाकर माचवे

सचिव,

साहित्य-अकादमी, नई दिल्ली

तथा

श्री सुरेन्द्र नारायण दफ्तुआर, एम० ए० (त्रय)

हिंदी-अधिकारी

प्रधानमंत्री सचिवालय,

नई दिल्ली

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी,

पटना–८००००३

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अंतर्गत भारत-सरकार (शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय) के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रकाशन-संख्या : १०९

प्रथम संस्करण : जून, १९७४
२०००

मूल्य : रु० १०-०० (दस रुपये) मात्र

प्रकाशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी,
सम्मेलन-भवन,
कदमकुआँ, पटना-८००००३

मुद्रक :
श्री विष्णु यंत्रालय,
भिखनापहाड़ी,
पटना-८००००४

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकार द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान रूप में पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ **विभिन्न धर्मों में ईश्वर-कल्पना** (लेखक द्वय) डॉ० प्रभाकर माचवे तथा श्री सुरेन्द्र नारायण दफ्तुआर की मौलिक कृति है, जो भारत-सरकार के शिक्षा तथा समाज-कल्याण-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित की जा रही है। यह ग्रंथ विश्वविद्यालय-स्तर के विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण होगा, ऐसा विश्वास है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

बैजनाथ सिंह विनोद

पटना,
दिनांक २४-६-७४

कार्यकारी निदेशक
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

विषय-सूची

———

भूमिका

आरंभिक आदिवासियों से बीसवीं सदी के सुसंस्कृत मानव तक ईश्वर-संबंधी कल्पना मनुष्य का एक प्रिय विचार, व्यवसाय, विश्वास और विश्वात्मक संस्कार रही है। प्रस्तुत ग्रंथ में, विभिन्न धर्मों में उसी 'ईश्वर'-धारणा का विवेचन, विश्लेषण और विस्तार से निरूपण है।

यह विचार कैसे उत्पन्न हुआ? इसकी उद्भावना और विकास का ऐतिहासिक क्रम और अनेक आदिम आस्थाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। तथाकथित वन्य और आदिम जातियों में ईश्वर-निष्ठा का और धर्म-धारणा का विचार मनोरंजक है। हम उन्हें आज की तर्क-सम्मत या विवेक-प्रधान 'धर्म'-विषयक मत-प्रणाली चाहे न मानें, पर मनुष्य को 'निम्न' और ईश्वर को 'उच्च' श्रेणी का मानने की बात बहुत पहले से चली आ रही है। प्रागैतिहासिक काल से हम कई आदिम जातियों में ऐसा विश्वास पाते हैं कि कोई 'सर्वपिता' ऊपर आसमान में है। जैसे 'द्यौस् पितर्' की धारणा प्राचीन भारत में थी, आस्ट्रेलिया के आदिवासी भी उसे 'हमारा पिता' कहते हैं। वहाँ वे उसे 'परम आत्मा' या 'आत्मा' के रूप में नहीं मानते थे; फिर भी 'अध्यात्म' वाली 'आत्मा' से भिन्न, उसे प्राणों का प्राण मानने की बात आदिवासियों में अमूर्त्त अर्थ में नहीं थी। हिब्रू-भाषा के प्राचीन धर्म-ग्रंथों में अमर या सदा जीवित या नित्य को 'आत्मा' कहा जाता है। होमर नामक यूनानी कवि जब ओलम्पिया-निवासियों की बात करता है, तब उसके स्वर्ग के निवासी उस अर्थ में 'आध्यात्मिक' नहीं थे, जैसे हम उस शब्द का अर्थ आज लेते हैं। यूरोपीय विद्वानों ने गलती से, ईसाई विचार और पूर्वाग्रहों से, 'सर्वपिता' या 'सर्वात्मा' का अर्थ धार्मिक-आध्यात्मिक ले लिया। वस्तुतः, आदिवासियों का सर्वपिता या सर्वात्मा भूत-प्रेत, आत्मा की कल्पना को परम पराकाष्ठा तक ले जानेवाला भौतिक विचार था।

सभ्यता के इतिहास में, परम-तत्व की कल्पना, राजाओं और सम्राटों की महाशक्तिशाली धारणा से बाद में आई, यह भी सही नहीं है। आस्ट्रेलिया की वन्य जातियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि उसकी टोलियों का एक मुखिया या सरपंच होता था, जिसे बड़े-बूढ़े या जमात के प्रौढ व्यक्ति प्रमुख

मान लेते थे। यह सर्वपिता किसी पिता का सम्मान-प्राप्त 'भूत' नहीं होता है; चूँकि वह पृथ्वी पर आता है, और सदा जीवित रहता है। वह अपनी ही दुनिया में आकाश से ऊपर रहता है। फिर, उसकी कल्पना भूत-प्रेत की तरह नहीं की जाती है। वह केवल एक अधिक अतिरंजित अमर पुरुष है, जो इस धरती पर बहुत लंबी अवधि तक जीवित रहा और पुनः अपने स्थान को लौट गया। वहीं ऊँचे पर बैठकर वह मनुष्यों की सब हरकतों पर निगरानी रखता है। वह मनुष्यों के मामले में दखल नहीं देता। कैटिश जमात में ऐसा ही एक परम पितर 'अतनातु' कहलाता है। यह जमात मध्य आस्ट्रेलिया की निवासिनी है।

स्पेंसरगिलेन ने उसका वर्णन यों दिया है: "सब चीजों के आरंभ या अलचेरिंगा के आरंभ में यह अतनातु था। वह बहुत पुराने जमाने में आकाश की ओर उठा...वह स्वयंभू है और अपना नाम भी उसीने दिया है। उसके बेटे भी उसे अतनातु ही कहते हैं। उसकी पवित्र पूजा जिन-जिन बेटों ने नहीं की, उन्हें उसने स्वर्ग से निष्कासित कर दिया। वे सब बेटे इस धरती पर आए। इस धरती पर अतनातु ने 'वह सब जो काले आदमी के पास था' भेज दिया। उसे कई पत्नियाँ हैं, वह स्वयं पवित्र पूजाएँ करता है, वह बैल की तरह पवित्र ध्वनि करता है; और जो ऐसी ध्वनि नहीं करते, उन्हें सजा देता है। यह ध्वनि किसी को दीक्षा देते समय की जाती है। ऐसी भी एक दंतकथा है कि एक बार एक नए शिष्य को उसने पकड़ लिया और उसे स्वर्ग में ले गया, और वहाँ उसे खाने लगा; पर उसे वह खाने लायक नहीं लगा। वह 'एक बहुत बड़ा काला आदमी है।' उसके नाम का अर्थ ऐसा व्यक्ति है, जिसे गुदा नहीं है।"

इस स्वयंभू स्वर्ग में रहनेवाले प्राणी में, जो पिता और परम कल्याणकर्त्ता है, और जो अवज्ञाकारी बच्चों को घर से निकाल देता है, हम कई धर्मों के परमेश्वर जैसे गुण पाते हैं। अतनातु सिर्फ रूढियों के पालन में विश्वास करता है, उसे पाप-पुण्य से कोई मतलब नहीं। आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्वी भाग में कई अन्य जमातों में परम पिता इस आचरण-संबंधी नैतिकता-अनैतिकता से भी संबंध रखता है। स्पेंसर और टायलर की पहले जो मान्यता थी कि ईश्वर-तत्त्व एक मृत पिता की पूजा का विधान है और इस प्रकार से मनुष्य ने किसी अन्य अजीवित वस्तु को जीवित मानकर ईश्वर-

कल्पना गढ़ी, 'अतनातु' जैसी कल्पना के आगे खंडित हो जाती है। ये परम-पिता स्वयंभू निर्माता भी हैं, वे वस्तुओं को पैदा करते हैं, बिना किसी भूत या राक्षस की सहायता के। यानी, इस धरती और आकाश को बनानेवाला कोई तत्त्व पहले से रहा होगा। बकौल गालिब :

"जब कुछ न था, तो खुदा था, न कुछ होता, तो खुदा होता।
मिटाया मुझको होने ने, न मैं होता, न खुदा होता!"

अब इस परम तत्त्व को कुछ प्रजातियाँ एक कुशल शिकारी और जादूगर भी मानती हैं। शिव को किरात के रूप में माननेवाले भारतीय मिथक यहाँ तुलना करने लायक है। न-कुछ से सब कुछ का निर्माण करनेवाला जादूगर से किस तरह कम है? 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:'— पर यह तो अभाव में से सत् की सृष्टि कर देता है। कैसा अद्भुत कीमियागर है। यह अमीर खुसरो के शब्दों में 'एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा!' कर देता है और मजाल कि एक मोती उससे नीचे गिर जाए? काले आदिवासियों के 'सर्वपिता' से भी खराब कहानियाँ ग्रीक देवता जिउस और अपोलो (हमारे इंद्र और सविता) के बारे में कही जाती हैं। यानी, जो चीजें हमारे लिए नैतिक-अनैतिक हैं, पाप या पुण्य-भरी हैं, ये देवता उनसे परे हैं। सच तो है, जिस परम शक्ति ने हम मानवों में सदसद्विवेक भरा, वह स्वयं उससे कैसे आबद्ध हो सकता है। जहाँ से सारी दृष्टियाँ निकलती हैं, वह तो स्वयं दष्टि का विषय नहीं हो सकता। जहाँ से सारा ज्ञान निकलता है, वह स्वयं कैसे ज्ञेय हो सकता है? महादेवी वर्मा ने लिखा है :

"तुम बने रहो आँखों की सित-असित मुकुरता बनकर।
मैं सब कुछ तुमसे देखूँ, तुमको न देख पाऊँ पर!"

पश्चिम के नृवंशशास्त्रियों ने जब देखा कि ईसाई मिशनरियों के पहुँचने से पहले ही आदिवासियों में ऐसे 'परमपिता' वाले विश्वास-तत्त्व मौजूद हैं, तब उन्होंने दो मार्गों का अवलंबन किया। कुछ लोग यह कहने लगे कि ऐसे कोई विश्वास थे ही नहीं। और, दूसरे लोग यह मानने लगे कि ये सब विश्वास ईसाई मिशनरियों के प्रचार का ही सुपरिणाम-मात्र हैं। धर्मों के इतिहास में एक धर्म का दूसरे पर प्रभाव पड़ने के कई उदाहरण हैं; पर यह 'परमपिता' की कल्पना ईसाई या इस्लाम से उधार ली हुई नहीं जान पड़ती। ईसाई मिशनरियाँ तो औरतें, बच्चे सभी को ईसाई बनाती थीं। जबकि 'परमपिता' का विशेष

विश्वास आस्ट्रेलिया की जमातों में विशिष्ट लोगों को ही सिखाया जाता था। स्त्रियों को यह ज्ञान नहीं दिया जाता था। जो स्त्रियों को यह ज्ञान दे, उसे मृत्युदंड का विधान था। हॉविट ने यह कहा है, ऐसे विश्वास के बारे में उसे स्वय पता नहीं था कि वे कुरनाई और यूइन प्रजातियों में हैं।

कपिलारोई और इउहलाई जमातों में परमपिता-तत्त्व को 'वइयाम' कहते हैं। इसके बारे में जेम्स मैनिंग नामक नृवंशशास्त्री को पता लगा। वह आस्ट्रेलिया में आदिवासियों के धर्म का अध्ययन करने सन् १८३३-३४ ई० में जर्मन कवि गोइटे के कहने से गया। तबतक मिशनरी वाले वहाँ पहुँचे नहीं थे। मेलबोर्न राजधानी भी नहीं बनी थी। वह जहाँ रहता था, उसके आसपास एक भी गिरजाघर नहीं था। श्रीमती लैंगलोह पार्कर ने इउहलाई आदिवासियों पर जो पुस्तक बाद में लिखी और जो लंदन से सन् १९०५ ई० में प्रकाशित हुई, उसमें भी इस तरह के परम दयालु पिता और उसकी संतानों में विश्वास की बात मिलती है। इसके नाम कहीं बोयमा, बायमे, बायमी ऐसे पाए जाते हैं। रिडले नामक नृवंशशास्त्री ने भी इसी बात को अपने सन् १८५५ ई० में प्रकाशित आदिवासियों के लिए प्रथम पुस्तक में स्वीकारा है। बहुत बार इन खोजियों को जानकारी देनेवाले वृद्ध आदिवासी डर के मारे पूरी बात बताते नहीं थे; या उन्हें खुश करने के लिए मनमानी जोड़ देते थे। अतः, ऐसे परमपिता के लिए ये आदिवासी 'प्रार्थनाएँ' गाते हैं या विनतियाँ करते हैं, यह शायद दूर की कौड़ी-मात्र है।

ए० एल० पी० कैमेरीन ने इच्छुमुंदी, कारामुंदी और वरकिजी नामक आदिवासी जमातों का अध्ययन किया है और उनमें बाथी-बाथी का 'था-था-पुली' और 'ता-ता-थी' का तु-लांग नामक परमपिता बताया गया है। यह भी मृतकों पर न्यायाधीश की तरह कार्य करता है, कुछ बुरे लोगों को आग के प्रदेश या अग्निलोक में भेज देता है। फ्रेजर का यह मत है कि आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में ईसाई मिशनरियों के आगमन से बहुत पहले एक ऐसे शक्तिशाली मुखिया की कल्पना दृढमूल थी, जो अपने लोगों के प्रति कृपालु है और शत्रुओं के प्रति निर्दय है, जिसके साथ-साथ मृतों की अमरता के विश्वास मिल गये होंगे। और इसीमें से जमात के एक राष्ट्रीय देवता की बात बाद में निकली होगी। परंतु, आस्ट्रेलिया के इस 'परमपिता' के शत्रुओं के प्रति निर्दय या क्रूर होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। वहाँ आदिवासी जमातों में आपस में लड़ाइयाँ होने की कोई बात नहीं सुनी गई।

हॉविट के वाद जर्मनी के नृवंशशास्त्री वेट्ज ने सन् १८६६ ई० में इसी 'सर्वपिता'-वाली कल्पना की पुष्टि की है। यह परमपिता मारा नहीं जा सकता। मनुष्य मर्त्य है और यह सर्वपिता अमर्त्य। हॉविट ने यह कहा है कि ये आदिवासी इस परमपिता के लिए न तो वलि चढ़ाते हैं, न प्रार्थनाएँ पढ़ते या गाते हैं। उसके अनुसार, एक किसी ऐसे वड़े दयालु, अमर्त्य, निर्माणशक्तिक्षम प्राणी में विश्वास करना, जो सब मानव-प्राणियों पर निगाह और निगरानी रखता है, धर्म में सचेतन रूप से विश्वास करना नहीं है। शायद हॉविट धर्म का प्रार्थना से अटूट संवंध मानता है। जहाँ प्रार्थना नहीं, वहाँ कैसा धर्म? पर उसके वदले में वहाँ नाच थे, नाम-घोष था।

अरूंटा जाति में भी ऐसा ही परमपिता 'त्वानिरिका' या 'उन्मात जेरा' माना जाता है। वहाँ आकाश में वसनेवाला एक और वड़ा प्राणी 'उलथाना' है। ऐसे ही कई और नाम अरुंटा भाषा में पाए जाते हैं, जिनके साथ विशेषण भी मिलते हैं, जैसे वहुत अच्छा (मारा) या दयामय आदि। इन लोगों के अनुसार, यह परमतत्त्व स्त्री-पुरुषों के रूप में, वीज-रूप में प्रकट होता है। कुछ जमातों में यह सर्वकल्याणकारी या सर्वमंगलयम परमतत्त्व किसी चीज का निर्माता नहीं है। न वह कुछ वनाता है, न अपनी वनाई सृष्टि में कोई रुचि या रस लेता है। उसका तो सवके प्रति परम उपेक्षाभाव है, यानी कि वह रागातीत है, माया के पर्दे से परे है।

यदि यह परमतत्त्व स्रष्टा नहीं है, तो फिर उसकी उपयोगिता क्या है? यह आकाशवासी महाप्राण केवल पार्श्वभूमि में रहता है, और वह 'अच्छा' है, 'शिव' है। कुछ आदिवासियों ने इसी तत्त्व को निर्माता, कल्याणकर्त्ता और अनीतिनाशक रूपों में याद करना शुरू किया। हिन्दू त्रिमूर्त्ति की तरह ब्रह्मा, विष्णु, महेश के तीनों काम एक ही अतनातु, उलथाना, तुकुरा आदि नामों से पुकारे जानेवाली काल्पनिक प्राणी पर आरोपित किए गए।

आस्ट्रेलिया में यह कल्पना या विश्वास गुप्त माना गया, जिसे स्त्रियों, बच्चों और परदेसी गोरों से छिपा कर रखा जाता है। अन्य आदिवासियों में पितर-पूजा, अनेकदेवतावाद, वलि और सेवा जो भूत प्रेत-पिशाचों को अर्पित की जाती है, सव वातें चलती थीं। अतः, एक अमूर्त्त परमतत्त्व में विश्वास विशेष आकर्षक नहीं था। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों का उदाहरण फ्रेजर इत्यादि नृवंशशास्त्री इसलिए लेते हैं कि सभ्यता के विकास की दृष्टि से यह

जमातें काफी प्राथमिक अवस्था में हैं। उनमें ऐसे भी लोग हैं, जो आकाश के किसी जादूगर में विश्वास करते हैं। 'मुरा-मुरा' आकाश में रहते हैं, वे वर्षा भी लाते हैं। मनुष्य से इतर अधिक शक्तिशाली ऐसी कुछ ताकतों में विश्वास आगे चलकर यूनानी मिथकों में डिमिटर, जिउस आदि के रूप में मिलते हैं। इस प्रकार से मनुष्य की धर्म-भावना शायद इन तीन अवस्थाओं में से विकसित होती रही है :

१. भूत-प्रेत को शांत करना।

२. मनुष्य से पहले की बड़ी-बड़ी अतिमानुष शक्तियों को शांत करना (बहुदेवतावाद)।

३. एक सर्वपिता में विश्वास (एकेश्वरवाद)।

अब इन जादूई चमत्कारवाली शक्तियों में अच्छी-बुरी, मंगलकारी और विनाशकारी, कृपालु-उग्र दोनों तरह की—और कहीं-कहीं एक ही में दो परस्पर विरोधी गुणवाली देव-मालाएँ निर्मित होने लगीं। ये सभी देवता बड़े जल्दी खुश हो जानेवाले और मनुष्यों द्वारा सदा सेवा, त्याग और बलि के रूप में कुछ न-कुछ ग्रहण करनेवाले होते थे। इसराइल में धार्मिक पैगंबरों ने बार-बार ऐसी देव-माला का विरोध किया। परमस्रष्टा, परमसाक्षी, परमपिता एक ही है—यह बात यहूदी-धर्मियों ने आरंभ से मानी।

कभी कभी यह महाशक्तिशाली देवता विचित्र रूप लेकर धरती पर आते हैं। ब्रिटिश न्यू गाइना के मेलानेसियन मास्सिम लोगों में यह उच्चशक्ति 'गारूबोई' नामक एक महासर्प के रूप में पूजी जाती है। इसी सर्प से सारी प्रजा की उत्पत्ति हुई, ऐसा वे मानते हैं। पशु-पक्षी, पृथ्वी सब उसीने बनाए। विवाह के नियम भी।

फिजो में बहुदेवतावादी विश्वास है। न्देन्गेई या देगेई नामक सर्प के सिरवाला पत्थर के शरीर का प्राणी सबका पूज्य है। उसके मंदिर नहीं होते। कहीं भी खुले में ये नागदेवता पत्थर में खुदे खड़े रहते हैं। उनके दो पुत्र हैं। उन्हें बहुत-सा चढ़ावा देना होता है। उन्हीं की कृपा से पृथ्वी पर वर्षा होती है।

उगांडा में बगांडा नामक एक जाति है, जो खेती करती है और जिनमें एक राजा होता है। वे भी मुकासा नामक एक समृद्धि के महादेव में विश्वास करते हैं। वह नर-बलि पसंद नहीं करता। उस देवता की तुलना में सब

देवताओं का पिता कारोंडा को कोई नहीं पूछता। यानी, सभ्यता के उलझे हुए विकास के साथ-साथ छोटे-छोटे देवता, ग्रामदेवता और सीमादेवता अधिक शक्तिशाली होते गए, और उन सबका बनानेवाला परमपिता कहीं खो हीं गया। मनुष्य ने उसे भुला दिया या केवल 'नाम'-मात्र में उसे बदल दिया। कारोंडा नामक देवता को पशु-बलि चढ़ाई जाती थी। पर, पशु उसके 'टेमेनॉस' के आसपास आराम से घूमते-चरते थे। धीरे-धीरे ये देवता मानवी गुणयुक्त, अधिक सहानुभूतिशील, सहिष्णु, दयालु और प्रेममय होने लगे; जैसे रोमन कैथोलिक धर्म के संत।

यानी, धर्म के इतिहास में भी ज्यों-ज्यों मानवीकरण बढ़ता गया, दैवीकरण कम होता गया। एक परमपिता, सर्वस्रष्टा, जगन्नियंता महत् शक्ति के बदले अब लोग उसके मानवीय रूप में उसे अधिक निकट पाने लगे। इसराइल में जहाँ मूर्त्तिपूजा निषिद्ध और धर्मग्रंथ-पूजा ही प्रधान है, नित्य शाश्वत परमोच्च तत्त्व की पूजा पर ही अधिक जोर था। परंतु, उसके पास के देशों में, जैसे मिस्र में, और कई मानव-समूहों में ईश्वर को एक विशेष प्राणी के रूप में पूजने का विधान बढ़ने लगा। ऊपर नाग-वासुकि का उदाहरण दिया गया है, वैसे ही विशेष पशु पवित्र माने जाने लगे। वे अवध्य हो गए। कुछ पशु देवताओं के वाहन बन गए और उन्हें विशेषाधिकार और सामान्य पशुओं से अधिक चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त हुईं। एक बार परमपिता को सर्वश्रेष्ठ मान लेने पर उसे नर-बलि और अन्य कई प्रकार की विचित्र बलियाँ चढ़ाने की रस्में धर्म द्वारा वैधानिक मानी गईं। आस्ट्रेलिया के आदिवासी, यूनानी, रोमन और अन्य यूरोपीय आंशिक धर्मों में ऐसी कई क्रूर प्रथाएँ प्रचलित रहीं। यूनान में कुमारियाँ देवता को चढ़ाई जाती थीं। हमारे देश में दक्षिण में कई मंदिरों में 'देवदासी'-प्रथा के अंतर्गत लड़कियाँ देवतार्पित कर दी जाती थीं, जो विवाह नहीं कर सकती थीं। कहीं-कहीं पुरुष भी आजीवन देवता या मंदिर को अर्पित किए जाते हैं। जैसे, दक्षिण महाराष्ट्र में 'वाघ्या' प्रथा। इस अवस्था तक पुरोहितशाही का जन्म नहीं हुआ था। देवता और मनुष्य का संबंध सीधा-सीधा था।

ए० लैंग ने 'मेकिंग ऑव रिलीजन' (लंदन, १८९८ ई०) में सिद्ध किया है कि ईसाइयों का यह दावा कि 'सर्वपिता' की कल्पना उनके द्वारा दी गई है, गलत है; चूंकि ईसाई-धर्म की स्थापना से बहुत पुराने धर्मों में ऐसे विश्वास

पाए जाते रहे हैं। क्विग नामक 'बुशमन' ने कहा : 'कांग ने सब चीजों को बनाया और इसलिए हम उसकी प्रार्थना करते हैं।' अंदमान-द्वीप के आदिवासी 'पुलुगा' नामक सर्वपिता को मानते हैं। पुलुगा सबके दिल की बात जान लेता है। उसे किसी ने पैदा नहीं किया। वही सबको पैदा करता है। जुलू जाति के लोग भूत-प्रेत के पूजक हैं, फिर भी एक परम शक्ति को मानते हैं। दक्षिण अफ्रीका के कई अन्य जमातों में ऐसे ही विश्वास मौजूद हैं।

नृवंशशास्त्रियों ने यह जो अनुमान लगाए हैं कि आदिवासी लोग अपनी जमात के मुखिया को ही बढ़ा-चढ़ाकर उसी के अनुरूप एक परमशक्ति मानते थे, या कि जादूई ताकत को उन्होंने धीरे-धीरे परमतत्त्व बना दिया, वे सब इसलिए सही नहीं साबित होते कि कई जमातें ऐसी भी हैं, जहाँ घुमंतू और यायावर लोग हैं और उनमें कोई कबीला-प्रमुख नहीं है, फिर भी ऐसे विश्वास अवश्य हैं। जादूवाली बात कुछ हद तक सही है, पर वह विकसित धर्मों में भी कुछ अंशों में उपस्थित होती है। यह इस विवेचन से सहज कहा जा सकता है कि मनुष्य के मन में उसके आदिमकाल से ही किसी परमसत्ता के प्रति कुतूहल, आश्चर्य, विश्वास या आस्था किसी-न-किसी मात्रा में बनी रही है।

प्राचीन सभ्यताओं में असुरिया-बबिलोनिया की संस्कृति बहुत पुरातन रही है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि हिब्रू एकेश्वरवाद, जिसकी आधारशिला पर आगे चलकर ईसाई-धर्म और इस्लाम दोनों का विकास हुआ, कोई ऐसी अद्भुत चमत्कारी वस्तु नहीं कि परमात्मा ने अपने 'चुने हुए बंदों' को ही वह गुह्य मंत्र सिखाया हो। एकेश्वरवाद के बीज असुरिया-बैबिलोनिया मे भी पाए जाते हैं। बैबिलोनिया का प्राचीनतम धर्म एक प्रकार का बहुदेवतावादी और प्रकृति-पूजक था। जनसाधारण की यह मान्यता थी कि इस धरती की अच्छाई-बुराई, सबका शासन कुछ अच्छी और बुरी बड़ी शक्तियों के हाथों में हैं। और, जादूई मंत्रों तथा बलि इत्यादि चढ़ावे से उन्हें प्रसन्न करना आवश्यक है।

त्रिमूर्ति या त्रिशक्ति में 'तीन' के जादूई महत्त्व को आदिवासी इस तरह से मानते थे कि एक और दो (मैं और तू) के अलावा जो कुछ है, वह अनेक है, 'बहु' है, तीन है। जो दैवी शक्ति है, वह हमारे और आपके समान सरल कैसे होगी ? वह तो बहु-गुणकारिणी है। अतः, उसकी तीन आँखें हैं या आठ

भुजाएँ हैं या चार सिर हैं इत्यादि। सुमेरियन लोगों में 'सात' अंक को 'ई-मिन' कहते थे ('ई' का अर्थ पांच और 'मिन' का अर्थ दो)। तब लोग हाथ की पांच उँगलियों के हिसाब से पाँच को ही सबसे बड़ी संख्या मानते थे। पांच में से दो घटाने पर भी 'तीन' बचते हैं। सो, एक या दो दैवी शक्तियों के बजाय त्रि-शक्ति का उन्होंने विचार विकसित किया।

वैबिलोनी लोगों की दो-दो त्रिशक्तियाँ थीं। प्रकृति के तीन तत्त्व उन्होंने प्रधान माने :

अनु = आकाश-देवता, जो स्वर्ग का स्वामी है।
वेल = पृथ्वी-देवता।
इआ = जल-देवता, जो पाताल का स्वामी है।

इस प्रकार, तीनों लोकों से न्यारा देव-विधान उन्होंने पा लिया। इसके बाद दूसरी देव-त्रयी यों है :

शम्स = सूर्य
सिन = चंद्र
इश्तर = मंगलदेवी

इन छह देवताओं के बाद वैबिलोन धर्म में और भी कई छोटे-बड़े देवता थे। सबसे बडा देवता रम्मान था। वही आंधी, तूफान, वर्षा और बिजली का नियंता था। फिर, ग्रह भी देवता थे, निनिब शनि था, मर्दुक बृहस्पति, नेर्गल शुक्र इत्यादि। हमारे यहाँ नवग्रहों की मूर्तियाँ प्राचीन मंदिरों में पाई जाती हैं। अब इन ग्रह-देवताओं के गुणावगुण उन प्रत्यक्ष ग्रहगोलों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। वैबिलोनी ग्रह-देवता और अन्य देवता सबके गुणावगुण एक-से ही होते थे।

वैबिलोनी देव-माला में एक और विशेषता पाई जाती है, जो भारतीय देवताओं से बहुत मिलती जुलती है। इन देवताओं या देवियों को विविध रूपों में पूजा जा सकता था। सूर्य देवता प्रातकाल, संध्याकाल और दोपहर के मित्र थे। इश्तर जो प्रेम की देवी थी, उसे संध्यातारक के रूप में, प्रात: के मंगल तारे के रूप में, युद्ध की विजयदात्री के रूप में पूजा जा सकता था। अब इन सब देवताओं का मानवीकरण इस रूप में था कि उनकी पत्नियाँ होती थीं, पुत्र और पुत्रियाँ होती थीं, और उनके साथ में सेवक और सेविकाएँ (छोटे देवता-देवियाँ) भी होती थीं, जैसे यूनान में। देवताओं के जितने विविध नाम वैबिलोनिया में मिलते हैं, अन्यत्र कम हैं।

अब इनके साथ-साथ बैबिलोनिया के हर नगर का एक नगर-देवता था। उस सूबे के सारे लोग उसी की पूजा करते थे। अब हर नगर में एक-एक अलग पुरोहित-वंश का उदय हुआ। अब हर पुरोहित अपने देवता की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए सब तरह के उपाय अपनाता। अपनी मंत्र उपासना-पद्धतियाँ गुप्त रखता। और, यही कहता कि 'देवताओं में देवता तो सिर्फ मेरा ही नगर-देवता है; बाकी इतने योग्य नहीं हैं।' सबसे मजे की बात तो यह थी कि इनमें आपस में बड़ा 'शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व' था। कोई वैर-वैमनस्य नहीं होता था। क्योंकि, तबतक नगरों में स्पर्द्धा नहीं थी। ज्यों ज्यों नगर समृद्ध और शक्तिशाली होते गए, ग्राम-देवता भी बने रहे। नगर-देवता उनसे बड़े हो गए, और शायद महानगर-देवता उनसे भी बड़े! जब एक विजेता दूसरे नगर को जीतता, तो विजित नगर-देवता को भी पूजा और चढ़ावा चढ़ाता, ताकि वहाँ के नागरिक लोगों का विश्वास प्राप्त कर सके। विजेता अपना धर्म भी सुरक्षित रखते और दूसरों का भी। इस प्रकार, जब बैबिलोन-बोरासप्पा ने बैबिलोनिया पर राज्य किया, तब एक साथ वे मर्दुक (सूर्यदेवता) और नेब्रो (विद्या-देवता) दोनों नगर-देवताओं की पूजा करते थे। जब ऊर नगर का आधिपत्य बढ़ा, तब उसका देवता 'सिन' (चंद्र-देवता) सब पर छा गया।

इस प्रकार, बैबिलोनिया में प्राकृतिक शक्ति के देवता का नाम चाहे बदलता रहे, उसके गुण बराबर वही बने रहते थे। उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता था। इसलिए, इन देवताओं की वंशावलियों में कई मनोरजक परस्पर विरोध मिलते हैं। एक ही देवी दो अलग-अलग देवताओं की पुत्री बताई गई है, और वह भी एक ही शिलालेख में। बेलित देवी कहती है, "बेल की पुत्री मैं हूँ। सिन की पुत्री मैं हूँ। मैं सब देवताओं में श्रेष्ठ हूँ।" मुख्य बात यह है कि वह सब देवताओं में श्रेष्ठ है। एक ओर इससे यह पता चलता है कि बैबिलोनिया के पुरोहितजन इस बात की परवाह नहीं करते थे कि उनके देवी-देवता के वंश क्या हैं, वहीं दूसरी ओर अंततः सब देवों के भीतर अनुस्यूत एक ही दैवी तत्त्व निहित है, इसमें उनका विश्वास पक्का था। नाम-रूप के भेद में क्या रखा है : 'सबहि ब्रह्ममय जानि'।

असीरिया के लोगों ने 'असुर' नामक एक दैवी केंद्रीय शक्ति या देवता के रूप में एकेश्वरवाद का बीजारोपण किया। 'असुर' किसी प्राकृतिक शक्ति का

प्रतीक नहीं था। वह था एक राष्ट्रीय देवता। असीरिया का एकमात्र देवता। वह इसराइल के आरंभिक जाह्वेह की तरह योद्धा था। वस्तुतः, इस 'असुर' की कृपा युद्ध में विजय या शांति में सफलता का एकमात्र आधार थी। इस 'असुर' महादेवता के सेवक कोई छोटे-छोटे देवता नही थे। असीरिया के लोग और किसी देवी-देवता की आराधना नहीं करते थे। एक 'असुर' में सब अन्य सुरों का समावेश हो जाता था। इसराइल में राजा के अलावा एक ऊँचा पुरोहित-वर्ग होता था, असुरों में राजा ही पुरोहित था।

इस देवता का प्रतीक था एक झंडा। उस झंडे पर दो पंखोंवाला चक्र होता था, जिसपर एक वाण चलानेवाला युद्ध-देवता खड़ा होता था। चूंकि यह चक्र सूर्य का चिह्न था, इसलिए असुर सूर्योत्पन्न देवता था। इस प्रकार से 'असुर'-संप्रदाय में एकेश्वरवाद, सूर्यपूजा आदि के वीज मिलते हैं।

वैविलोनिया-असीरिया में देवताओं के शुभ-अशुभ अंक भी निश्चित थे। अनु का नंबर ६० था। वेल का ५० और सिन का ३०। सिन चंद्रमा था, जिसके चांद्रमास में ३० दिन होते थे। शम्स के २०, इश्तर के १५ (चांद्रमास के आधे), मर्दुक के ११, रम्मान के ६ और नुस्कू या अग्नि-देवता के १०। इनके अतिरिक्त और भी कई छोटे-बड़े देवी-देवता, राक्षस आदि थे। अंधश्रद्धा भी बहुत थी। पक्षियों के वीच लड़ाइयां खेली जाती; ज्योतिषी, ओझा, मृतकों को जीवित करनेवाले, सपनों का अर्थ वतलानेवाले आदि कई लोगों की उस जमाने में वड़ी पूछ थी। कई तरह के मंत्र होते थे, जिनसे बुरी आँख, अपशकुन, शाप आदि उतारे जाते। उसमें विश्वास वहुत था।

सिन (चंद्रदेवता) के प्रति एक प्रार्थना इस प्रकार से थी :

"आकाश में किसका महत्त्व है ? केवल तेरा महत्त्व है
पृथ्वी पर किसका महत्त्व है ? केवल तेरा महत्त्व है
जव तेरा शव्द आकाश में गूंजता है, तव आकाश के सारे
देवदूत तेरे चरणों में झुक जाते हैं
जव तेरा शव्द पृथ्वी पर गूंजता है, तव पृथ्वी के सारे
देवदूत जमीन चूमने लगते हैं
जव तेरा शव्द तूफानी हवा के ऊपर गरजता है, तव
उससे अन्न और पेय की समृद्धि होती है

जब तेरा शब्द पृथ्वी पर फैलता है, तब वनस्पतियाँ
उगने लगती हैं
तेरे शब्द से अस्तबल और खलिहान मोटे होते हैं ;
वह जीवन के प्राणियों की संख्या बढ़ाता है"

बैबिलोनी असुरी देवता माला से दो बातों का स्पष्ट बोध होता है कि प्रकृति के सभी तत्त्वों और अन्य प्राणियों की तरह यच्च यावत् जगत्, स्थावर-जंगम, कृमि-कीटक से लगाकर पशु-पक्षी, प्राणी, जलचर-थलचर-नभचर सब उसी दैवी इच्छा पर निर्भर रहते हैं। और, दूसरे, ये देवता पाप करने से नाराज होते हैं। परंतु, परम दयालु होने से वे पश्चात्ताप करनेवालों को क्षमा भी कर देते हैं। प्रत्येक मनुष्य का जन्म ईश्वर की एक नई आशा है। ईश्वर ने राजा एसरहैदोन से कहा : "किसी मनुष्य में श्रद्धा मत रखो। मेरी ओर देखो। मेरे ऊपर भरोसा रखो !" (मामेकं शरणं व्रज)

"जो ईश्वर से नहीं डरता, वह बाँस की तरह कट जाता है
जो इश्तर देवी का सम्मान नहीं करता, उसके शरीर के अंग सड़ जाते हैं
आकाश के तारों की तरह वह टूट कर बिखर जाता है
रात के ओस की तरह वह पिघल जाता है।"

पश्चिम के असीरिया-बैबिलोन की तरह, पूर्व में पुरानी सभ्यता के गहवारे चीन-जापान में ईश्वर-संबंधी मान्यताओं का इतिहास जान लेना उपयुक्त होगा। चीनी-भाषा में ईश्वर-विषयक दो पुराने शब्द हैं : 'शांग-ती' और 'ती-ईएन'। 'शांग' का अर्थ है ऊपर का, 'ती' का अर्थ है बादशाह। जैसे सिख लोग 'सच्चा पादशाह' कहते हैं, वैसे यह 'ऊपरवाला सम्राट्' है। हान-वंश की पुरानी चीनी-डिक्शनरी में उसका अर्थ दिया है—"वह एक, जो महान् है।" दूसरे भाष्यकारों ने कहा है कि 'ती' का उल्लेख यों ही करना ठीक नहीं होता, उसके साथ विशेषण आवश्यक हैं ; जैसे 'बड़े दरबार' का अर्थ 'राजा साहब' मान लिया जाता है, वैसे ही 'शांग-ती' है। ती-ईएन बाद का प्रचलित ईश्वरवाची शब्द है। और उसमें कोई विशेष गुणवाचक अर्थ नहीं है।

चीन में धर्मसंबंधी सर्वप्रथम उल्लेख "पीत सम्राट् (२६९७—२५९८ ईसा-पूर्व) ने शांग-ती को बलि चढ़ाई, जनता को बुलाया और उनमें अपने

शासन और धर्म के सिद्धांत फैलाए" इस इतिहास-पुस्तक के उद्धरण में है। यह इतिहास-पुस्तक सु-माकु आंग (सन् १०१९—१०८६ ई०) की पुस्तक के चू-ह् सि (सन् ११३०—१२०० ई०) द्वारा किए गए संक्षिप्तीकरण के रूप में है। तब यह प्रवृत्ति थी कि आध्यात्मिक मामलों के उल्लेख टाले जाते थे और संक्षिप्तीकरण में छोड़ दिए जाते थे। पर, उसके बावजूद जब पीत सम्राट् की 'शांग-ती' पूजा बराबर बनी रही, तब वह अवश्य बहुत प्राचीन उद्धरण रहा होगा। चीनी-इतिहासकार अपनी ओर से एक भी वाक्य जोड़ते नहीं थे।

'शांग-ती' शब्द का दूसरा ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है सम्राट् कू (२४३५—२३६६ ईसा-पूर्व) के समय—"चिआंग युवान नाम की रानी ने सम्राट् के साथ 'शांग-ती' को बलि चढ़ाई और उसे 'चौ' नामक पुत्र हुआ।' प्राचीन काव्य-पुस्तक में वर्णन आता है: "शांग-ती ने उसे कृपा और प्रेम से देखा, बिना किसी कष्ट या व्यथा के उसके महीने पूरे हुए और हाऊ-ची को उसने जन्म दिया।" बाद में वू तिन नामक एक राजा के जमाने में (१३२४—१२६६ ईसा-पूर्व) राजा एक अच्छा सहायक मंत्री चाहता था, सो उसने प्रार्थना की। शांग-ती ने सपने में उसे आशीर्वाद दिया और एक अच्छा मंत्री उसे मिल गया। अब इसके बाद इतिहास-क्रम में 'ती-ईएन' शब्द आने लगता है।

चीन के इतिहास-पुराण (हिस्ट्री क्लासिक) में राजाओं को ईश्वरी शक्ति के प्रति कैसा आदर-भाव व्यक्त करना चाहिए, इस बात का विशद विवरण है। १२वीं शताब्दी ईसा-पूर्व तक 'शांग-ती' शब्द चलता था। सुंग-राजवंश (बारहवीं शती ईसवी) के एक इतिहासकार लिखते हैं कि चाऊ-वंश (११२२—२२२ ईसा-पूर्व) की पूजाविधि में 'शांग-ती' को अलग से बलि चढ़ाई जाती थी; बाद में सूर्य, चंद्र और तारों को समिधा, लकड़ी के ढेर, और बाद में बांस के टुकड़े घर के और रसोईघर के देवता को (यह विधि कांग्फू या कन्फ्यूशस की पूजा में भी अपनाई जाती थी) और हवा और वर्षा के देवताओं को चढ़ाये जाते। बाद में ता'ई चिआ सम्राट् की पूजा का विवेचन करते हुए लिखा गया है कि राजा आकाश और धरती, भूमि और धान्य एवं प्राचीन मंदिरों की सभी दैवी आत्माओं का बराबर ध्यान रखता था। छह सौ वर्ष बाद चीनी राजा ने शांग-ती के बदले 'स्वर्ग और धरती"

(द्यावापृथिवी) के एक सम्मिलित प्रतीक को सब वस्तुजात का स्रष्टा मान लिया। यह चीनो शब्द आधुनिक 'प्रकृति' के निकट था।

वाद में, 'स्तोत्र-पुस्तक' में 'शांग-ती' के प्रति ऐसे वचन मिलते हैं: "शांग-ती महान् है! वह नीचे की सारी प्रजा का शास्ता है। वह सर्वसाक्षी है।

शांग-ती भयदाता है! उसके कई कार्य नियमों से परे हैं!

शांग-ती कितना व्यापक है! वह नीचे की सारी प्रजा का शासक है।

शांग-ती कितना भव्य और राजसी है! वह किसी का तिरस्कार नहीं करता। उसी के कारण यह वर्षा और फलभरे मौसम हैं। ये गेहूँ और जौ उसी की कृपा से इतने शानदार हैं!"

इसी पुस्तक में एक ऐसा उल्लेख आता है कि 'आकाश राजा के लिए वैसा ही है, जैसे पुत्र के लिए माता-पिता; वह प्रेम भी उतना ही करता है, जितना ताड़न का अधिकार भी रखता है।' सम्राट् को आकाश की सेवा वैसे ही करनी चाहिए, जैसे पुत्र पिता की करता है। अतः, दक्षिण में एक जमीन का टुकड़ा लेकर उसे स्वयं साफ करके, आकाश के प्रति राजा को वलि चढ़ानी चाहिए। तभी आकाश उसपर प्रसन्न होगा।

राजा साल में एक वार जाकर खुद हल चलाते थे। उनके साथ-साथ उनके स्थानिक अधिकारी भी जाते थे। यह कथा राजा जनक द्वारा मिथिला में, खेत में हल चलाने की रामायण-कथा के समकक्ष है। जनक के हल चलाने से ही खेत में हल के फाल से वननेवाली रेखा में सीता पाई गई। चीनी राजा की यह आकाश-देवता की पूजा प्रजा के लिए एक वस्तु-पाठ थी। यह चीनी-प्रथा सन् १९११ ई० की क्रांति तक वरावर चली आ रही थी। 'विधि-पुस्तक' में लिखा है: "वसंत के प्रथम मास में आकाश का पुत्र शांग-ती की प्रार्थना करता है कि हमें उत्तम फसल दे...और स्वयं हल चलाता है!"

हान-वंश के वेन-ती (१७९—१५७ ईसा-पूर्व) ने शांग-ती की पूजा वंद करवा दी और निम्नांकित आठ नए देवताओं की पूजा चालू कराई:

१. आकाश स्वामी
२. पृथ्वी स्वामी
३. युद्ध स्वामी
४. यांग'-स्वामी

५. 'थिन'-स्वामी
६. चंद्र-स्वामी
७. सूर्य-स्वामी
८. चार ऋतुओं का स्वामी

यहाँ से चीन में 'शांग-ती' के साथ-साथ अन्य देवताओं के लिए विशेप बलि-'वेदियां' बनाई जाने लगीं। बाद में सन् १७११ ई० में 'इतिहास-पुराण' के संपादक ने उसपर टिप्पणी जड़ी—"आकाश एक है! और, उसके लिए पाँच साम्राज्य मानना, यह प्राचीन परंपरा का निर्वाह नहीं है। यह तो सम्राट् के बीमार दिमाग की उपज-मात्र है!"

हुई-त्सुंग (सन् ११०१—११२५ ई०) नामक कमजोर राजा ने वेन-ती की सारी देवता-परंपरा को ठुकरा कर दरबार के एक जादूगर को 'शांग-ती' बना दिया। पर, 'आकाश' शब्द के भीतर सब प्रकार की उच्च, दैवी, उदात्त, भव्य गुणावली का समावेश किया जाता था। उसे लेकर सुंदर काव्यमय कल्पनाएँ और प्रार्थनाएँ रची गई हैं। कांग्फू ने कहा है—"जो कुछ मुझमें अच्छा है, वह आकाश के कारण है!"

चिआंग ताई-कुम (१२ शती ईसा-पूर्व)—"आकाश का जो पक्षपात या एकांगिता है, वही उसकी परम न्यायशीलता है!"

दार्शनिक चुआंग-त्सु (३ या ४ शती ईसा-पूर्व)—"पक्षपात या एकांगिता हमारी अपनी होती है, आकाश तो परम पूर्णता है!"

लाओ-त्से —"आकाश का जाला बहुत लंबा-चौड़ा है। वह सब ओर फैला है। वह सबको समेटता है। उससे कुछ नहीं छूट पाता।"

'कुआन-त्सु' पुस्तक—"जब मनुष्य के कर्म आकाश के अनुकूल होते हैं, आकाश उसकी मदद करता है। जब वे प्रतिकूल होते हैं, आकाश उसकी उपेक्षा करता है। आकाश की कृपा से छोटे बड़े हो जाते हैं। आकाश जिनपर ध्यान नहीं देता, वे नीचे गिर जाते हैं।"

'स्तोत्र-पुस्तक'—"ओ व्यापक सुदूर आकाश! तू ही हमारा माता-पिता है!"

तीसरी शती ईसवी की एक पुस्तक —"आकाश सबसे ऊंचा है, फिर भी वह सबसे छोटे की बात सुनता है।"

चू-युवान (३३२—२९५ ईसा-पूर्व)—"आकाश सबका स्रोत है। जब मनुष्य गरीबी से पिस जाता है, तब उसे स्रोत की याद आती है। जब किसी पर भी विपदा आन पड़ती है, तब वह सिवा उस स्रोत के किसकी याद करता है ?"

चीन से जापान की याद आना स्वाभाविक है। वहाँ ईश्वर-कल्पना का आरंभिक रूप क्या था, यह जानना उपयुक्त होगा। जापानी भाषा में ईश्वर वाचक शब्द है 'कामी'। कुछ लोग उस शब्द की व्युत्पत्ति 'कांगामी' के संक्षिप्त रूप में मानते हैं, जिसका अर्थ है—'देखना, निर्णय देना।' अन्य लोग उसे 'किमी' का रूप मानते हैं, जिसका अर्थ है 'स्वामी'। कुछ और लोग उसे 'कावी' (रहस्यमय) का रूप मानते हैं। अब एक नई व्युत्पत्ति सुझाई गई है कि आइनू भाषा का शब्द 'कामुई' से यह शब्द बना। उसका अर्थ है—"वह जो सबको व्याप्त करता है, ढकता है।" अधिक आधुनिक रूप यह माना जाता है कि 'कामी' है 'ऊपर, या उच्च', जिसका विरोधार्थी शब्द है 'शिमो', यानी 'नीचा या हल्का'। शरीर का ऊपर का हिस्सा 'कामी' है, नीचे का 'शिमो'।

मोतूरी (सन् १७३०—१८०१ ई०) नामक शितो-विद्वान् कहते हैं कि "कामी आकाश और पृथ्वी के कई देवताओं के लिए प्रयुक्त शब्द था। जिन मंदिरों में इनकी पूजा की जाती थी, उनकी आत्मा के लिए भी 'कामी' शब्द प्रयुक्त होता था। धीरे-धीरे केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, समुद्र-पर्वत वे सब चीजें, जिनकी विलक्षण शक्तियों के लिए डर या आदर होता था 'कामी' कहलाती थीं। ये सब देवता अच्छे, उदार और दयालु ही हों, ऐसा नहीं था। कई देवता डरावने और बुरा प्रभाव पैदा करनेवाले भी थे, जो 'कामी' माने जाते थे।"

आरंभिक जापानी धर्म प्रकृति-पूजक धर्म था। प्रकृति की अनेक शक्तियाँ, जैसे सूर्य, चंद्र, अग्नि, जल, हवा, तूफान आदि पूजे जाते थे। धीरे-धीरे इसमें अड़ोस-पड़ोस के देशों से कुछ देवता जुटते गए। और, इनकी संख्या 'आठ सौ से ऊपर' हो गई। इस देश को 'देवताओं का देश' कहा गया। सन् ९०१ ई० में एक गणना की गई थी, जिसके अनुसार जापान में २८६१ मंदिर थे, जिनमें ३१३२ देवताओं की पूजा की जाती थी। यह संख्या-वृद्धि आजतक होती

रही है। और, सब प्रकार के शिंतो देवता आजकल १,९०,४३६ हैं। इन मंदिरों में निम्न प्रकार के देवता हैं :

१. पौराणिक देवता
२. देशभक्त और वीर पुरुष
३. प्रकृति के चमत्कार और अन्य तत्त्व
४. कई प्रकार के पशु-प्राणी और वस्तुएँ

कोई भी महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली वस्तु उपास्य देवता हो सकती है। सभी देवता समान महत्त्व के हों, ऐसी बात नहीं। कोजिकी के अनुसार, सबसे आदि देवता आकाश के पिंड थे, जिन्हें जिम्मी नामक प्रथम सम्राट् ने पूजा था। इस पुस्तक में तीन तरह के देवता बताए गए हैं :

१. आये-नो-मिनाका-नुशिनो-पिकोतो (पवित्र केंद्र आकाश के स्वामी देवता)
२. ताकाबी-मुसुबि-नो-कामी (उच्च, पवित्र, आश्चर्यनिर्माता देवता)
३. कामी-मुसुबि-नो-कामी (दैवी-निर्माता-आश्चर्यमयी देवता)

आत्सुताने हिराता नामक शिंतो-विद्वान् (सन् १७७६—१८४३ ई०) के अनुसार, ये सब देवता अंततः एक ही दैवी शक्ति से प्रेरित थे। जी-कातो ने भी लिखा है, शिंतो-धर्म में एक प्रकार का आदिवासी एकेश्वरवाद था। वैसे जापानी सदा अनेक देवता मानते रहे हैं; पर उन सबके भीतर एक सबको जोड़नेवाली शक्ति रही है। धीरे-धीरे चीनी एकेश्वरवाद ने जापानी धर्म-मत को प्रभावित किया।

सबसे अधिक पूज्य माना गया सूर्यदेव। उसके साथ-साथ आमातेरासु ओमिकामी नामक सूर्यपत्नी भी पूजी गई। जापान पर राज्य करनेवाला वंश इसी सूर्यवंश से पैदा हुआ। हाचिमान एक पुराना वीर पूजा जाता है। तेन जिन अब विद्या का देवता माना जाता है। इनारी चावल का देवता माना जाता है। कोंपिरा समुद्र पर नावें चलानेवालों का देवता है। येबिसु सद्भाग्यदाता देवता है। इधर कई वर्षों से सम्राट् की पूजा भी वैसी ही मानी जाती है, जैसे प्राचीन देवी-देवताओं की।

'कामी' शब्द के अब जापानी शब्दकोश में ईश्वर के साथ-साथ; मृतात्मा, चमत्कार, जिम्मी से पहले के राजा आदि अनेक अर्थ एक साथ मिलते हैं। अब ईसाई अमूर्त्त ईश्वर के लिए भी कामी शब्द ही प्रयुक्त होता है।

मिस्र की सभ्यता भी चीन-जापान की तरह काफी प्राचीन है। वहाँ ईश्वर-विषयक कल्पना का विकास कैसे हुआ, यह भी विचारणीय है। मिस्र की प्राचीन लिपि चित्र लिपि थी। ईश्वर-वाचक शब्द एक तारे के रूप में (✯) दिखाया गया है। एक बाज पक्षी के रूप में ईश्वर और यूरियस (सर्प) के रूप में 'देवी' दिखाई जाती है। बाद में कई देवी-देवता पशु-पक्षियों के रूप में व्यक्त किए जाते हैं, जैसे सारस पक्षी। एक और आकृति जो मिस्री प्राचीन लेखों में मिलती है, वह है कुल्हाड़ी के आकार की। इसका सिरा पीला या सफेद होता था। नगादा-काल में कुल्हाड़ी के एक फाल के बदले ऊपर दो कीलें जैसी दिखाई जाती हैं। अस्त्रपूजा अवश्य रही होगी। एक ढाल और दो बाण की पूजा की जाती थी, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। 'तीथ' नामक देवी का चिह्न था एक बाजूबंद और उसके दो पट्टे। कई पुराने आलेखों से यह पता चलता है कि पा-आहा अथवा 'युद्ध-घर' में शस्त्रास्त्रों की पूजा होती रहती थी।

'नृत्र' एक पुराना शब्द मिलता है, जो ईश्वरवाचक है। इसके दो अर्थ थे : एक शस्त्र-वाचक था—गिराना, मारना; दूसरा विकसित होना, उगना, तरुण बनना। एक परकोटे जैसा शब्द इसकी सुरक्षा का सूचक था। पुनर्नवीकरण का भाव जो इन शब्दों में है, वह यह व्यक्त करता है कि मिस्री देवता पुनः युवा हो सकते थे। क्या यह देवता भी वृद्ध होते थे, और पुनर्जन्म लेते थे ? यह कह पाना कठिन है।

नील की घाटी में किसी प्रकार का एकेश्वरवाद पहले था, ऐसा मिस्र की प्राचीन संस्कृति के विशेषज्ञ मानते थे। कुछ लोगों के विचार में एकेश्वरवाद के साथ-साथ बहुदेवतावाद भी प्रचलित था। मिस्री लोग अमरता प्राप्त करने के लिए रहस्यमय पूजा-विधियाँ करने में विश्वास करते थे। रहस्यमय केवल कुछ जादूई शब्द और विधियाँ थीं। मंदिरों में कुछ कमरे ऐसे थे, जिसमें आम लोग नहीं जा सकते थे। केवल मंत्र-दीक्षित लोग ही प्रवेश पा सकते थे।

विद्वानों ने प्राचीन मिस्री चित्र-लेखों का अध्ययन करके पता लगाया है कि मिस्र में ऐसी 'एक' शक्ति की पूजा होती थी, जो थीब्स का राजा था, होलियोपोलिस का राजपुत्र था और जो 'मेंफिस' में 'सर्वोच्च मुकुट' माना जाता था। वह सब प्राणियों का और सारी सृष्टि का निर्माता था। वह अदृश्य है; वह प्रार्थनाएँ सुनता है; मनुष्यों की सहायता प्रार्थना के अनुसार करता है; वह

अकेला है; और उसके जैसा और कोई नहीं है। यह 'आमोन' या 'रा' या 'प्ताह' कहलाता था। एक बड़े देव के साथ-साथ वे और भी छोटे-छोटे देवता मानते थे। एक देव भौतिक समृद्धिदाता था। वह पिता था, समझौता करनेवाला था, निर्माणकर्त्ता था, राजा था। पृथ्वी पर जैसे सम्राट् फारोआ था, वैसे ही वह सर्व-प्राणियों का शास्ता था। उसके बारे में पूरा पता किसी को नहीं लग सकता। धीरे-धीरे कुछ-कुछ जाना जा सकता था।

यही 'रा' विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग 'रेन्-नु' (नाम) ग्रहण करता है। इसके नाम से कई स्तोत्र मिलते हैं। बाद में अॅन्युलिडस के अनुसार, सबसे बड़ी पूजनीया महादेवी 'इसिस' मानी जाती थी। साबा को राजा के समय का एक शिलालेख मिलता है, जिसके अनुसार अन्य देवताओं की अपेक्षा एक देवता को किसी विशेष स्थान में अधिक महत्त्व दिया जाता रहा, ऐसा उल्लेख है। जैसे 'मेंफिस' के 'प्ताह' को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मिस्रियों में एकेश्वरवाद रहा होगा। स्थान-देवताओं का महत्त्व अधिक था, इतना ही इससे सिद्ध हो पाता है। ईसा-पूर्व १४५० में अमेनोफिस चतुर्थ ने आतेन (सूर्यचक्र) की प्रतिष्ठा अन्य देवी-देवताओं से अधिक महत्त्व की सिद्ध करने का यत्न किया था। इस देवता को राजा ने अपना महल अर्पित किया था। थीब्स, मेंफिस और हेलियोपोलिस में उसके देवालय बनाने का भी यत्न किया। उसने अमॉन नामक देवता का नाम सब शिलालेखों में से मिटाने का भी यत्न किया। अन्य देवताओं के प्रति इतना द्वेष या तिरस्कार उसने व्यक्त नहीं किया। तुतानखामेन ने लिखा है कि अमेनोफिस ने कई देवताओं की पूजा बंद करवा दी, या उन्हें कनिष्ठ स्थान दिया। यह वस्तुतः उन देवताओं की पुनःप्रतिष्ठा बढ़ाने का यत्नमात्र था। अमेनोफिस ने धार्मिक सुधार अमल में लाने की कोशिश की, परंतु वह एकेश्वर-वाद मिस्र में लागू नहीं कर सका।

वंश-देवता बराबर पूजे जाते रहे। अमुक फारोहा राजगद्दी पर आते ही वह अपने मूल वंशदेवता की पूजा बढ़ा देता था। पर, जबतक उसका वंश राज्य करता, तबतक यह देवता-माहात्म्य चल पाता। इस प्रकार से राजनीतिक कारणों से पुराने साम्राज्य में 'प्ताह' देवता का, थीबन वंश में 'अमॉन' का और साइतिक कालखंड में 'नेहथ' देवता का बोलबाला रहा। वैसे सारे मिस्र में सूर्य-देवता 'रा' और मृतकों का देवता 'ओसिरिस' सब प्रजाजनों द्वारा

पूजे जाते रहे। जो निम्न वर्ग के लोग थे, वे राजवंशी देवताओं को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। वे भूतप्रेत-बाधा से बचानेवाले 'बेस', जन्मदेवता 'थ्यूरिस', पताल-लोक के देवता 'अॅमे-थेस' और धान्य-सुरक्षा के देवता 'नेपेरा' की बराबर पूजा करते रहे।

पशुओं को पवित्र, पूज्य और अवध्य मानने की प्रथा भी बराबर प्रचलित थी। बड़े मंदिरों में पशुओं को गौण स्थान दिया जाता था, पर छोटे-छोटे मंदिर उनके लिए सुरक्षित थे। यदि ऐसा पवित्र पशु मारा जाता, तो मारनेवाले को मृत्युदंड दिया जाता। उस मारे गए पशु के क्रोध और प्रतिशोध से जनता को बचाने के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता। कई प्राचीन मिस्री नियम-ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें 'नेतेर' देवता-वाचक संज्ञा है, पर उसका अर्थ यह नहीं की मिस्री एकेश्वरवादी थे। वस्तुतः, वह देवता-वाचक नाम यों लिखा गया है कि उसकी जगह सुविधानुसार जो भी देवता आवश्यक हो, उसका नाम जोड़ दिया जाए।

मिस्री देवी-देवताओं के विविध स्तर और स्थान निश्चित थे। एक देवता-समूह फारोहा की तरह राज करता था। कुछ देवता राजा, या स्वामी माने जाते थे, जिनके मातहत अन्य छोटे देवता थे। कुछ देवता तीन की संख्या में एक साथ रहते, जैसे त्रिमूर्त्ति। कुछ माता-पिता-पुत्र के रूप में पूजे जाते, जैसे थीब्स में। एक देवता और उसके साथ दो देवियों की पूजा एलेफेंतिने में की जाती (जैसे गणेश और ऋद्धि-सिद्धि)। वैसे और बड़े परिवारवाले देवता भी थे, जैसे ओसिरिस में। एक स्थान के देवता, दूसरे स्थान पर जाकर दूसरे ही तरह के गुण व्यक्त करते थे। कभी-कभी सारे दैवी गुण एक देवता में जमा हो जाते थे। कहीं एक विशेष गुण किसी विशेष देवता में ही होता था।

इन देवताओं में एक बात ऐसी मिलती है कि दैवत-कल्पना करनेवाले मनुष्यों ने अपने ही गुणावगुणों का आरोप उनपर किया है। देवता चाहे मनुष्य, पशु, वानस्पतिक कोई रूप धारण करें, पर वे सदा मनुष्य की भावनाओं के ही प्रतीक होते थे। उदाहरण के लिए, इन देवताओं को भूख-प्यास अवश्य लगती थी। सो उन्हें नैवेद्य, प्रसाद, अर्घ्य अवश्य चढ़ाया जाता है। यहाँ तक कि पत्थरों के ऊँचे टुकड़े, जो सूर्य-देवता के प्रतीक थे, उन शिलास्तंभों को रोटी और यविरा (बीअर, शराब) अवश्य चढ़ाई जाती थी। देवताओं को एक निश्चित विधि के अनुसार क्रमशः कपड़े, गहने, धूप-गंध (दुष्ट

आत्माओं को दूर रखने के लिए) बराबर अर्पित किए जाते थे। देवताओं के आवास, मंदिर, पूजागृह आदि की व्यवस्था की जाती थी। साथ में देवताओं को प्रिय वृक्ष-कुंज, फलोद्यान, सरोवर, नौकाएँ, नौकर, दास आदि भी बराबर निश्चित रूप से समर्पित किए जाते थे।

इस सारे मनुष्य-देवता-संबंध में आदान-प्रदान का महत्त्व था। पूजा करनेवाला देवताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। और, देवता पुजारी को दैवी उपहार देता; जैसे सुख, स्वास्थ्य, समृद्धि, सफलता, विजय आदि। देवताओं पर उत्कीर्ण चित्रों—शिल्पों में देवता और राजा एक दूसरे के आमने-सामने यों खड़े हैं कि जैसे एक दूसरे की सहायता कर रहे हों। एक दूसरे को उपहार दे रहे हों। मृतकों के नाम के शिलालेखों में 'मृतकों के देवता को अमुक-अमुक चढ़ावा चढ़ाया गया' आदि उल्लेख होते हैं। यह देवता अपनी प्रसन्नता के लिए ये उपहार नहीं लेते। पर, उन्हें बड़े देवता 'का' का हुक्म होता है कि ये सब चीजें ग्रहण करके वह मृतकों को देते रहें। यदि कोई राजा या मनुष्य देवताओं की इच्छा-पूर्ति न करे, तो वह उसकी अवकृपा का पात्र बनता। बल्कि ऐसे राजा या मनुष्य पर ही नहीं, वरन् पूरे राज्य या देश पर देवता का कोप बरस सकता है। यदि देवता ने मदद नहीं पहुँचाई, तो फिर उसकी पूजा बंद कर दी जाती है। देवता अपनी कृपा या अवकृपा मित्र या शत्रुओं पर समृद्धि या विनाश के द्वारा व्यक्त करते हैं।

देवता अपना 'कौल' या आशीर्वाद नाना प्रकार से दिखाते थे : अमुक प्राणी या पक्षी पुजारी के पक्ष में जा रहा है या उससे दूर भाग रहा है ? उस भक्त या पुजारी से प्रसाद देवता ग्रहण कर रहा है या नहीं ग्रहण कर रहा है इत्यादि। पवित्र बैल अपना सिर हिलाए, तो उसका एक विशेष अर्थ होता था। कभी-कभी देवता सपने में आकर शब्द देते थे या कोई चमत्कार कर दिखाते और फिर उसका अर्थ लगाया जाता।

मिस्री देवता सिर्फ भूखे-प्यासे ही नहीं होते थे, उन्हें, सुख-दुःख, आनंद-शोक, भय, बीमारी, बुढ़ापा, मौत आदि की भी मनुष्यों की तरह भावनाएँ होती थीं। ये बातें पुराण-कथाओं या मिथकों में अधिक पाई जाती हैं। ये कथाएँ धर्म का एक भाग होती थीं। कुछ मंदिरों में ये कथाएँ अंकित हैं जैसे एदफू के पंखवाले सूर्यचक्र की कथा, या कब्रों की दीवारों पर हैं (मनुष्य-जाति के प्रलय के समय संहार की कहानी)। जादू की किताबों में

ऐसी कई गाथाएँ और कथाएँ मिलती हैं। एक देवता के जीवन से कहानी इस आशा से दी जाती है कि उसका दूसरे देवताओं पर असर हो। धीरे धीरे ये कहानियाँ धर्म का हिस्सा बन गईं। कुछ काव्यमय कल्पनाएँ थीं, जैसे यूनानी देवता-कथाओं में मिलती हैं और कुछ पुजारियों की अपनी कपोल-कल्पनाएँ भी।

सूर्यदेवता 'रा' में पूरे मानवीय गुण मिलते हैं। वह देवताओं का देवता माना जाता है। वह बूढ़ा हो जाता है। उसके मुँह से थूक या लार गिरती है। उसके अंग सोना, चाँदी और हीरे के बन गए हैं। वह विद्रोही देवताओं की क्रांति का दमन करता है। मनुष्यों की अवज्ञा देखकर वह 'सेचेत' नामक देवी को हुक्म देता है कि उनका नाश करे। फिर उसे पश्चाताप होता है। और, चतुराई से उस देवी को ही वह नष्ट कर डालता है। उसे साँप काटता है, जिससे उसे बेहद पीड़ा होती है। 'ईसिस' देवी उसे बचाती है। सूर्य-देवता को एक आँख में जख्म भी होता है। ओसिरिस को जब उसका विरोधी 'सेत' टुकड़े-टुकड़े करके मार डालता है, तब उसका पुत्र होरुस सिरदर्द और आंतरिक शारीरिक पीड़ा से व्यथित हो जाता है। होरुस को बिच्छू काटता है। सेचेत देवी बीअर (शराब) और रक्त का मिश्रण पीने से नशे में धुत्त हो जाती है। कुछ देवता यक्ष-किन्नरों की तरह गानेवालों की टोलियाँ बनाकर इस धरती पर घूमते हैं। (रा-हर्माचिस देवता अन्य कई देवताओं के साथ पृथ्वी पर आता है, अपने भक्तों को उपहार बाँटता है, जो अंततः उनके लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं।

एक देवता बीमार होने पर सहायता के लिए दूसरे देवता को बुलाया जाता है। ईसिस देवी जादू-टोने से सबको अच्छा कर देती है। उसे जादू आता है। मिस्र के धर्म में दैवी गुणों से श्रेष्ठतर जादू माना जाता था। पाँचवीं-छठी राजवंशावलियों के 'पिरामिड' बनाने के जो वृत्तांत मिलते हैं, उनमें मृतकों को मृत्यु के बाद अमर आनंदमय जीवन व्यतीत करने के जादूई नुस्खे या सिद्धांत दिए हुए हैं। मध्य और नए राज्यकाल की जो 'मृतक-पुस्तकें' (बुक्स ऑव दि डेड) पाई जाती हैं, उनमें और अन्य प्राचीन कागजों में जादूवाले टोटके बहुत मिलते हैं। सारे रोग राक्षसों के कारण होते थे। अतः, उनका सही इलाज, सही जादूई मंत्र पा जाना है। मिस्र में धीरे-धीरे 'चेर-हेब' नामक जादूविद्या-पारंगत व्यक्ति, जिन्हें ये मंत्र याद थे, या जिसके पास यह पुस्तक

होती, बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माना गया। इसलिए, हर मिस्री के लिए 'मा चेर' होना, सही जादू-मंत्र सही ढंग से उच्चारण कर सकनेवाला होना, बहुत आवश्यक था। इसी विश्वास के कारण तावीजों का पंथ चल पड़ा। कुछ खास चीजें पहनने पर देवता प्रसन्न होते थे; बुरे भूत-प्रेत दूर भागते थे। पंखवाला सूर्य-चक्र, बैल का सिर, बेस-मुखोश, उते'आ की आँख इत्यादि ऐसे पवित्र चिह्न थे। जादू-मंत्र और टोने-टोटकों को देवता की शक्ति से सदा बढ़कर माना जाता था।

देवताओं को प्रसन्न करने की भी विविध विधियाँ मिस्र में विस्तार से दी गई हैं। हर दिशा के अपने देवता थे। छोटे और बड़े देवताओं को क्या-क्या चढ़ाया जाए, यह निश्चित विधान था। देवताओं में कुछ विनयपत्रिकाओं या प्रार्थनापत्रों को सुननेवाले देवता थे। मेंफिस के एक देवालय के ओसारे में अनेक 'कान' के आकार बने हुए हैं। ये सुननेवाले देवता थे, यानी श्रोता देवता। एक ही देवता के अनेक कान दिखाए गए हैं। एक विशेष शक्तिशाली देवता की ७७ आँखें और उतने ही कान थे। एक और प्रार्थना में कहा गया है—'हे देवता ! जब तुम अपने प्रासाद में सोते हो, तब सबकी प्रार्थनाएँ सुनते हो; क्योंकि तुम्हारे असंख्य कान हैं !" इससे ठीक विपरीत, यूनानी देवता थे। क्रीट में जिउस की जो प्रतिमा बनी है, उसे कान ही नहीं हैं; क्योंकि जो सब प्राणियों का स्वामी है, उसके लिए यह उचित थोड़े ही है कि वह हर ऐरे-गैरे की बातें सुने।

यह भी तर्क किया जाता है कि यह दैवत-कल्पना उन नीचे तबके के, गरीब-पीड़ित लोगों की है; जो बेचारे दास्य-भक्ति में ही आनंद पाते थे। वे देवता पर अपना क्या जोर चलाते ? उनके लिए तो बस प्रार्थना करना ही मुख्य धर्म था। उनका काम सिर्फ विनयपूर्वक अर्जी भेजना था। ऊपर की शक्तियाँ चाहे सुनें, चाहे न सुनें। इसलिए, इन छोटे-छोटे लोगों के छोटे-छोटे देवता होते थे। बड़े देवता तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती थी। ये देवता स्तुतिप्रिय थे, या खुशामद पसंद करते थे, यह भी इससे सिद्ध होता है।

इस प्रकार से मिस्र में देवी-देवताओं की कल्पना आदिवासी या वन्य जातियों की कल्पना से अधिक विकसित रूप नहीं ले सकी। कभी-कभी कहीं एकेश्वरवाद की या अधिक सुसंस्कृत प्रार्थनाओं, भजनों की झलक मिल भी जाती है, तो पुनः जादू-मंत्र, टोने टोटकेवाला आदिम विश्वास उसे दबोच लेता है। सर्वत्र

मनुष्य और देवता का संबंध परस्पर-निर्भरता का है। दोनों एक तरह से समान हैं।

यूनान में बहुत प्राचीन काल में बहुदेवतावाद मिलता है। आरंभिक जमातें जो शिकार, चरागाह या आदिम कृषि के सहारे जीती थीं, वे अवश्य किसी अपने से ऊपरवाली शक्ति में विश्वास करती रही होंगी। वन्य पशु, पालतू पशु, ऋतु, सूर्य-चंद्र, नदियाँ, हवा, पानी, वर्षा, ये सब उसके विलक्षण महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ रही होंगी। उन्हीं में से प्रिय मित्र और भयानक शत्रु-शक्तियों की भावनाओं का उदय हुआ होगा। हो सकता है कि आदिम धर्म मूलतः और मुख्यतः भय की उपज रहा हो।

प्रत्येक कबीले या जमात का एक वंश-देवता होता था। जो अब अदृश्य हो गया है, पर जिसके आशीर्वाद से सारी सुरक्षा, सुख, समृद्धि, सफलता संभव है। मृत-पूजा का भी विधान इसी तरह से धीरे-धीरे बढ़ा होगा। हो सकता है कि बाहर से आए और बसे हुए लोग मूल निवासियों की पृथ्वी-पूजा, पर्जन्य-पूजा आदि से प्रभावित हुए हों। आर्यों ने जिस प्रकार से आकाश के मेघ गर्जन करनेवाले द्यौस् (यूनानी जिउस) की कल्पना की, दोदोना के जंगल में रहनेवाली शक्ति को यूनानियों ने जिउस मान लिया हो और उसकी स्त्री दिओने कहलाई। अपोलो सूर्य-देवता बना, जो सबकी सुरक्षा करता था। ॲथेने बिजली की देवी बनी। आर्टेमिस, हेरा और डेमेटेर देवियों के नाम शायद पुराने देवताओं से लिए गए हों। आरेस थ्रेशियन देवता था। डायोनीशियस अर्द्ध-थ्रेशन, अर्द्ध-क्रीटन था।

आर्य अपने साथ में अपनी पितृसत्तात्मक पद्धति लाए होंगे, जिसमें वंश के पितरों की पूजा प्रधान थी। प्रत्येक परिवार की अपनी पूजा-पद्धति थी, जो धीरे-धीरे पूरी जमात की पद्धति बन गई। धीरे-धीरे जमातों के अपने देवता एकत्र होकर देव-मालिका उपस्थित हो गई। ये जमातें नगरों में बसने लगीं, हर स्थान का महत्त्व बढ़ा और उसके साथ-साथ उस स्थान-देवता का भी। एक ही देवता के अलग अलग स्थानों में अलग-अलग 'महातम' या गुण थे। इनकी पूजाविधियों में पुराणकथाएँ भी बढ़ती गईं। जब यूनानी पुजारियों से पूछा जाता—आप इस तरह की उपासना क्यों करते हैं, तब उनके पास अनेक उत्तर तैयार थे। कवि-कल्पना ने भी इसमें खूब योग

प्रधान होने लगे, जैसे आर्टेमिस का धनुष प्रसिद्ध था। कलाकार मूर्त्ति में भव्यता, विशालता, भयोत्पादकता भरने लगा। चौथी शती ईसा-पूर्व तक मूर्त्तियों में मानवी और दैवी का अंतर स्पष्ट है। यानी, अनेक देवताओं की कल्पना के पीछे यूनानियों ने 'एक कोई ऊँची और गहरी ईश्वर-कल्पना' भी कर ली थी। यही शक्ति मानवी जीवन को सब प्रकार से शासित करती थी।

मिस्र और पूर्व के धर्मों के प्रभाव भी पूजा-पद्धतियों में आन जुड़े। और यूनान ने अपना प्रकृति-पूजा का धर्म विकसित किया। जीवन मरण से बँधा है। फिर भी प्रकृति में कुछ तत्त्व ऐसे हैं, जो पुनर्जीवित होते रहते हैं। वे ही प्रपूज्य हैं। अब इसमें प्रजनन-प्रक्रिया भी उदात्त तत्त्वों के साथ सम्मिश्रित हो गई। नग्न सौंदर्य की पूजा का भाव पवित्र माना गया। प्रकृति का जीवन मुक्त है। वह परिवार समाज के आरोपित बंधनों से परे है। वैसी ही देवी-देवताओं की मुक्त प्रणय की कहानियाँ प्रचलित होने लगीं। इस सारे विनाश और नित्य-क्षय में निरंतर पुनरुद्भव करनेवाली शक्ति यौन है। वही अंततः पूजा का विषय है। पहले बंदरगाहों में, और बाद में नगरों में यह पूजा-विधियाँ लोकप्रिय बनीं। अति-शृंगार से अति-संयम, प्रतिक्रिया के रूप में प्रचारित होने लगा।

अॅडोनिस (कामदेव) की पूजा स्त्रियों के लिए प्रधान हुई। डायोनीशियस का उन्मुक्त जीवनानंद अॅथेन्स वालों का परम प्रिय धर्म था। नाटक द्वारा वह संयम में रखा गया। देवता दुःखी होने लगा, मरने लगा, पुनर्जीवित होने लगा। इसमें शोक-नाट्य भी धर्म का अंग बन गया। धीरे-धीरे साहित्य, काव्य, नाटक और कला का स्थान दर्शन लेने लगा। पहले दार्शनिक जन-सामान्य से दूर रहते थे। क्जेनोफेनीस देवताओं को मानव-रूप देने के विरुद्ध था। हेराक्लाइटस को बलि की प्रथा पसंद नहीं थी। इन यूनानी दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से 'ईश्वर'-तत्त्व की खोज बराबर चालू रखी: हेराक्लाइटस का 'परिवर्तन का सिद्धांत', पारमेनाइडिस का 'पूर्ण गोल', अॅनेक्जेगोरस का 'विचार', पायथॅगोरस का 'संख्या-तत्त्व' ये सब उसी परम-तत्त्व के विविध रूप थे। अब जनता के देवता-संबंधी विश्वास भी बदलते जा रहे थे। बजाय विविध मंदिरों के एक 'समान बलिवेदी' बन गई, जिसपर आठ या बारह प्रमुख देवता बुलाए जाते। हेरोडोटस इतिहासकार था, जिसने

ईश्वर को मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों रूपों में एक साथ माना। देवता क्रूर थे, यह भी माना जाने लगा। यूनान फारस की छाया में जी रहा था। एक प्रकार का निराशावाद यूनानी देवता तत्त्व में घुस आया। धीरे-धीरे ईश्वर के बदले नियति की तीन अंधी देवियाँ भी प्रमुख होने लगीं। होमर में देवताओं की लीलाएँ ऐसी थीं कि अमरता की आशा कम थी। कवि पिंडार में वह अमरता की तृष्णा बराबर उभरने लगी। पिंडार देवताओं के नाम पर ऐसी कहानियाँ मानने को तैयार नहीं था, जो उन्हें दुराचारी सिद्ध करतीं।

पाँचवीं शती ईसा-पूर्व के बाद ईस्खिलुस ने, मानवी विषमताओं और विरोध और संघर्ष में देवता समन्वय और शांति लाते हैं, ऐसी कल्पना प्रस्तुत की। वे ही सच्चे न्यायदाता हैं। ईस्खिलुस देवता और पाताल की शक्तियों में लड़ाई भी दिखाता है। मिथक से वह भी पूरी तरह मुक्त नहीं है, परंतु वह अपोलो को जिउस का हस्तक दिखाता है। सोफोक्लीस में न्याय के साथ-साथ जिउस जैसे देवता की अतर्क्य इच्छा की बात भी मिल जाती है। वही संसार की सब अज्ञेय और अचित्य रहस्य-घटनाओं का कर्त्ता है। युरीपिडीस में भी निराशावाद और दुःखवाद है, परंतु सज्जन सदा अंततः विजयी होता है, यह सूक्ष्म आस्था भी वहाँ है। थ्युसिडाइडीस पेलोपोनेशियन युद्धों का वर्णन करता है। और, धीरे-धीरे मनुष्य के जीवन के उतार-चढ़ाव का निर्माता वह स्वयं है। दैवी संकल्प और मध्यस्थता कम ही काम आती है, ऐसा यूनानी मानने लगते हैं। आगे जो शोकांतिकाएं यूनानी साहित्य में मिलती हैं, उनमें ईश्वर काल-वाचक बन जाता है। गरीबी भी एक देवी बन जाती है। सफलता या कीर्त्ति भी देवी है और हेसॉइड तो अफवाह या देवी दुष्कीर्त्ति को भी मानता है। ॲरिस्टॉफीनीस तो डायोनीशियस और अन्य देवताओं का खासा मजाक अपने प्रहसनों में उड़ाता है।

सुकरात सत्य को ही ईश्वर मानता है। हेरोडोटस की तरह सुकरात भी पुरानी देवता-विषयक कहानियों को सच नहीं मानता। और, मनुष्य की संकल्प-शक्ति को स्वतंत्र मानता है। जो चीजें मनुष्य के हाथ की हैं, उन्हें देवता पर लादना व्यर्थ है। अफलातून या प्लेटो कहीं 'ईश्वर' को अ-प्राकृतिक या अ-सहज मनुष्य के रूप में कल्पना करता है; और दूसरी तरह आकाशस्थ देवताओं को सच मानता है। ईश्वर, प्लेटो के अनुसार, शिवम् है। वह कभी कोई बुराई कर ही नहीं सकता। प्रोटेगोरस की तरह ईश्वर को वह सत्य का मानदंड

मानता है। ईश्वर यदि मनुष्य को सजा भी देता है, तो उसे बेहतर बनाने के लिए। ईश्वर राग-द्वेष से परे है। वह अपनी ही प्रतिभा मानव के रूप में बनाना चाहता है। दुनिया जो चलती है, वह संयोग से नहीं, पर ईश्वरेच्छा से। ईश्वर वह ॲटलास है, जिसके कंधों पर दुनिया टिकी है। तारे भी अपनी गति से नहीं, ईश्वर के गणित के अनुसार चलते हैं। यहां एकेश्वर-वाद के स्पष्ट दर्शन होते हैं। प्लेटो विधि-विधान, धार्मिक उपासना-पद्धति के विषय में अधिक बात नहीं करता। आदर्श राजा भी दार्शनिक और ईश्वर का प्रतिनिधि होगा। अरस्तू के अनुसार, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति के क्षेत्र असंबद्ध नहीं, पर अलग-अलग हैं। कर्म-विपाक मनुष्य के हाथों हैं; पर शुद्ध चिंतन का क्षेत्र ईश्वर का है। ईश्वर ही सब कुछ चलाता है, पर वह स्वयं अचल है। वह विचारों का विचार है। इस प्रकार के अध्यात्मचिंतन में ईसाई-मत के बीज मिलते हैं। दैवी स्वभाव ही सर्वत्र व्याप्त है। इमर्सन ने जो कहा था कि 'ईश्वर वह वर्तुल है, जिसका केंद्र सब जगह है और व्यास कहीं नहीं है', यहाँ अरस्तू की कल्पना से मिलनेवाली ईश्वर-धारणा है। ईश्वर ही आदिकारण है और वही विश्व का अंतिम उद्देश्य भी है। सारी प्रकृति में वही समाया हुआ है। वही निमित्तकारण और वही नित्यकारण भी है। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् सबका अंतिम विधान वही ईश्वर-तत्त्व है।

अब यूनानी चिंताधारा एपिक्यूरस और स्तोइक दो विचारधाराओं में बँट जाती है। दिमाक्रितु ने भौतिक विज्ञान द्वारा प्रथम चिंताधारा की पुष्टि की और कहा कि ईश्वर यदि संपूर्ण और सच्चिदानंद है, तो उसे मनुष्य के सुख-दुःख से क्या लेना-देना है। अतः, चार्वाक की तरह 'खाओ पीओ, मौज करो' एपिक्यूरियन सिद्धांत बना। भौतिक आनंदवाद, जिसका ईश्वर से कोई संबंध नहीं है। इससे उलटे स्तोइक लोग हेराक्लाइटस के परिवर्त्तन-सिद्धांत को माननेवाले थे। उन्होंने मनुष्य के मन और संकल्प के भीतर ईश्वरेच्छा को प्रधान माना। अतः, वे आत्मसंयम का प्रचार करने लगे। ईसा की प्रथम शती तक आते-आते मिस्र और ईरान के धर्मों का यूनान पर इतना प्रभाव पड़ा कि प्लूटार्क में एकेश्वरवाद (अफलातून का मत) और बहुदेवतावाद के द्वंद्व का एक प्रकार से समाहार मिलता है। वह लिखता है कि 'मिस्र का धर्म मिट नहीं सकता। वह देवियों को ईसिस और ओसिरिस की कहानियाँ सुनाता है। लिखता है कि मगर की पूजा करनी चाहिए। चूँकि मगर में

यह शक्ति है कि वह सबको देखता है, जब उसे कोई नहीं देख पाता। यह ईश्वर जैसी ही शक्ति नहीं, तो क्या है ?' वह अफलातून की तरह देवता और दानव का अंतर भी मानता है। यह ठीक वैसी ही बात है, जैसे आरंभिक ईसाइयों से संत पॉल ने कहा था—'वे ही लोग अनेक देवता पूजते हैं। वे देवता नहीं दानव हैं। हम सच्चे धार्मिक हैं; क्योंकि हम एक ईश्वर मानते हैं।'

ट्यूटानिक (इंडोजर्मेनिक) भाषाओं में ईश्वरवाचक शब्द पहले नपुंसक था। ईसाई प्रभाव में आने पर पुल्लिग बना। 'गोथिक' गुप, प्राचीन उच्च जर्मन 'गॉट', प्राचीन सॅक्सन 'गॉड' आदि का आरंभिक अर्थ था प्रतिमा या मूर्त्ति। जैसे जर्मन शब्द 'गॉत्जे' (मूर्त्ति) था। यह माना जाता था कि उच्च ईश्वरी अंश मूर्त्ति में ही बसता हो।

ट्यूटॉन लोग ईसाई-धर्म के प्रचार से पहले चार मनुष्यप्राय देवताओं को मानते थे। एक था 'वूआनाज्'—मृतकों और हवाओं का देवता; 'पोनाराज्'—तूफानी गरज और आकाश का देवता; 'तीवाज्'—युद्ध का देवता। इन सबके साथ एक 'फ्रिआ' या 'फ्रिग' नाम से देवी भी होती थी, जिसका अर्थ था प्रिया या पत्नी। वह 'वोदान' की पत्नी थी, जो मंगल का रूप था। नार्वे में भूतों की एक सेना में विश्वास था, जिसे आसगार्द का शिकार माना जाता था, वहाँ भूत-प्रेतों का बड़ा महादेव भूतनाथ 'वोदान' माना जाता था। उसे जीवन-मरण का स्वामी माना जाता। उसमें सब आत्माओंवाले गुण हैं। वह निर्मम है, वह मनुष्यों का प्राणहरण कर लेता है। वह हवा से भी अधिक चपलता से भागनेवाला है। वह जब चाहे, किसी भी प्राणी या मनुष्य का रूप धारण कर लेता है। उत्तर-पश्चिमी जर्मनी में कई ट्यूटानिक प्रजातियों द्वारा इसकी पूजा की जाती थी। वह धीरे-धीरे युद्ध-देवता और अंत में आकाश-देवता बन गया। जब ॲंग्लो-सॅक्सन लोगों ने ब्रिटेन पर कब्जा किया, तब इसी की पूजा की जाती थी। लैंगोबार्ड उसे युद्ध-देवता मानते थे। वहीं से यह पंथ डेनमार्क होता हुआ स्कैंडेनेविया पहुँचा। वह धीरे-धीरे 'थोर'-पंथ कहलाया। वह कवियों का देवता बना। वही प्राचीन पितरों का देवता 'असास' (कवीनामुशना कविः।—भगवद्गीता) बन गया। वह वलहोल नामक वीरभूमि का स्वामी हो गया। वालकीर उसके दास हुए। युद्धभूमि में जो वीर मर जाते, वे उसी के पास पहुँचाए जाने लगे। वह कई रूप बदल लेता था: कभी पशु बन जाए, कभी मनुष्याकार। वह जादू-टोने-मंत्रों

का अधिष्ठाता था। हवा के रूप में होने से वह चंचल कामदेवता बनकर शृंगार-चेष्टाएँ करता। वह अनंग था। उसे कवियों की प्रतिभा का पता चल जाता। यह शक्ति एक विशेष प्रकार के सोमरस के पान से उसमें आई। यह सोम उसने राक्षसों से सर्प बनकर चुराया था। जो कवि बनते हैं, उन्हें वह इस रस की बूँदें छकाता है।

'वोदान-इहन' यह देवता एक लंबी सफेद दाढीवाला बुड्ढा है। इसलिए, उसे 'हारबोरॉर' कहते हैं। उसे एक ही आँख है, जैसे अन्य मिथकों में मानव-भक्षी राक्षसों की होती है। वह एक ऐसी ढीली टोपी पहनता है, जो उसका आधा चेहरा ढकती है, इसलिए वह 'सियोहोत्र' कहलाता है। वह एक अविश्रांत पथिक है (वायोटोर इंडेफेस्सस), उसके घोड़े स्लाइप्निर की आठ टाँगे हैं, उनके सहारे वह हवा से तेज भागता है। वह पूरा कवच पहने युद्ध-देवता की तरह प्रकट होता है। उसके सिर पर लोहे का टोप है, और हाथ में 'गुंगनीर' भाला है। उसके साथ दो भेड़िये होते हैं—गेरी (लोभी) और फ्रेकी (बुभुक्षित)। उसके दो कौए हैं, जो संदेश देते-लाते रहते हैं : ह्यूगिन (विचार) और म्यूनिन (स्मृति)। थोर और बाल्डेर उसके पुत्र हैं।

दूसरा देवता 'दोनार-थोर' है। वह नार्वेवासियों का देवता है। वह गर्जन-स्वामी है। उसके हाथ में वज्र होता है। वह परम-शक्तिमान्, पहलवान और लाल दाढीवाला है। वह अपना शस्त्र पृथ्वी पर दे मारता है, जिससे पृथ्वी धान्यसंपन्न होती है। वह हवा में दो बकरों द्वारा चलाए जानेवाले रथ पर बैठता है। उसके हाथ में एक हथौड़ा होता है, जिसे 'म्योलनीर' कहते हैं। उसका ऐसा जादूई कमरबंद है कि ज्यों-ज्यों वह गुस्सा होता है, उसकी शक्ति बढ़ती है। उसके हथौड़े से मानवों के बीच में विवाहों को वह आशीर्वाद देता है। उसके पुत्र हैं माग्नी (शक्ति) और मूई (धैर्य); पुत्री है 'थ्रुओर' (बलवती)। वह शक्ति-देश में रहता है। नार्वे और आइसलैंड के किसान उसे अपना प्रमुख देवता मानते हैं। वह सब राक्षसों को हराता है। धन-धान्य से भूमि को समृद्ध बनाता है।

तीसरा देवता 'त्यु-तीर' पश्चिमी ट्यूटान जातियों में युद्ध-देवता के नाते प्रसिद्ध है। बटाविया के सिपाही उसके नाम से बलिवेदियाँ अर्पित करते हैं। सैक्सनों में वह 'सहस्नॉत' कहलाता था। उसका अस्त्र है तलवार। उसे एक ही हाथ है।

इनके अतिरिक्त कई स्थानिक देवी-देवता भी पूजे जाते थे। छोटे देवताओं में 'फ्रे' नामक जहाजियों का एक देवता था। प्रकाशदाता देवता होल्डेर या बाल्डेर भी पूजा जाता था। वैसे ही हाईमडाल्र' सर्व-कांतिमान् देवता था।

प्राचीन ईरान में ईश्वर-कल्पना के कोई प्रमाण नहीं मिलते। हेरोडोटस के अनुसार, पाँचवीं शती ईसा-पूर्व में पारसीक पर्वतों पर चढ़कर खड़े हो जाते और 'जिउस' नाम से आकाश के ग्रहगोलों की पूजा करते। उन्हें वलि चढ़ाते। प्रकृति के महान् तत्त्वों की पूजा ही उनकी मुख्य धर्मभावना थी। इन भारतीय-ईरानी लोगों में वैसे ही विश्वास पाए जाते हैं, जैसे सिंधु नदी के किनारे के भारतीयों में या आर्यों में। वे भी प्रकृति की महाशक्तियों के आराधक थे। इनमें एक सामान्य पूजा-विषय था—संस्कृत असुर (आवेस्तन भाषा में 'अहुर')। दूसरा था संस्कृत देव, (आवेस्तन दैव)– दूसरा शब्द द्यौस् (आकाशीय) से आया था। इस तरह से अकाश की पूजा का जो उल्लेख हेरोडोटस करता है, वह सही है। इसी को भारतीय शब्दों में 'वरुण' कहते हैं। स्पीगेल के अनुसार, आकाश के निर्माता 'त्वाश' थे (वैदिक त्वष्टा ?) बाद में आधुनिक फारसी में वह 'सिपिहिर' हो गया। ईरानी लोग सूर्य और चंद्र की पूजा करते थे। भारतीय उसे 'सूर्य' और 'मास' कहते थे। आवेस्तन में वही 'ह्वार' और 'माह' (फारसी में मास, चंद्र) कहते थे। एक और नाम सूर्य का आवेस्तन में मिथ्रा (मिहिर) और संस्कृत में 'मित्र' था। वैदिक आर्य द्यावापृथिवी की पूजा करते थे। पर, ईरान में पृथिवी-वाचक कोई शब्द नहीं मिलता। हेरोडोटस कहता है कि सिथियन—ईरानियों की एक शाखा—जिउस की पत्नी पृथिवी को मानता था। ईरानियों में पृथिवी-देवता का 'अरमैती' नाम मिलता है।

ईरानी लोग अग्नि और पानी की भी पूजा करते थे। उसे वलि चढ़ाते थे। ईरानी लोग अग्नि को 'आतर' कहते थे (बाद में फारसी आतिश)। बाद में वज्र या इंद्र की पूजा की तरह ईरानी लोग 'अपाम नपात' (पानी के पुत्र, या अग्नि, जो पानी के भीतर रहती है) की पूजा करते हैं। आवेस्ता में, 'यश्त १९' में उस देवता को मनुष्य का निर्माता कहा गया है। वैदिक 'वायु' की तरह ईरानी 'वायु' देवता की पूजा करते थे। ईरानी देवी-देवताओं में 'हाओम' (वैदिक सोम) भी एक महत्त्वपूर्ण देवी थी। यह एक ऐसी वनस्पति थी, जिसके रस से मनुष्य अमर हो जाता था। उत्तर आवेस्तन

धर्म में 'फ़्रवशी' (पितृ-पूजा) की आराधना का विधान है। यह भी एक विचारणीय विषय है कि भारत में देव और असुरों में जो संग्राम बाद में हुआ, वैसे ईरान में भी अहुर और दैवों में कोई विरोध पहले से था या नहीं? ईरान में अहुर को श्रेष्ठतर मानते थे। उनमें एक 'अहुर मज्दा' (सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवाला देवता) माना गया। ईसा-पूर्व दो हजार वर्षों के समय से ईरान में इसके प्रति आस्था थी।

जरथुस्त्र ने इस प्रकार से कोई नया धर्म लोगों को नहीं दिया। पर, जनता में जो विश्वास थे, उन्हीं को व्यवस्थित रूप दिया, ऐसी कुछ इतिहास-कारों की मान्यता है। जरथुस्त्र की गाथा में 'ईश्वर' का स्वरूप कैसा है? वह परम ईश्वर है। गाथा का यह 'मज्दा' सारे स्वर्ग और आकाश को ओढ़ता है, और अग्निशिखाओं से अपने-आपको ढकता है। वह मूलतः 'मैन्यु' (आत्मतत्त्व) है।

वह 'स्पेंता' है, यानी वह दयालु और पवित्र है। वह सारी सृष्टि का कर्त्ता है। उसने केवल प्रकाश नहीं बनाया, अँधेरा भी निर्मित किया, उसने केवल प्रभात और दोपहरी नहीं बनाई, मध्यरात्रि भी बनाई। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वस्थ, सर्वदर्शी स्वामी है। उसे कोई धोखा नहीं दे सकता। वह अमर है, अपरिवर्त्तनीय है। परंतु, वह सर्वशक्तिमान् नहीं है। अहुर मज्दा की भाँति एक और शक्ति है, जो संतों को दुःख देती है, जो पापात्मा है। 'आंग्रा मैन्यु' या 'अका माना' नामक यह शैतानी शक्ति एकदम नकारात्मक है। वह मज्दा से बिलकुल उलटी है। आहुर मज्दा के छह गुण इस काली शक्ति के पार्श्व-भूमि में और चमक उठते हैं।

मज्दा के छह गुणों का इतना वर्णन गाथा में नहीं मिलता, जितना कि उसकी कृपा कैसे प्राप्त की जाए, यह प्रार्थना-स्वर गाथाओं में अधिक है। दो गुण मज्दा के बराबर दुहराए गए हैं। वह 'वोहु मना' है, यानी सर्वोत्तम मन या आत्मा है। और, वह 'आशा वहिश्ट' है, यानी वह पूर्णता और पुण्य का भांडार है। मनुष्य उसी की पूजा करने से सच्ची अच्छाई और पूर्णता का अंश पा सकता है। उस मज्दा को 'क्शत्र वैर्य' (शक्ति, वीर्य) भी कहा गया है। गुण का अर्थ है कि उसी की शक्ति से सब कुछ होता है। वही परम शक्तिमान् है। चौथा गुण है 'आरमैती' (पवित्रता या भक्ति)—वह संतों के मन में यह गुण पैदा करता है। मज्दा की दया और न्यायशीलता का ही वह

प्रतिबिंब है। अंतिम दो गुण साथ-साथ कहे जाते हैं 'होर्वतात' (स्वास्थ्य, सौख्य) और 'अमेरेतात' (अमरता)—उनका अर्थ है वर्तमान और भविष्यत् में संपूर्ण सुरक्षा और मुक्ति। यह है संक्षेप में गाथा के ईश्वर-तत्त्व का सारांश। मज्दा को पाने के लिए सत्य, शुचिता, केवल आचार और उच्चार में नहीं, विचार और भावना में भी आवश्यक है।

अग्नि-पूजा यद्यपि आरंभिक ईरानी लोगों में प्रचलित थी, अहुर मज्दा उसका आध्यात्मिक अर्थ भी था। दोनों में कोई विरोध नहीं था। धीरे धीरे उपर्युक्त छह अमूर्त गुणों के देवता भी बना दिए गए और उनकी पूजा की जाने लगी। प्रत्येक देवता का एक विशेष स्थान था। स्त्राबो के अनुसार, ओमानुस का एक मंदिर था, जिसमें देवता की एक लकड़ी की प्रतिमा की शोभायात्रा निकाली जाती थी। पवित्र अग्नि के मंदिर भी बने। अहुर मज्दा के साथ-साथ यजता नामक देवताओं की पूजा होने लगी। प्लूटार्क ने ऐसे चौबीस देवताओं का उल्लेख किया है। उनमें सबसे प्रमुख मिथ्रा (मित्र) था। इस देवता के साथ-साथ अनाहित या अर्द्वीसूर अनाहित नामक देवी की पूजा भी की जाने लगी। आवेस्ता के धर्म से बाद के आकेमेनियन शिलालेखों का धर्म कई बातों में भिन्न जान पड़ता है। गाथा में मज्दा अहुर एकमात्र ईश्वर है। उसे सहायता के लिए, मुक्ति के लिए, आशीर्वाद के लिए, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से बुलाया जाता है। इसी अर्थ की प्रार्थनाएँ हैं। परंतु परवर्ती धर्म में अनेक देवी-देवताओं की पूजा है। 'मिथ्रा' भी अहुर द्वारा निर्मित है, 'अनाहित' भी। अब बाद में कई वंश देवता भी जोड़े गए हैं। अहुर मज्दा को देवाधिदेव कहा गया है, फिर भी उसके साथ अन्य देवताओं के नाम जोड़े जाते हैं। कई नई मूर्तियों के निर्माण का भी वर्णन आता है। "सबसे बड़ा देवता (बागा वजर्का) आहूरमज्दा है, जिसने पृथ्वी बनाई, आकाश बनाया, मनुष्य बनाया, सुख और शांति (शियाति) मनुष्यों को दी, जिसने डेरियस को राजा बनाया।' डेरियस के स्थान पर क्जेजेस या आतक्जिर्जेस आदि नाम ऐसे शिलालेखों में आते हैं।

भारत में ईश्वर या देवता की कल्पना के विकास का विचार वेदों से आरंभ होता है। ऋग्वेद में द्यौस्, मरुत, इंद्र, अग्नि आदि के स्तोत्र मिलते हैं। ये सब प्रकृति के महत्तत्वों के दैवीकरण हैं। बाद की ऋचाओं में अदिति, प्रजापति, हिरण्यगर्भ जैसी अमूर्त्त कल्पनाओं के मूर्त्तीकरण मिलते हैं। अब

इनमें रहस्यमयता भी, भव्यता और उदात्तता के साथ-साथ समाविष्ट होती है। उपासक का उपास्य के प्रति संबंध भी बदलता जाता है। वह अपने समान देवता को नहीं मानता। रिक्त हस्त से वह देवी-देवता के पास नहीं जा सकता। प्रत्येक देवता के अनुरूप उसके लिए बलि और दान का विधान है।

वैदिक देवता दयामय हैं, मंगलकारी हैं। उनमें किसी भी प्रकार की निर्ममता या क्रूरता (यूनानी देवताओं की तरह) नहीं। राक्षस या असुर इन देवताओं से निरंतर संग्राम करते रहते हैं, यानी नैतिक दृष्टि से देवता श्रेष्ठतम हैं। वे सर्वव्यापी हैं, फिर भी मनुष्यों के लिए अवतरण भी करते हैं। कहीं-कहीं इनकी पूजा पशु-पक्षियों के रूप में भी की जाती है; जैसे मत्स्य, कच्छप, वाराह, नरसिंह आदि रूपों में। पर, यह बाद के रूप हैं। कहीं-कहीं ये देवता श्रेष्ठ सम्राट् या चक्रवर्ती राजाओं के रूप हैं; जैसे राम। हो सकता है, ऐतिहासिक विभूतियों ने पौराणिक रूप ग्रहण कर लिया हो।

वैदिक धर्म में प्राकृतिक शक्तियों के दैवत-रूप सर्वश्रेष्ठ, सर्वशक्तिमान् माने जाते हैं। विश्वदेव के रूप में यज्ञ की अग्नि को माना जाता है। प्रत्येक ऋषि या कवि एक-एक देवता का गुणगान करते समय उसको सर्वश्रेष्ठ मानता है। उस ऋचा को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि यही देवता अद्वितीय, अप्रतिम और सर्वश्रेष्ठ है। फिर, वही विशेषण अन्य ऋचाओं में अन्य देवताओं के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। इसे 'हेनोथीइज्म' भी कहा गया है—यानी एक समय एक देवता को सर्वश्रेष्ठ मानना। अन्य देशों में इस प्रकार के बहुदेवतावाद की परिणति एकेश्वरवाद में हुई। पर, वैदिक आर्य इस प्रकार की तार्किक संगति को अपनी दैवतमाला में आवश्यक नहीं मानते। वे बहुदेवतावादी बने रहे। धीरे-धीरे वे प्रकृति की प्रत्येक शक्ति का दैवीकरण करने लगे।

ब्राह्मण-ग्रंथों के काल तक आते-आते देवताओं की उपासना-विधि का विधान बहुत विवरण के साथ विशद किया गया। यहाँ पुरोहितों की संस्था प्रधान हुई और पूजा-विधि की शुद्धि पर बल दिया जाने लगा। मिथक और कथा-पुराण, रूढ़ियाँ और संस्कार आरंभिक प्रत्यक्ष देवपूजा में जुटते गए। ग्राम-देवता, वंश-देवता भी उसमें जोड़े गए। देवी-देवताओं के कई प्रकार और कोटियाँ बन गईं। अब देवताओं को प्रसन्न करने के कई मंत्र

बने। प्रायश्चित्त और पाप से मुक्ति के लिए विविध देवताओं का आवाहन किया जाने लगा। जातिभेदानुसार देवताओं के भी अलग-अलग रूप बनाए गए। अब साधुओं, मुनियों और ऋषियों ने तपस् और साधना से आरण्यक ग्रंथ रचे और उसमें आत्मसंयम, देहदंडन, यमनियमादि की बहुत-सी परंपराएँ हिंदू-धर्म में घुस पड़ीं।

उपनिषदों में आकर ईश्वर की दार्शनिक व्याख्या का प्रयत्न बहुत ऊँचे पैमाने पर और उच्च स्तर पर किया गया। यहाँ ईश्वर या परमतत्त्व (ईशावास्योपनिषद् में इसका निचोड़ है) के स्वरूप और प्राप्ति के उपायों का मनन और विचार मिलता है। ऐसा लगता है कि उपनिषदों में एक लंबी अवधि के ऊहापोह, चिंतन, प्रश्न, विवेचन, कल्पना और अध्यात्म-विचार का सार-संग्रह है। यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों के चिंतकों का योगदान है। विदुषियों और जिन्हें किसी जाति का नहीं कहा जा सकता, ऐसे विचारकों का भी उपनिषदों की चिंताधारा में योग है: सत्यकाम जाबाल और सयुग्वा रैक्व की कथाएँ साक्षी हैं। उपनिषद् के समय से ही ज्ञानकांड और कर्मकांड के दो मार्ग अलग-अलग होते हैं, जो आगे चलकर पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा में प्रतिफलित हुए। हिंदू-धर्म की दैवत-कल्पना में धीरे-धीरे आदिवासी धर्मों के विश्वासों का भी समाहार हुआ। षड्दर्शनों ने सब प्रकार के विचारों को हिंदू-दर्शन में समन्वित करने का यत्न किया। यहाँतक कि बुद्ध को भी एक अवतार बना देने का कार्य हिंदू-दैवतमाला में मिलता है। आरंभ का मूर्त्तिपूजा-विरोधी आदि बौद्ध-धर्म स्थविरवाद या हीनयान वाद में हिंदू मूर्त्तिपूजा के प्रभाव में महायान में मूर्त्ति-पूजक बन गया। हिंदू दैवत-कल्पना का विस्तार से विचार आगे दिया गया है। भारत की विशेषता विविध प्रकार की ईश्वर-भावना के एक साथ सह-अस्तित्व और सहिष्णुता-उदारता से ग्रहण करने की सर्वधर्म-समभाव-वाली वृत्ति है। नाना नाम-रूपभेद के बाद हिंदू आस्तिक्य विलक्षण रूप से सर्वजनीन विश्वरूपात्मक और मानव और ईश्वर में अभेद सोचनेवाला रहा है।

सर जेम्स जॉर्ज फ्रेजर की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि गोल्डन बाऊ' में धर्म में जादूई तत्त्वों के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध है। धर्मों की आरंभिक अवस्था में ईश्वर और मनुष्य को एक-सा माना जाता था। इसलिए, कुछ मनुष्यों में

विशेष शक्तियाँ मान ली जाती थीं। इसलिए, सारी आदिवासी कथाओं में ईश्वर मनुष्य का रूप लेकर धरती पर आ जाता है, तो उसमें कुछ अजब नहीं लगता। वहाँ ईश्वर एक बड़े बाजीगर या जादूगर की तरह मान लिया जाता है। वह रोग दूर करता है, अंधों को दृष्टि देता है, पंगु को गिरि-उल्लंघन करा देता है। बहुत-सी तथाकथित असंस्कृत या वन्य जातियों के विश्वास सुसंस्कृत लोग नहीं समझ पाते। और, सुसंस्कृत व्यक्तियों की दैवत-कल्पना आदिवासियों के पल्ले नहीं पड़ती। इसलिए, जहाँ-जहाँ आदिवासियों का धर्म-परिवर्त्तन किया जाता है, वहाँ यह दो विचारधाराएँ सदा एकाकार होती हों, ऐसा नहीं देखा गया। प्रशांतसागर के द्वीपसमूहों में कुछ आदिवासियों में ईश्वर या देवता पुजारी के शरीर में आ जाते थे। फिर, पुजारी को ही देवता मान लिया जाता था। उसके शब्द को दैवी शब्द मान लिया जाता। हिंदूकुश में पवित्र सीडर वृक्ष की शाखाओं से अग्नि पैदा की जाती है और पुजारिन को धुँआ सूँघना पड़ता है। धीरे-धीरे उसमें देवता प्रवेश करते है और वह मंत्र-पाठ करने लगती है। लोग उसकी बात को दैवी वचन मानने लगते हैं। दक्षिण समुद्र के द्वीपों में एक एक व्यक्ति को देवता मान लिया जाता है। कभी-कभी राजा को ही ऐसा मनुष्य-देवता माना जाता रहा। दक्षिण-पूर्वी अफ्रिका में जिम्बाम या मुजिम्बस में ऐसा ही सम्राट्-देवता पूजा जाता था। मध्य अफ्रीका की बगांडा जाति यह मानती है कि न्यानजा झील किसी पुरुष या स्त्री में देवता-रूप ग्रहण करती है। बर्मा में बादोनसाचेन नामक राजा ने इसी तरह अपने-आपको बुद्ध मानकर प्रासाद और हरम छोड़कर एक बड़े विहार में शरण ली। परंतु, अन्य भिक्षुओं ने उसे देवता नहीं माना और उसे पुनः गृहस्थाश्रम में लौट आना पड़ा। स्याम के राजा को वहाँ की प्रजा ईश्वर मानती रही है। उनकी भाषा में राजा और ईश्वर एकार्थी शब्द हैं। टोड़ा जाति में भारत में एक दूध देनेवाला ग्वाला अपने-आपको ईश्वर समझता था। सिवा और ग्वालों के और कोई उसे छू नहीं सकता। उड़ीसा में एक जाति थी, जो रानी विक्टोरिया को भगवती देवी मानती थी। पंजाब में एक जाति निक्कल सेन की देवता की तरह पूजा करती थी—यह जनरल निकलसन थे। पूना के पास दस मील पर चिंचवड में गणपति का अवतार माननेवाले मोरोबा गोसांई का वंश सन् १६४० से १८१० ई० तक चलता रहा। सातवीं पीढ़ी में कोई पुत्र नहीं हुआ। फिर, एक उस गाड़ी को चलानेवाला मिल गया। इस

प्रकार से फ्रेजर ने सैकड़ों उदाहरण विश्व-भर से दिए हैं। ईसाइयों में भी ऐसे झूठे देवताओं की कमी नहीं रही है।

देवी-देवताओं के विवाह पर फ्रेजर एक पूरा अध्याय देते हैं। डायना देवी की यूनानी कथा, खाल्डिया के पुजारियों द्वारा बैबिलोन की सुंदरी कुमारी को चुनकर देवता को अर्पित करना, थीब्स में अम्मॉन के मंदिर में स्त्री का देवता की मूर्ति के साथ सोना, बंगाल में कुँआ खोदते समय जल-देवता से लकड़ी की देवता-प्रतिमा का विवाह, कृष्ण का तुलसी के वृक्ष के साथ विवाह, पेरू में एक चौदह वर्ष की कन्या का पत्थर की देवता-मूर्ति से विवाह; उरांव जाति में धरती देवी का सूर्यदेवता 'धर्मे' से विवाह-उत्सव, जब सालवृक्ष फलते हैं, तब पुजारी की पत्नी से विवाह कराके मनाया जाता है—ऐसी अनेक लोककथाएँ पाई जाती हैं, जहाँ देवता या देवी के साथ विवाह करके स्त्री या पुरुष आजीवन अविवाहित रहते हैं। मीराँ की कहानी कि उसने गिरिधर गोपाल से विवाह कर लिया, कोई विचित्र बात नहीं। दुनिया के धर्मों में अनंत उदाहरण इस प्रकार के हैं।

कई स्थानों में देवताओं के नाम बदल दिए जाते हैं; क्योंकि वे नाम लिए नहीं जाते। वे अतिपवित्र माने जाते हैं या जादूई अर्थ रखते हैं। डायोनिशियस की और अन्य कथाओं से पता चलता है कि कई देवताओं की मृत्यु होती है, फिर उनका पुनर्जन्म भी होता है। संक्षेप में, मनुष्य ने अपने ही जीवन के सुख-दु:ख, कष्ट-उल्लास आदि का अतिरंजित रूप देवी-देवताओं की कल्पना में आरोपित किया है। सभ्यता के इतिहास में ईश्वर-कल्पना का विकास हमें निम्नांकित दस रूपों में मिलता है :

१. अपने परिवेश की प्राकृतिक शक्तियों को ईश्वर बनाना।

२. अपने जीवन में या प्रकृति में घटित चमत्कारों का ईश्वरीकरण : ज्वालामुखी की पूजा, उल्कापात होने पर उस प्रस्तर की पूजा, गरम पानी के झरने की पूजा, ग्रहण में सूर्य या चंद्र की पूजा आदि।

३. जहाँ कोई रोग-मुक्ति या कष्ट से उद्धार होता है, वहाँ उस क्रिया को घटित करनेवाली शक्ति की पूजा।

४. अपने से बड़ी किसी भयावह वस्तु या प्राणी के प्रति आदर-भावना से उसका दैवतीकरण।

५. अपने शास्ता, राजा, सम्राट् या वीरपुरुष का दैवीकरण।

६. पुरोहित या धर्मगुरु को ईश्वर मानने की प्रवृत्ति।

७. अनेक छोटे-बड़े देवी-देवताओं की माला में सुसूत्रता पैदा करने के लिए एक महादेव की कल्पना।

८. यह महाशक्ति मातृरूपा होगी, इसलिए महासरस्वती, महालक्ष्मी, महापार्वती और महाकाली के रूप में पराशक्ति की पूजा।

९. देवाधिदेव की एक अमूर्त कल्पना—उसे ब्रह्म या ऋत या परमतत्त्व मानने की भावना।

१०. सब धर्मों के मूल में एक ही ईश्वर-तत्त्व अनुस्यूत है—विश्व में मानवमात्र की ऊहा, भावना, कल्पना एक-सी ही अवस्थाओं में से गुजरी है, यह मान्यता। तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन से इस प्रकार के सर्वधर्म-समभावना का विचार।

महात्मा गांधी अपनी प्रार्थना में सदा सब धर्मों के ग्रंथों से प्रार्थना के अंशों को रखते थे। और इस प्रकार, वे मानवमात्र की एकता के हामी थे।

सर्वधर्म-समभाव के कई उदाहरण विचारकों, धर्मग्रंथों और वचनों में मिलते हैं।

म्युरियल लेस्टर, गांधीजी की प्रमुख शिष्या ने भारत में सन् १९३९ ई० की जनवरी में यात्रा के दौरान कहा कि "विश्व की बहुत-सी समस्याएँ इसलिए हैं कि ईश्वर, जो कि विभिन्न राष्ट्रों को एकत्र और एकीकृत करनेवाली शक्ति थी, उसे लोगों ने भुला दिया है। विशेषतः, यूरोप में विश्वयुद्ध के आसार इसी कारण से हैं। लोग अपने एकांत और एकाकीपन से घबड़ा गए हैं और युद्धोन्माद में लग गए हैं।"

बर्नार्ड शॉ ने कहा था कि "संप्रति संसार अत्यंत दिग्भ्रांत अवस्था में है। विज्ञान और धर्म-दर्शन के समन्वय के बिना कोई त्राण नहीं है। विज्ञान को भौतिकवाद से और धर्म को रूढिवाद से मुक्त करना होगा। आज की सभ्यता को एक नए धर्म की आवश्यकता है, जो विश्वजनीन होगा।"

ज्ञान, भक्ति, कर्म—मस्तिष्क, हृदय और हाथ (हेड, हार्ट, हैंड) के तीन मार्ग प्रायः सब धर्मों में एक-से प्रशंसित हैं :

हिंदू	ज्ञानमार्ग	भक्तिमार्ग	कर्ममार्ग
इस्लाम	हकीकत या अक़ायद	तरीकत या इबादत	शरीयत या मामिल

यूनानी	ग्नौसिस	पाएटास	इर्नजिया
ईसाई	इल्यूमिनेशन	मिस्टिसिज्म	चैरिटी
बौद्ध	सम्यक्-दृष्टि	सम्यक्-संकल्प	सम्यक्-व्यायाम
जैन	सम्यग्दर्शन	सम्यग्ज्ञान	सम्यक्चारित्र

शरीयत रा शार-ए-ख्वेश साजद
तरीकत रा विंसार-ए-ख्वेश साजद
हकीकत खुद मकाम-ए-जात-ए-ऊ दाँ
बुवद दायम मियाने-कुफ्र-ओ-ईमान (गुलशन-ई-राज)
योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः ज्ञानं भक्तिश्च कर्म च। (भागवत)
कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो॥
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्ब दुक्ख पमुच्चति। (धम्मपद)

उपनिषदों की धारणा थी कि :

ब्रह्म सर्वम् आवृत्य तिष्ठति तस्य भासा सर्वम् इदम् विभाति।

जरथुस्त्र की गाथा में, पारसी धर्म में कहा गया है :

अतचा अहमाइ वीस्पानाम वहिश्तेम
खथ्रोया ना खाथ्रेम दैदीता (४३·२)
(मुझे सबसे बड़ा उपहार जो है, वह दे
मुझे अंतरतम का अंतरतम आत्मतत्त्व दे)

ईसामसीह बाइबिल में कहते हैं : "मुझमें विश्वास करो कि मैं पिता में हूँ और पिता मुझमें है...जिसने मुझे देख लिया, पिता को देख लिया...यदि तुमने मुझे जान लिया, तो तुमने पिता को भी जान लिया !"

मुहम्मद हदीस में कहते हैं :

अना अहमद बिला मीम
मन रा-अनी रा अल हक्का
मन आ'रफ नफसाहू फकद आ'रफ रब्बाहु
('म' छोड़कर मैं अहमद हूँ। यानी मैं अहद हूँ। एक अकेला।)
(जिसने मुझे देख लिया, ईश्वर को देख लिया।)
(जिसने मुझे जान लिया, ईश्वर को जान लिया।)

पुराने चीनी-धर्म में शाओ-युंग का वचन है :

"आकाश शांत है, स्वर-हीन
ईश्वर कहाँ पाया जाएगा ?

दूर आकाश में उसे मत खोज
मनुष्य के अपने हृदय में वह है !"

शंकराचार्य ने शतपदी में यही कहा था :

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

(सचमुच में भेद मिट गए हैं । मैं तुम्हारा हूँ नाथ ! तुम मेरे नहीं ।
तरंग समुद्र की होती है, समुद्र तरंग का नहीं ।)

फिर, इस अचिंत्य भेदाभेद-अवस्था में वाणी का मौन तो सामान्य अनुभव है । तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' में यही कहा था :

गिरा अनयन, नयन बिनु बानी । केहि विधि उपमा जाई बखानी ।
शून्य भीति पर विविध रंग के तनु बिन लिखे चितेरे !

हदीस में है—मन आ'रफ रब्बा-हु कल-ला लेसानुहू ।

(जिस मनुष्य को 'रब' या ईश्वर प्राप्त हो जाता है, उसकी वाणी खो जाती है ।)

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु उच्छिन्नसंशयाः ।

इसी संदेहातीत अवस्था का वर्णन उपनिषद् में है :

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
ततो न विचिकित्सते !

सभी धर्मों में मनुष्य को ईश्वरार्पित होने के लिए कहा गया है। 'खुदी' को 'खुदा' की ओर, 'नफ्स-ई-अम्मारा' (वासना-केंद्रित इच्छा) को 'नफ्स-ई-रहमानी' (मनुष्य के ईश्वर-तत्त्व) की ओर, अहंकार को ब्रह्मभूय होने की ओर, अनेकता, भेदबुद्धि, तफरका, इनफिसाल और गैरियत को एकता, अभेदबुद्धि, वहदत, इत्तिसाल तथा ऐनियत की ओर बदलने की सलाह है ।

जरथुस्त्र की गाथा में भी उसे 'पिता, स्वामी, सेवक, नाथ, साथी और मेरा सब कुछ' माना गया है :

या फेध्रोई विदात पैश्यये, चा
वास्त्राएव्यो, अत चा खएतवोए
अशाऊनी अशवव्यो ।

महाभारत में कहा गया :

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि सर्व ब्रह्म इदं जगत् ।

हदीस में कहा गया है : 'अल-खल्को अ'याल-अल्लाहि, फ अहब्बुल-खालकी इल्-अल्लाहि मन इहसान इला आ'यालिहि ।' (सब प्राणी ईश्वर के परिवार के हैं, वह परमेश्वर का सबसे प्रिय होता है, जो उसके परिवार का सबसे अच्छा करता है ।)

मौलाना रूमी ने अपनी मसनवी में कहा था :

रूह बा अक्ल अस्त ओ बा इल्म अस्त यार
रूह रा बा ताजी ओ तुर्क चे कार

और, हकीम सनाई नामक सूफी ने भी यही कहा था :

रूह बा अक्ल ओ इल्म दानद जीस्त
रूह रा पारसी वा ताजी नीस्त

आत्मा की बुद्धि और विवेक-शक्ति देखी जाती है, न कि नाम या देश, कि तुर्की का है या ताजिकिस्तान का या फारस का ?

शंकराचार्य ने कहा था :

न वर्णो न वर्णाश्रम-आचार-धर्माः तद् एकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ।

और, श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा था :

नैव स्त्री न पुमान् एष न चैव अयम् नपुंसकः ।
यद् यच्छरीरम् आदत्ते तेन तेन संयुज्यते ।

(आत्मा न स्त्री है, न पुरुष, न तृतीय लिंग । वह तो जिस शरीर को धारण करता है, उतने ही समय का वह हो जाता है ।)

मुहम्मद ने हदीस में कहा था—"जितनी आत्माएँ, उतने ही ईश्वर तक जाने के रास्ते हैं ।" : अत्तुर्क अल्लाहि कन नुफ्सु बनी आदम ।

संत अगस्तीन ने भी उपनिषदों के 'विज्ञातारम् अविजानताम् अविज्ञातं विजानताम्' की भाँति कहा था : "काग्नोस्सेंडी इग्नोरारी, इग्नोरांदो काग्नोस्सी ।"

ईश्वर के नाम के विषय में भी कई अंदाज हैं। श्वास लेने की प्रक्रिया से इसका संबंध बताया गया है। सामवेद में 'हुवा-हायी, हुवा-होयी, हाई-हाई' संबोधन मिलते हैं। फिनीशिया और मिस्र में भी 'हुआओ' शब्द मिलता है। हिब्रू में योद् हे—वाउ हे ; 'अरबी में 'हुय्य' और 'यह्या'; चीनी में 'ताओ' और अफ्रीका के नीग्रो-आदिवासियों में 'हिऊ-हिळ' शब्द मिलता है, जो ईश्वर-वाचक है।

समानता खोजनेवालों को सर्वधर्म-समभावना से अध्ययन करने पर अनेक धर्मों में ईश्वर-विषयक विचारों में समानता अवश्य मिल जाएगी। उस समानता पर आज बल देने की अधिक आवश्यकता है, न कि असमानताओं पर। हमारे शिक्षा तंत्र में, पाठ्यग्रंथों में अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की प्रमुख बातों का ज्ञान देना आवश्यक है। इसी प्रकारता से उदारता और सहिष्णुता बढ़ सकेगी। और कोई उपाय नहीं है : अज्ञान के अंधकार को ज्ञान के आलोक से ही दूर करना होगा।

—प्रभाकर माचवे

१. वैदिक धर्म

अनादि काल से भारत विभिन्न धर्मों का देश रहा है। भारत के धार्मिक जीवन और विचारधारा की तह में उसकी पवित्र पुस्तकें हैं। उनके साहित्य का यहाँ के जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसकी समानता ईसाई धर्म को छोड़कर शायद ही और कहीं देखने को मिले। अगर पूरब में रीति-रिवाज एक ऐसी अवस्था तक सामाजिक संबंधों को नियमित और नियंत्रित करता है, जो पश्चिमी राष्ट्रों के लिए अज्ञात है, तो दूसरी ओर मोटे तौर पर यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय जीवन अपने धार्मिक पक्ष में भारतीय धर्म-ग्रन्थों के उपदेशों से भी निर्धारित होता है। किसी भी विचारधारा का प्रधान, किसी भी सिद्धान्त का सुधारक, इन्हीं धर्मग्रन्थों को अपना आधार मानता है और उनका सही अर्थ में व्याख्याता होने का दावा करता है। अतः, धार्मिक विचारधारा के किसी भी रूप और विकास का पर्यालोचन स्वाभाविक रूप से, और आवश्यक रूप से भी, यहीं से आरंभ होता है और ईश्वर के संबंध में जो भी धारणा है, उसके स्वरूप की जाँच करने के लिए हमें सबसे पहले प्रामाणिक पुस्तकों के उपदेशों की ओर ध्यान देना होगा।

संस्कृत-साहित्य की शब्द-रचना की दृष्टि से वेद का अर्थ वेद-ज्ञान है। हमारे महर्षियों ने अपनी तपस्या के द्वारा जिस 'अभय ज्योति' का परम्परागत शब्द-रूप में साक्षात्कार किया, वही शब्दराशि 'वेद' है। वेद अनादि, अपौरुषेय और नित्य हैं तथा उनकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है—इस प्रकार का मत आस्तिक सिद्धान्तवाले सभी पौराणिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त के दार्शनिकों का है। न्याय और वैशेषिक के दार्शनिकों ने वेद को अपौरुषेय नहीं माना है, पर वे इन्हें परमेश्वर (पुरुषोत्तम) द्वारा निर्मित मानते हैं। जो वेद को प्रमाण नहीं मानते, वे आस्तिक नहीं कहे जाते : 'नास्तिको वेदनिन्दकः।' चार्वाक मतवाले वेद को निष्क्रिय लोगों की जीविका का साधन मानते हैं।

भारतीय धर्म का प्राचीनतम और सबसे अधिक महत्त्वशाली स्रोत ऋग्वेद-संहिता है। इसमें संदेह नहीं कि इस साहित्य में कालक्रमिक अनिश्चितताएँ हैं, लेकिन जिस ईश्वर के प्रति भारत के लोगों की आस्था थी, उसकी उत्पत्ति और विकास की जानकारी प्रस्तुत करने में इसका बहुत महत्त्व है। आरंभ में

ऋग्वेद-संहिता मौखिक परंपरा में प्रचलित रही; क्योंकि इसे लिपिबद्ध करना इसकी पवित्रता को नष्ट करना माना जाता था। यह एक ऐतिहासिक संहिता है। यह १०२८ सूक्तों का एक ऐसा संग्रह है, जिसके असली रचयिताओं का हमें ज्ञान नहीं, लेकिन यह भारत के सभी धर्मों का मूल है। बाद की विचार-धारा पर ऋग्वेद का काफी प्रभाव पड़ा। अथर्ववेद में भी संभवतः कम प्राचीन सिद्धान्त नहीं हैं।

यह अक्सर कहा गया है कि जिन संप्रत्ययनों पर ये प्राचीन मंत्र आधारित हैं, उनका संबंध प्राचीन प्रकृति-पूजा से है। यह पूजा सच्ची और अकृत्रिम है, जिसमें मानवीकरण की प्रक्रिया परिलक्षित होती है। ईश्वर को अमूर्त्त व्यक्तित्व प्रदान किया गया है और उसे आदर्श रूप माना गया है। उसे नैतिक गुणों से विभूषित किया गया है और एक ऐसा स्वरूप प्रदान किया गया है, जो संपूर्ण रूप में दैवी है। यहाँ ईश्वर-संप्रत्ययन का विकास लगभग अप्रच्छन्न प्राकृतिक घटना से एक आदर्शीकृत और अमूर्त्त व्यक्तित्व की ओर हुआ है और उसे नैतिक तथा दैविक गुणों से पूर्ण किया गया है, लेकिन उसे भौतिक प्रतीति से शायद ही भिन्न रखा गया है। प्राकृतिक घटनाओं से संबद्ध देवगण इस प्रकार हैं : द्यौस्, अर्थात् द्युतिमान् विस्तृत आकाश। ऋग्वेद में इस देवता का एक भी निजी सूक्त नहीं है। वे इन दो रूपों में से किसी एक रूप में आते हैं—या तो वे उषा, अश्विन्, अग्नि, पर्जन्य, सूर्य, आदित्य, मरुत् और अंगिरस् के जनक हैं, या पृथ्वी के पति हैं, अथवा उनका उल्लेख उन देवताओं के साथ हुआ है, जिनमें पृथ्वी एक है। द्यौस् एक प्रमुख देवता हैं और वे हमें प्राक्-वैदिक युग की ओर ले जाते हैं। इन्द्र दूसरे महान् देवता हैं। उनकी स्तुति में ऋग्वेद के २५० सूक्त अथवा संपूर्ण संहिता का लगभग चतुर्थांश लग गया है। इनके ५० अन्य सूक्तों में उनका आह्वान अन्य देवों के साथ हुआ है। उनका सबसे प्रमुख विशेषण वज्रिन् है। अग्नि तीसरे महान् देवता हैं। ऋग्वेद में उनके लिए लगभग दो सौ सूक्त आए हैं। एक स्थान पर उन्हें अशीर्षा और अपाद् बताया गया है। अन्य स्थानों पर उन्हें घृत-मुख, घृत-पृष्ठ, घृत-लोम, अर्चि-लोम, या बभ्रु-लोम बताया गया है। इसी प्रकार, प्रकृति के अन्य छोटे देवता हैं। ये धीरे-धीरे वैयक्तिक तथा अमूर्त्त अस्तित्व ग्रहण करते हैं। संपूर्ण जड़-प्रकृति का मानवीकरण होता है। स्वर्ग, पृथ्वी, जल, वायु सभी इसमें आते है। साथ ही, इनमें गुणों के स्वांगीकरण और विनियम की प्रवृत्ति भी देखी

जाती है, जिससे न केवल एक ही प्रकार के गुणों से विभिन्न देवगणों को विभूषित किया जाता है, प्रत्युत वे एक ही प्रकार के कार्य भी करते हैं। इस प्रकार, स्वरूप में इन्हें एक दूसरे से भिन्न करना कठिन हो जाता है।

बाद के मंत्रों में अमूर्त मानवीकरण अधिक परिलक्षित होता है। अदिति, प्रजापति और हिरण्यगर्भ एक ऐसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं, जो समय के साथ-साथ रहस्यात्मक तथा ध्यानशील मनोवृत्ति की ओर संकेत करती है। मानव-मन इन्हें एक अधिक महान् स्थान प्रदान करता है। इस प्रकार, जो ईश्वर मूलतः नश्वर था, वह अनश्वर हो जाता है और मनुष्यों की तरह अब वह भावावेशों के वशीभूत नहीं होता। उसमें कुछ दूरी आ जाती है और वह रहस्यात्मक बन जाता है। अधिक पाने की आशा में आराधक केवल चढ़ावा लेकर उसकी पूजा नहीं करता, प्रत्युत वह इस बात की जरूरत महसूस करता है कि वह किस पद्धति से उसकी पूजा करे, उस ईश्वर तक वह कैसे पहुँचे, जिसके स्वरूप को वह पूर्ण रूप से नहीं जान सकता। ऋग्वेद के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट रूप से यह देखने को मिलता है कि हिन्दू-धर्म का दार्शनिक पक्ष चिन्तनशील और सर्वेश्वरवादी भावना की ओर उन्मुख है।

वैदिक देवताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे हितकारी होते थे। अपकारी देवता शायद ही देखने को मिले। वे तटस्थ होते थे अथवा अधम कार्यों का दमन करने तथा पापियों को दण्ड देने में उनका सक्रिय हाथ होता था। उनकी कल्पना धर्म के संस्थापक के रूप में की गई। यद्यपि वे मनुष्यों की तरह भावावेशों के वशीभूत होते थे, तथापि वे संपूर्ण रूप से न्याय और सत् के प्रतीक थे। गाय, बकरा, मछली आदि से व्युत्पन्न जातियों के नामों में टोटेमवाद के चिह्न मिलते हैं, लेकिन ये चिह्न अस्पष्ट हैं। जो भी हो, ऋग्वेद की ईश्वर-मीमांसा का मुख्य अभिप्रेरक प्रकृति-पूजा है, अर्थात् ब्राह्मण-ग्रन्थ विश्व की वस्तुओं तथा घटनाओं को वैयक्तिक तथा दैविक स्वरूप प्रदान करते हैं।

जिस समय ऋग्वेद के कवि व्यक्तिगत देवता को संबोधित करते हैं, वे उन्हें सर्वशक्तिमान् और सर्वोच्च मानते हैं, अर्थात् दूसरे शब्दों में उनका धर्म एकैकाधिदेववादी है। प्रत्येक देवता ऋषि के विचार और ध्यान को इतना आकर्षित कर लेता है कि किसी अन्य देवता के लिए या तो कोई स्थान नहीं रहता या कम-से-कम उसके समान कोई दूसरा होता नहीं। लेकिन, जब ऋषि

उसका आह्वान करना बंद करता है और उसकी दृष्टि से वह देवता ओझल हो जाता है, तब उसके सामने दूसरा देवता स्थान लेता है, जिन्हें उन्हीं शक्तियों और उपाधियों से विभूषित किया जाता है। यह एकैकाधिदेववाद की मुख्य विशेषता है—एक समय में एक देवता की पूजा करना, जो उस समय सर्वोच्च माना जाता है और अन्य देवतागण उनके सामने गौण हो जाते हैं। इस प्रकार की विशेषता जितनी अधिक प्रारंभिक आर्य-भारत में देखने को मिलती है, उतनी और किसी प्राचीन धर्म में नहीं मिलती। एकैकाधिदेववादी मत का अन्तिम रूप और विकास एकेश्वरवाद है और इस विकास से भारतीय चिंतक हट जाते हैं। पूरब ने पश्चिमी अर्थ में तर्क या संगति की परवाह नहीं की है। इस प्रकार वैदिक धर्म बहुदेववाद की ओर मुड़ जाता है। यह एक ओर तो इतने धार्मिक कृत्यों और अनुष्ठानों से नियंत्रित होता है, जिनसे विश्व शायद ही पहले कभी परिचित रहा हो और दूसरी ओर वह मुक्त चिंतन का क्षेत्र प्रस्तुत करता है, जिससे अस्पष्ट और रहस्यात्मक सर्वेश्वरवाद का विकास होता है।

ब्राह्मण

छठी या सातवीं शताब्दी ई० पू० के बाद साहित्यिक विकास की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि मंत्रों से देवताओं की जो प्रार्थना की जाती थी, उसका स्थान यज्ञानुष्ठान ने लिया, जिससे आध्यात्मिक जीवन या तो समाप्त हो गया था या उसका महत्त्व जाता रहा। पुजारियों ने अनुष्ठानों का ठीक-ठीक और कठोरता से पालन करने पर बल दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पुजारियों की सेवा करना धर्म हो गया। वे हर बात में हस्तक्षेप करते थे। देवताओं को तुष्ट करने की आवश्यकता थी और ये पुजारी ही उन्हें तुष्ट कर सकते थे, जो ठीक तरह से अनुष्ठान करने का दावा करते थे। कथा, आख्यायिका और स्तुति द्वारा यज्ञ कराने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। संक्षेप में, यह धर्मादेश का युग कहा जा सकता है, जिसमें विधि (आज्ञाबोधक शब्द) और यज्ञानुष्ठान का विवेचन तथा उसके रहस्य का निरूपण प्रमुख हो गया। आत्मा दब गई, लेकिन सत्ता संपूर्ण रूप में आत्माविहीन और रीतिक नहीं हुई। सिद्धांत तथा यज्ञानुष्ठान की पद्धति में निश्चित रूप से प्रगति हुई। किन्तु सैद्धान्तिक परिवर्त्तन से ईश्वर के संबंध में लोगों की अवधारणा पर शायद ही प्रभाव पड़ा। उनका संबंध परलोक-विद्या से था, जिसमें पापी को दण्ड भुगतने के लिए दूसरा जीवन लेना होता था। इससे विश्व के संबंध में अधिक

व्यवस्थित सिद्धांत का विकास हुआ, लेकिन ईश्वर मूलतः ऐसा था, जिसके साथ समझौता किया जा सकता था। अगर कीमत चुकाई जाए, तो वह अपना क्रोध शांत कर सकता था। वह पापी को क्षमादान दे सकता था और उसे असंख्य लाभ पहुँचा सकता था। इस प्रकार की प्रवृत्ति की इतनी अतिरंजना हुई कि साधुओं और संतों को यह विश्वास हो गया कि ध्यान और आत्मयातना से भगवान् से मनचाही वस्तु ऐंठी जा सकती है और उनसे भी बढ़-चढ़ कर बना जा सकता है तथा उनका सिंहासन अपने अधिकार में किया जा सकता है। दूसरी ओर इस धर्म की प्रतिक्रिया-स्वरूप, भौतिकवादी और निरीश्वरवादी आंदोलन का जन्म हुआ, जिसमें ईश्वर को अस्वीकारा गया और वर्त्तमान के सुख पर अधिक बल दिया गया।

वैदिक बहुदेववाद में सर्वेश्वरवाद की झलक मिलती है। इस जगत् की सृष्टि से विभिन्न देवताओं को कई प्रकार से संबद्ध किया गया है। इस समय के अन्त में हिरण्यगर्भ की कल्पना की गई, जिसमें सब कुछ निहित है और जो स्वयं कण-कण में व्याप्त है। अथर्ववेद में इसी विचार को दूसरे प्रकार से रखा गया। वरुण को सर्वेश्वरवादी रूप दिया गया। यह कहा गया कि वरुण सागर है और वह जल की प्रत्येक बूंद में है। यहाँ के वरुण ऋग्वेद के वरुण से भिन्न हैं, ब्राह्मण में सृष्टिकर्ता सर्वेश्वर है। प्रजापति अथवा ब्रह्मा देवताओं, मनुष्यों और दानवों का न केवल पिता है, बल्कि वह सब कुछ है। जो भी हो, ब्राह्मण में सृष्टि का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं किया गया है।

उपनिषद्

ब्राह्मण की विचारधारा के विपरीत उपनिषद् में एक दूसरी विचारधारा देखने को मिलती है। यहाँ ईश्वर के स्वरूप और सत्ता के संबंध में चिंतनशील और रहस्यात्मक विचार प्रकट किए गए हैं, जो कर्मकाण्ड की पुस्तक के व्यावहारिक और प्रासादिक विचारधारा से भिन्न हैं। इसमें संदेह नहीं कि ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों प्राचीन हैं, लेकिन मानव ने जबसे किसी देवता की उपासना की होगी, तबसे उसका मन आध्यात्मिक चिंतन में तल्लीन भी हुआ होगा। फिर भी, उपनिषद् का गहन अध्ययन करने से इस बात का पता चलता है कि ऋषियों ने काफी चिंतन-मनन और विचार-विमर्श करने के बाद अपने विचार प्रकट किए होंगे, जो मानव-मन की परिपक्वता के द्योतक हैं। इस समय कर्मकाण्डी तथा दार्शनिक अथवा मीमांसात्मक तत्वों का

समान रूप से विकास हुआ। ये दोनों विचारधाराएँ बिना किसी एक दूसरे के विरोध के आगे बढ़ीं। लेकिन, बाद में ब्राह्मण के प्रभाव में आकर इन दोनों धाराओं में सामंजस्य स्थापित किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् के प्रमुख सिद्धान्त या सिद्धान्तों का उद्भव राजाओं और शूर-वीरों से हुआ। ये योद्धा होने के अतिरिक्त जिज्ञासु प्रकृति के होते थे, अतः वे दार्शनिक वाद-विवादों का प्रबन्ध करते थे और उनमें भाग लेते थे। बाद में ब्राह्मणों ने इन नवीन विचारधाराओं को ग्रहण किया और उनका स्वागत किया। उन्होने सामान्य जनता की आवश्यकताओं को अपने ध्यान में रखा। अतः, उसके अनुकूल कर्मकाण्ड का अर्थ प्रतिपादित किया गया; क्योंकि अशिक्षित जनता किसी अमूर्त्त सत्ता की धारणा बना पाने में असमर्थ थी, अतः वे एक ऐसी सत्ता की तलाश में थे, जो मूर्त्त हो। इस प्रकार, सत्ता या ब्रह्म या ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के दो मार्ग थे—ज्ञानकाण्ड, अर्थात् ज्ञान का क्षेत्र, जिसमें वही मनुष्य ऊपर उठ सकता है, जो अन्तर्दृष्टि की शक्ति से संपन्न हो, और कर्मकाण्ड, अर्थात् कार्य का क्षेत्र, जो सामान्य जनता के लिए है। ज्ञानकाण्ड उपनिषद् के उपदेश का सार है।

ब्राह्मण-युग में मनुष्य यज्ञानुष्ठानों से परलोक में आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न करता था। वह एक ईश्वर को स्वीकार करता था, लेकिन उसके विचार में उस ईश्वर ने भी यज्ञानुष्ठानों से सर्वोच्चता प्राप्त की। उसने परलोक की कल्पना की, जहाँ दिव्य प्रकाश था। लेकिन, उपनिषद्-काल में उसने यज्ञानुष्ठानों से थोड़ा अपने को मुक्त रखा। उसके मन में प्रश्न यह था कि उसके भीतर क्या कोई ऐसी आत्मा है, जो चिरंतन है, जो शरीर नष्ट होने के बाद भी रहता है और क्या सूर्य अथवा ब्रह्मा जैसे उच्चतर सत्ता के साथ उसका एकाकार हो सकता है? इस काल में इसी प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश की गई। उपनिषदों में एक विश्वात्मा की कल्पना की गई और यह कहा गया कि जीव उसका अंश है। फिर भी, इनमें कोई क्रमबद्ध दर्शन नहीं मिलता है। इस समय भी पुराने देवताओं का स्थान रहा, लेकिन वे वास्तविक देवता नहीं समझे गए। वे ईश्वर के विभिन्न रूप समझे गए। वे परम सत्ता के अंश माने गए।

भारत के चिंतकों पर उपनिषद् का जैसा प्रभाव पड़ा है, वैसा शायद ही कहीं देखने को मिले। महान् भारतीय षड्दर्शन का आधार उपनिषद्

ही है। ब्राह्मणों के प्रभुत्व के कारण, समाज के निम्नतम स्तर तक उपनिषद्-ज्ञान का प्रसार हुआ और धीरे-धीरे धार्मिक विचारों में परिवर्तन और उनका परिष्कार भी होता गया। इतना तो स्पष्ट है कि उपनिषद्-साहित्य में दो मुख्य विचाराधराओं का उद्भव हुआ—प्रत्ययवादी और भौतिकवादी। भौतिकवादी दर्शन भारत में धर्म के रूप में कभी पनपने नहीं पाया। लेकिन, यह भी सत्य है कि आज इस दर्शन की अवहेलना नहीं की जा सकती। बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में इसे धर्म के रूप में नया अर्थ प्रदान करने की कोशिश की जा रही है।

ईश्वर के स्वरूप और सत्ता के संबंध में प्रत्ययवादी सर्वेश्वरवादी है। लेकिन, पूरब का सर्वेश्वरवाद पश्चिम के सर्वेश्वरवाद से भिन्न है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी सर्वेश्वरवाद ईश्वर को प्रकृति और प्राकृतिक जगत् में अन्तर्निहित मानता है। लेकिन, भारतीय दर्शन में प्रकृति ईश्वर में अन्तर्निहित है। भारतीय सर्वेश्वरवाद ईश्वर को सर्वसर्वा मानता है और यह प्रकृति को इसलिए स्थान देता है कि दैनिक जीवन में इसकी माँग है। प्रकृति को माया या भ्रम के रूप में ग्रहण किया गया है। केवल ईश्वर ही सत्य है, न कि भौतिक जगत्। केवल एक की सत्ता है, दूसरे की नहीं। अतः, जहाँ तक देवता की अवधारणा का संबंध है, भारतीय सर्वेश्वरवाद का वर्णन 'सर्वेश्वरवादी एकत्ववाद' के रूप में करना ठीक होगा।

चार्वाक

वैदिक धर्म-के प्रकरण में इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि वैदिक काल में ही ब्राह्मणों के प्रतिक्रियास्वरूप भौतिकवादी और निरीश्वरवादी आन्दोलन का जन्म हुआ, जिसमें यह कहा गया कि ईश्वर नहीं है और जो कुछ भी है, वह वर्तमान का सुख है। उपनिषद् में एक उल्टी धारा चल रही थी। इस बात का पता छांदोग्य उपनिषद् के इस उद्धरण से लगता है—'तद्ध्येक आहुः 'असदेवेदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते'।" (छां० ६।२।१) सयुग्वा (=गाड़ीवाला) रैक्व के विचार भौतिकवाद की ओर झुके प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त इस युग में ऐसे विचारक भी थे, जो वैदिक परंपरा से बाहर जीवन की गुत्थी सुलझाने का प्रयास कर रहे थे। अतः, स्पष्ट है कि वैदिक काल में स्वतंत्र और प्रतिक्रियावादी विचारक थे, जिन्होंने जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण रखा। इस प्रकार की प्रतिक्रिया स्वाभाविक

भी थी; क्योंकि धर्म के पंडित कहलानेवाले ब्राह्मण लोभी हो गए और भोली-भाली जनता को स्वर्ग का मनोमोहक चित्र खींचकर ऐंठना शुरू कर दिया।

चार्वाक-दर्शन से संबद्ध मूल कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। चार्वाक, जो बृहस्पति के अनुयायी कहे जाते हैं, किसी मत-संस्थापक व्यक्ति का नाम नहीं है। यह शब्द गाली के रूप में उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता था, जो ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि में विश्वास नहीं करते थे। चार्वाक शब्द का शब्दार्थ है चबाने के लिए मुस्तैद, अर्थात् जो संसार के भोग को सब कुछ मानता है। चार्वाक के विचार में ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। वे धर्म के पंडितों को 'भण्डधूर्तनिशाचरः' की संज्ञा देते हैं, वेद को गप समझते हैं। चूंकि उनके लिए ईश्वर या स्वर्ग या आत्मा का अस्तित्व नहीं है, अतः उनके अनुसार सुख के लिए ही जीवन जीने योग्य है।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अतः, स्पष्ट है कि चार्वाक धर्मविहीन दर्शन प्रस्तुत करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारत में ऐसे दर्शन को प्रोत्साहन नहीं मिला और इस प्रकार के विचार रखनेवाले लोगों को नास्तिक और पथभ्रष्ट माना गया। लेकिन, एक ऐसा समय था, जबकि समाज पर इनका काफी प्रभाव पड़ा। लोग इनकी यथार्थवादिता से प्रभावित हुए बिना तो नहीं रह सके, लेकिन उन्हें इस बात का भय भी हुआ कि जीवन के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण से समाज में अव्यवस्था और अराजकता फैल जाएगी। अतः, बुद्धिमानी इसीमें है कि नैतिक और नियंत्रित जीवन बिताया जाए।

कुछ भी हो, चार्वाक-दर्शन एक नए विचार को जन्म देता है। धर्म अतिप्राकृतिक पर आधारित है और यह अतिप्राकृतिक अनुमान की वस्तु है। अगर अनुमान को अलग कर दें, तो अतिप्राकृतिक की कल्पना भी इसके साथ ही समाप्त हो जाती है। इस जगत् में जो भी चीज उत्पन्न हुई, है वह इसलि[illegible] हुई है कि प्रकृति का यह अन्तर्निहित गुण है, कोई अतिप्राकृतिक [illegible] ईश्वर नहीं है।

समाज के साथ हिल-मिल कर रहना चाहते हैं। उनकी राय में मानव-जीवन की इमारत विश्व के रंगीन अनुभवों पर आधारित होना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि वैदिक कर्मकाण्डों में आस्था रखे बिना मानव-जीवन निरर्थक है, वे भूल में हैं। अतः, सुख ही जीवन का परम उद्देश्य है। दुःख के साथ मिला होने के कारण सुख को छोड़ा नहीं जा सकता। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अनाज को इस कारण नहीं छोड़ सकता कि उसमें भूसा मिला है। काँटों के होने से मछली का खाना नहीं छोड़ा जा सकता। खेती इसलिए नहीं छोड़ी जा सकती कि पशु उसे नष्ट कर देंगे। भिखारी के डर से भोजन पकाना बन्द नहीं किया जा सकता। "कल मोर मिलेगा, इस आशा से कोई हाथ में आए कबूतर को नहीं छोड़ता।" मृत्यु के बाद क्या है, इसकी अनुभूति किसी ने नहीं की है। यही जीवन सत्य है। फिर, कर्म और पुनर्जन्म के पचड़े में क्यों पड़ा जाए ?

चार्वाक के सुखवाद की कटु आलोचना की गई है। लेकिन, यदि हम इसका अध्ययन उस समय की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर करें, तो पता चलेगा कि उस समय के सांस्कृतिक दृष्टिकोण से चार्वाक वास्तव में असंस्कृत और अश्लील नहीं थे। इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि मानव-मन के लिए प्राकृतिक सुषमा निरन्तर आनन्द का स्रोत है। इसके अतिरिक्त, वेदों में जिस स्वर्ग की कल्पना की गई है, वह भौतिक आनन्द की ही पराकाष्ठा है, इसमें केवल दिव्य रूप दे दिया गया है। चार्वाक ने जिस सुख की कल्पना की है, वह स्वर्ग का ही सुख तो है। मृत्यु के बाद जीव स्वर्ग में अपना उत्कर्ष बनाए हुए विभिन्न प्रकार के सुख भोग सकता है, तो फिर इस जीवन में मिलनेवाले भौतिक सुख का भोग क्यों न किया जाए। इस प्रकार, चार्वाक इस जगत् और मानव-जीवन के प्रत्यक्ष मूल्य पर बल देना चाहते थे।

चार्वाक के समय ब्राह्मणों ने धर्म के नाम पर बहुत अत्याचार करना शुरू कर दिया। उन्होंने अपने को ऐसा बना लिया कि लगता था कि वे ही ईश्वर के सचिव हैं, जिनकी सहायता से ही मनुष्य ईश्वर तक पहुँच सकता है और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। धर्म बाजार में अधिक दामों पर बिकने लगा। ऐसे समय में चार्वाक ने लोगों को सही रास्ता दिखाया। उन्होंने लोगों से कहा कि ये ब्राह्मण धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य का गलत उपदेश देकर उन्हें धोखा दे

भी थी; क्योंकि धर्म के पंडित कहलानेवाले ब्राह्मण लोभी हो गए और भोली-भाली जनता को स्वर्ग का मनोमोहक चित्र खींचकर ऐंठना शुरू कर दिया।

चार्वाक-दर्शन से संबद्ध मूल कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। चार्वाक, जो बृहस्पति के अनुयायी कहे जाते हैं, किसी मत-संस्थापक व्यक्ति का नाम नहीं है। यह शब्द गाली के रूप में उन लोगों के लिए प्रयुक्त होता था, जो ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि में विश्वास नहीं करते थे। चार्वाक शब्द का शब्दार्थ है चबाने के लिए मुस्तैद, अर्थात् जो संसार के भोग को सब कुछ मानता है। चार्वाक के विचार में ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। वे धर्म के पंडितों को 'भण्डधूर्त्तनिशाचरः' की संज्ञा देते हैं, वेद को गप समझते हैं। चूंकि उनके लिए ईश्वर या स्वर्ग या आत्मा का अस्तित्व नहीं है, अतः उनके अनुसार सुख के लिए ही जीवन जीने योग्य है।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अतः, स्पष्ट है कि चार्वाक धर्मविहीन दर्शन प्रस्तुत करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारत में ऐसे दर्शन को प्रोत्साहन नहीं मिला और इस प्रकार के विचार रखनेवाले लोगों को नास्तिक और पथभ्रष्ट माना गया। लेकिन, एक ऐसा समय था, जबकि समाज पर इनका काफी प्रभाव पड़ा। लोग इनकी यथार्थवादिता से प्रभावित हुए बिना तो नहीं रह सके, लेकिन उन्हें इस बात का भय भी हुआ कि जीवन के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण से समाज में अव्यवस्था और अराजकता फैल जाएगी। अतः, बुद्धिमानी इसीमें है कि नैतिक और नियंत्रित जीवन बिताया जाए।

कुछ भी हो, चार्वाक-दर्शन एक नए विचार को जन्म देता है। धर्म अतिप्राकृतिक पर आधारित है और यह अतिप्राकृतिक अनुमान की वस्तु है। अगर अनुमान को अलग कर दें, तो अतिप्राकृतिक की कल्पना भी इसके साथ ही समाप्त हो जाती है। इस जगत् में जो भी चीज उत्पन्न हुई, है वह इसलिए हुई है कि प्रकृति का यह अन्तर्निहित गुण है, कोई अतिप्राकृतिक सृष्टिकर्त्ता ईश्वर नहीं है।

चार्वाक सांसारिक सुखों के मूल्य पर जीवन के अतिप्राकृतिक मूल्यों की खोज करने के पक्ष में नहीं हैं। इस जीवन में जो सुन्दर है, उसे वे ग्रहण करना चाहते हैं। वे इस जीवन को समृद्ध करना चाहते हैं। वे प्रकृति और मानव-

समाज के साथ हिल-मिल कर रहना चाहते हैं। उनकी राय में मानव-जीवन की इमारत विश्व के रंगीन अनुभवों पर आधारित होना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि वैदिक कर्मकाण्डों में आस्था रखे बिना मानव-जीवन निरर्थक है, वे भूल में हैं। अतः, सुख ही जीवन का परम उद्देश्य है। दुःख के साथ मिला होने के कारण सुख को छोड़ा नहीं जा सकता। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अनाज को इस कारण नहीं छोड़ सकता कि उसमें भूसा मिला है। काँटों के होने से मछली का खाना नहीं छोड़ा जा सकता। खेती इसलिए नहीं छोड़ी जा सकती कि पशु उसे नष्ट कर देंगे। भिखारी के डर से भोजन पकाना बन्द नहीं किया जा सकता। "कल मोर मिलेगा, इस आशा से कोई हाथ में आए कबूतर को नहीं छोड़ता।" मृत्यु के बाद क्या है, इसकी अनुभूति किसी ने नहीं की है। यही जीवन सत्य है। फिर, कर्म और पुनर्जन्म के पचड़े में क्यों पड़ा जाए ?

चार्वाक के सुखवाद की कटु आलोचना की गई है। लेकिन, यदि हम इसका अध्ययन उस समय की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रखकर करें, तो पता चलेगा कि उस समय के सांस्कृतिक दृष्टिकोण से चार्वाक वास्तव में असंस्कृत और अश्लील नहीं थे। इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि मानव-मन के लिए प्राकृतिक सुषमा निरन्तर आनन्द का स्रोत है। इसके अतिरिक्त, वेदों में जिस स्वर्ग की कल्पना की गई है, वह भौतिक आनन्द की ही पराकाष्ठा है, इसमें केवल दिव्य रूप दे दिया गया है। चार्वाक ने जिस सुख की कल्पना की है, वह स्वर्ग का ही सुख तो है। मृत्यु के बाद जीव स्वर्ग में अपना उत्कर्ष बनाए हुए विभिन्न प्रकार के सुख भोग सकता है, तो फिर इस जीवन में मिलनेवाले भौतिक सुख का भोग क्यों न किया जाए। इस प्रकार, चार्वाक इस जगत् और मानव-जीवन के प्रत्यक्ष मूल्य पर बल देना चाहते थे।

चार्वाक के समय ब्राह्मणों ने धर्म के नाम पर बहुत अत्याचार करना शुरू कर दिया। उन्होंने अपने को ऐसा बना लिया कि लगता था कि वे ही ईश्वर के सचिव हैं, जिनकी सहायता से ही मनुष्य ईश्वर तक पहुँच सकता है और मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। धर्म बाजार में अधिक दामों पर बिकने लगा। ऐसे समय में चार्वाक ने लोगों को सही रास्ता दिखाया। उन्होंने लोगों से कहा कि ये ब्राह्मण धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य का गलत उपदेश देकर उन्हें धोखा दे

रहे हैं और यह कार्य अधार्मिक है। "धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्य-पापयोः।"

इसलिए, यह कहना ठीक नहीं है कि मानव जीवन के सँजोए मूल्यों के अर्थ में चार्वाक की धर्म में आस्था नहीं थी। केवल विराग का जो आदर्श था, उसमें उनका विश्वास नहीं था। चार्वाक स्वतंत्र विचारक थे। उनके अनुसार धर्म सामाजिक व्यवस्था, सामंजस्य और मानवीय सहानुभूति का पर्याय था। उनके अनुसार धर्म-पुरोहित ही सद्गुणों के संरक्षक नहीं हैं। राजा का भी यह कर्तव्य है कि मनुष्यों के नैतिक गुणों के विकास के लिए उपाय करें, और एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना करें, जहाँ मानव-जीवन के जैविक और मानसिक स्तरों को अच्छे साधनों द्वारा समुन्नत किया जा सके। चार्वाक अक्सर हिंसा का विरोध करते थे। वे ऐसे देवताओं को पापी मानते थे, जो मानसिक विकृतियों के परिचायक थे। उनका कहना था कि यदि कोई इस पृथ्वी को पशुओं के गर्म रुधिर से नहलाना चाहता है, तो वह इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसने धर्म का मार्ग अपनाया है। इसके अतिरिक्त चार्वाक ने बताया कि प्राणियों के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करने से मनुष्य दूसरों के हृदय को जीत सकता है। सहानुभूति से ही सभी सामाजिक संबंध मधुर होंगे।

इस प्रकार, चार्वाक ने अपने ढंग से एक धर्म चलाया, जो ब्राह्मणों की धूर्तता के विरुद्ध था। उनके अनुसार सहानुभूति, मधुर वचन आदि धर्म के अंग हैं। नरक सांसारिक जीवन की दुःखी अवस्था है। सुव्यवस्थित समाज ही स्वर्ग है, जिसका राजा ही ईश्वर के समान है। अतः, उनका जीवन के प्रति पूर्ण रूप से स्वस्थ एवं नैतिक दृष्टिकोण था। उन्होंने जीवन को व्यावहारिक ढंग से देखा। प्रकृति-प्रदत्त सुखों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य के लिए प्रकृति और मानव-जीवन में सामंजस्य स्थापित करना ही चरम लक्ष्य समझा गया।

२. बौद्ध-धर्म

बौद्ध-धर्म मानव-जाति की प्राचीनतम धार्मिक परम्पराओं में एक है। आज भी विश्व में कई भागों में लोगों की इस धर्म के प्रति आस्था है। बौद्ध-धर्म भारत में उत्पन्न हुआ। इसके संस्थापक गौतम बुद्ध थे। उन्होंने कोसी-कुरुक्षेत्र और हिमाचल-विंध्याचल के भीतर ही विचरते हुए ४५ वर्ष तक प्रचार किया। इस धर्म के अनुयायी चिरकाल तक, महान् सम्राटों से साधारण जन तक, सारे भारत में फैले हुए थे। इसके विचारक और दार्शनिक हजारों वर्षों तक अपने विचारों से भारत के विचारों को प्रभावित करते रहे। लेकिन, बारहवीं शताब्दी के बाद, अर्थात् तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों में भारत से इस धर्म का लोप हुआ। फिर भी, लद्दाख, हिमाचल-प्रदेश, असम, बंगाल और उड़ीसा में इसके कुछ अनुयायी थे।

जब भारत में बुद्ध के उपदेशों का जोरों से प्रचार होने लगा और बड़े-बड़े राजा भी उनके सामने नत-मस्तक होने लगे, तब बहुत-से लोगों ने यह प्रश्न पूछना शुरू किया : 'आप कौन हैं ?' और, जब स्वयं बुद्ध के पास लोग अपना प्रश्न लेकर गए, तब जो उत्तर उन्होंने दिया, वह उनके संपूर्ण उपदेशों का सार है। उन्होंने पूछा : 'क्या आप ईश्वर हैं' ? 'नहीं'। 'देवदूत हैं ?' 'नही'। 'साधु हैं ?' 'नहीं'। 'तब आप क्या हैं ?' गौतम बुद्ध ने उत्तर दिया : 'मैं बुद्ध हूँ।' यही उत्तर उनका नाम बन गया। बुद्ध का अर्थ ही होता है ज्ञान-सम्पन्न। जबकि सारी दुनिया गहरी निद्रा में सोई थी, एक स्वप्न देख रही थी, जिसे मरणशील मनुष्य का जागरित-जीवन कहा जाता है, एक मनुष्य जागा। बौद्ध-धर्म एक ऐसे व्यक्ति से आरम्भ होता है, जो जड़-अवस्था से चेतन-अवस्था में आया।

उनके जीवन के संबंध में कई सुन्दर अनुश्रुतियाँ हैं। कहा जाता है कि जब उनका जन्म हुआ, तब सारे विश्व में प्रकाश फैल गया था। नेत्रहीनों को नेत्र मिल गए, बहरे और गूंगे आत्मविभोर होकर आनेवाले समय के संबंध में बातचीत करने लगे, लँगड़े चलने लगे, कैदी अपनी बेड़ियों से मुक्त हो गए और नरक की अग्नि बुझ गई। यहाँ तक कि जंगली जानवरों के अत्याचार भी

समाप्त हो गए। पृथ्वी के चारों ओर शान्ति व्याप्त थी। केवल मार खुश नहीं था।

सिद्धार्थ गौतम का जन्म ५६० ई० पू० में हुआ था। वे शाक्य-वंश के राजा शुद्धोदन और रानी महामाया के इकलौते पुत्र थे। इनका जन्म कोसल-राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था, जिसका विस्तार दक्षिणी नेपाल से गंगा नदी तक था। उस समय गंगा की घाटी में अधिकांश राज्य वस्तुतः गणराज्य थे और उनका सर्वोच्च शासक 'राजा' कहलाता था। उनका लालन-पालन राजदरबार के ऐश्वर्यों में हुआ था। कहा जाता है कि वे देखने में बहुत ही सुन्दर थे। सोलह वर्ष की आयु में उनका, पड़ोस की राजकुमारी यशोधरा से विवाह हुआ। उनके केवल एक पुत्र था, राहुल। राजधानी में विशेष रूप से यह आदेश दिया गया था कि सिद्धार्थ को न कोई बीमार, न बूढ़ा और न ही कोई शव दिखाई देना चाहिए। उन्हें बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु जैसी दशाओं से सर्वथा अनभिज्ञ रखा गया था। उनके पिता चाहते थे कि उनका पुत्र सांसारिक सुखों का भोग करे और उनके राज्य का उत्तराधिकारी बने। लेकिन, ऐसा नहीं हो सका। सिद्धार्थ की दृष्टि बूढ़े, रोगी, शव तथा भिक्षु पर पड़ ही गई। उन्होंने अपने सारथी छन्दक से इनके बारे में पूछा। उसने उन्हें बताया कि बुढ़ापा और बीमारी हरेक को आती है, हरेक की मृत्यु भी होती है, केवल भिक्षु इनसे परे होता है। सिद्धार्थ पर इस बात का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जीवन की नश्वरता समझ ली और मुक्ति की खोज के लिए तत्पर हो गए। कहा जाता है कि जब सिद्धार्थ का जन्म हुआ था, तब उनके पिता ने भविष्य-वक्ताओं को बुलाकर अपने भावी उत्तराधिकारी के बारे में पूछा। सभी इस बात से सहमत थे कि यह कोई असाधारण बच्चा है। उनका कहना था कि अगर वे संसार में रहे, तो चक्रवर्ती राजा होंगे और अगर उन्होंने संसार को छोड़ दिया, तो विश्व के मुक्तिदाता होंगे।

राजा ने सिद्धार्थ को संसार में बाँधने का भरसक प्रयत्न किया, लेकिन जब उन्हें उनके उद्देश्य से विचलित नहीं किया जा सका, तब राजा ने राजभवन के सभी द्वारों पर पहरे बिठलवा दिए। उन्होंने अपने राजकुमार को बलपूर्वक घर में रखना चाहा। लेकिन, एक रात वे अपनी सोती हुई पत्नी तथा पुत्र को छोड़कर चुपके से घर से निकल गए। इस काम में सारथी और 'कन्थक' नामक घोड़े ने उनकी सहायता की। उन्होंने घने जंगलों में जाकर अपना

राजमुकुट उतार दिया, कपड़े बदले और अपने केश काट डाले। उन्होंने अपने सारथी को वापस लौटा दिया। उसके बाद उन्होंने संन्यासियों से भेंट की और तपस्वी का जीवन बिताया। लेकिन, उन्हें शान्ति नहीं मिली। तब वे स्वयं अकेले महान् लक्ष्य की प्राप्ति में लग गए। उन्होंने घोर तपस्या की, अन्न भी छोड़ दिया, शरीर जर्जर हो गया, फिर भी शान्ति नहीं मिली। उन्होने अनुभव किया कि तपस्या करना व्यर्थ है। इससे उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकी। लेकिन, कभी-कभी निषेधात्मक प्रयोग उतने ही गुणकारी होते हैं, जितने कि भावात्मक प्रयोग। इसलिए, तपस्या की विफलता से एक भावात्मक पक्ष उनके सामने आया और वह था मध्यम मार्ग, अर्थात् एक ओर तपस्या और दूसरी ओर भोग की अतिशयता के बीच का मार्ग। यह एक ऐसा जीवन है, जिसमें शरीर को सिर्फ इतना ही दिया जाता, जितना इसके बने रहने के लिए जरूरी है। तब एक शाम उत्तर-पूरब भारत में गया के निकट वे एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठ गए, जिसे बोधि-वृक्ष कहा गया। वे तब तक वहाँ से नहीं उठे, जब तक उन्हें ज्ञान नहीं प्राप्त हो गया। जब मार ने देखा कि सिद्धार्थ उनके अधिकार से बाहर निकलना चाहता है, तब उन्हें अपने वश में करने के लिए अपनी सेनाएँ भेजीं। मार ने इनपर वायु, वर्षा, पाषाण, हथियार, धधकती राख, बालू, कीचड़ और अन्धकार-वृष्टि से आक्रमण किया, उन्हें विचलित करने के लिए अपनी तीन सुन्दर कन्याएँ भी भेजीं, लेकिन सिद्धार्थ अडिग रहे। मार भाग खड़ा हुआ। देवतागण उनके पास आए और विजय का उत्सव मनाया। उसके बाद बोधि-वृक्ष से लाल फूलों की वर्षा हुई। पूनम की रात थी। गौतम का चिन्तन गहन से गहनतम होता गया। सुबह हुई और उन्हें 'सम्मा सम्बोधि', अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई। वे बोधिसत्त्व न रहकर बुद्ध हो गए।

गौतम बुद्ध ने लगभग आधी शताब्दी तक भारत के धूल-भरे मार्ग पर पैदल चलकर सब लोगों को मानव के चरम लक्ष्य मोक्ष और उसे प्राप्त करने के उपायों के विषय में उपदेश दिए। उन्होंने एक धर्मसंघ की स्थापना की और ब्राह्मण-समाज की निष्क्रियता को चुनौती दी, जिसके लिए उन्हें काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। वे जनसाधारण को उपदेश देते थे। वे निजी तौर पर भी दुःखी प्राणियों को परामर्श देते थे। उनके पास लोग दूर-दूर से आते थे, जिन्हें वे सांत्वना देते थे।

बुद्ध अस्सी वर्ष की अवस्था में रुग्ण हुए। लगभग ४८० ई० पू० में उनकी

समाप्त हो गए। पृथ्वी के चारों ओर शान्ति व्याप्त थी। केवल मार खुश नहीं था।

सिद्धार्थ गौतम का जन्म ५६० ई० पू० में हुआ था। वे शाक्य-वंश के राजा शुद्धोदन और रानी महामाया के इकलौते पुत्र थे। इनका जन्म कोसल-राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था, जिसका विस्तार दक्षिणी नेपाल से गंगा नदी तक था। उस समय गंगा की घाटी में अधिकांश राज्य वस्तुतः गणराज्य थे और उनका सर्वोच्च शासक 'राजा' कहलाता था। उनका लालन-पालन राजदरबार के ऐश्वर्यों में हुआ था। कहा जाता है कि वे देखने में बहुत ही सुन्दर थे। सोलह वर्ष की आयु में उनका, पड़ोस की राजकुमारी यशोधरा से विवाह हुआ। उनके केवल एक पुत्र था, राहुल। राजधानी में विशेष रूप से यह आदेश दिया गया था कि सिद्धार्थ को न कोई बीमार, न बूढ़ा और न ही कोई शव दिखाई देना चाहिए। उन्हें बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु जैसी दशाओं से सर्वथा अनभिज्ञ रखा गया था। उनके पिता चाहते थे कि उनका पुत्र सांसारिक सुखों का भोग करे और उनके राज्य का उत्तराधिकारी बने। लेकिन, ऐसा नहीं हो सका। सिद्धार्थ की दृष्टि बूढ़े, रोगी, शव तथा भिक्षु पर पड़ ही गई। उन्होंने अपने सारथी छन्दक से इनके बारे में पूछा। उसने उन्हें बताया कि बुढ़ापा और बीमारी हरेक को आती है, हरेक की मृत्यु भी होती है, केवल भिक्षु इनसे परे होता है। सिद्धार्थ पर इस बात का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जीवन की नश्वरता समझ ली और मुक्ति की खोज के लिए तत्पर हो गए। कहा जाता है कि जब सिद्धार्थ का जन्म हुआ था, तब उनके पिता ने भविष्य-वक्ताओं को बुलाकर अपने भावी उत्तराधिकारी के बारे में पूछा। सभी इस बात से सहमत थे कि यह कोई असाधारण बच्चा है। उनका कहना था कि अगर वे संसार में रहे, तो चक्रवर्ती राजा होंगे और अगर उन्होंने संसार को छोड़ दिया, तो विश्व के मुक्तिदाता होंगे।

राजा ने सिद्धार्थ को संसार में बाँधने का भरसक प्रयत्न किया, लेकिन जब उन्हें उनके उद्देश्य से विचलित नहीं किया जा सका, तब राजा ने राजभवन के सभी द्वारों पर पहरे बिठलवा दिए। उन्होंने अपने राजकुमार को बलपूर्वक घर में रखना चाहा। लेकिन, एक रात वे अपनी सोती हुई पत्नी तथा पुत्र को छोड़कर चुपके से घर से निकल गए। इस काम में सारथी और 'कन्थक' नामक घोड़े ने उनकी सहायता की। उन्होंने घने जंगलों में जाकर अपना

राजमुकुट उतार दिया, कपड़े बदले और अपने केश काट डाले। उन्होंने अपने सारथी को वापस लौटा दिया। उसके बाद उन्होंने संन्यासियों से भेंट की और तपस्वी का जीवन बिताया। लेकिन, उन्हें शान्ति नहीं मिली। तब वे स्वयं अकेले महान् लक्ष्य की प्राप्ति में लग गए। उन्होंने घोर तपस्या की, अन्न भी छोड़ दिया, शरीर जर्जर हो गया, फिर भी शान्ति नहीं मिली। उन्होंने अनुभव किया कि तपस्या करना व्यर्थ है। इससे उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकी। लेकिन, कभी-कभी निषेधात्मक प्रयोग उतने ही गुणकारी होते हैं, जितने कि भावात्मक प्रयोग। इसलिए, तपस्या की विफलता से एक भावात्मक पक्ष उनके सामने आया और वह था मध्यम मार्ग, अर्थात् एक ओर तपस्या और दूसरी ओर भोग की अतिशयता के बीच का मार्ग। यह एक ऐसा जीवन है, जिसमें शरीर को सिर्फ इतना ही दिया जाता, जितना इसके बने रहने के लिए जरूरी है। तब एक शाम उत्तर-पूरब भारत में गया के निकट वे एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठ गए, जिसे बोधि-वृक्ष कहा गया। वे तब तक वहाँ से नहीं उठे, जब तक उन्हें ज्ञान नहीं प्राप्त हो गया। जब मार ने देखा कि सिद्धार्थ उनके अधिकार से बाहर निकलना चाहता है, तब उन्हें अपने वश में करने के लिए अपनी सेनाएँ भेजीं। मार ने इनपर वायु, वर्षा, पाषाण, हथियार, धधकती राख, बालू, कीचड़ और अन्धकार-वृष्टि से आक्रमण किया, उन्हें विचलित करने के लिए अपनी तीन सुन्दर कन्याएँ भी भेजीं, लेकिन सिद्धार्थ अडिग रहे। मार भाग खड़ा हुआ। देवतागण उनके पास आए और विजय का उत्सव मनाया। उसके बाद बोधि-वृक्ष से लाल फूलों की वर्षा हुई। पूनम की रात थी। गौतम का चिन्तन गहन से गहनतम होता गया। सुबह हुई और उन्हें 'सम्मा सम्बोधि', अर्थात् पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हुई। वे बोधिसत्त्व न रहकर बुद्ध हो गए।

गौतम बुद्ध ने लगभग आधी शताब्दी तक भारत के धूल-भरे मार्ग पर पैदल चलकर सब लोगों को मानव के चरम लक्ष्य मोक्ष और उसे प्राप्त करने के उपायों के विषय में उपदेश दिए। उन्होंने एक धर्मसंघ की स्थापना की और ब्राह्मण-समाज की निष्क्रियता को चुनौती दी; जिसके लिए उन्हें काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। वे जनसाधारण को उपदेश देते थे। वे निजी तौर पर भी दुःखी प्राणियों को परामर्श देते थे। उनके पास लोग दूर-दूर से आते थे, जिन्हें वे सांत्वना देते थे।

बुद्ध अस्सी वर्ष की अवस्था में रुग्ण हुए। लगभग ४८० ई० पू० में उनकी

मृत्यु हुई। बुद्ध की मृत्यु चुन्दकर्मार-पुत्र के यहाँ भोजन करने से हुई। मृत्यु शय्या पर भी उनका मन दूसरों की ओर लगा था। मृत्यु के समय उन्हें काफी पीड़ा थी, फिर भी उन्होंने आनन्द से कहा कि लोग चुन्दकर्मार-पुत्र को उनकी मृत्यु का दोषी ठहरा सकते हैं, इसलिए अपने भिक्षुओं से चुन्द को यह कहलवा ा कि उनके जीवन में दो भोजन उनके लिए वरदान सिद्ध हुए। एक भोजन से उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और दूसरे से निर्वाण का दरवाजा खुल गया।

गौतम बुद्ध के जीवन को पढ़ने के बाद कोई भी यह राय बनाए बिना नही रह सकता कि वे विश्व की महान् विभूतियों में एक थे। सबसे महत्त्वपूर्ग बात यह थी कि उनमें शान्त मस्तिष्क और संवेदनशील हृदय का मणि-कांचन-संयोग था, जिसके कारण न तो वे भावुकता में बहे, न उदासीन हुए। वे निस्संदेह बुद्धिवादी थे और इस मामले में उनकी तुलना सुकरात से की जा सकती है। वे हर एक समस्या पर शान्त मस्तिष्क से विचार करते और उसका विश्लेषण करते और उसके समाधान का प्रयास करते थे।

उनकी सहृदयता के संबंध में बहुत-सी कहानियां हैं। कहा जाता है कि उन्होंने अपनी जान जोखिम में डालकर एक बकरे को पहाड़ की काँटेदार झाड़ियों से निकाला। सम्भव है, ऐतिहासिक रूप से यह कहानी झूठी हो, लेकिन इस प्रकार का कार्य उनकी सहृदयता का परिचायक है। उनके हृदय में मानव-जाति के प्रति असीम संवेदना थी और यही कारण है कि उनका धर्म संवेदनशील था।

गौतम बुद्ध अत्यधिक सरल व्यक्ति थे। जब उनकी ख्याति चरम बिन्दु पर पहुँच गई, उस समय भी उनके हाथ में भिक्षा-पात्र होता था और वे सड़कों पर घूमा करते थे। उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं, फिर भी वे हमेशा प्रसन्न रहते थे। उनमें आत्मविश्वास था। वे ज्ञान के ऐसे धरातल पर पहुँच चुके थे, जहाँ उन्हें स्वयं श्रेष्ठता की अनुभूति थी, फिर भी उनमें अहंकार लेशमात्र नहीं था। उन्होंने अपने को कभी ईश्वर नहीं माना, हालांकि उन्हें ऐसा मानने के लिए बाध्य किया गया। वे अपने को हर प्रकार से एक साधारण मानव मानते थे। वे अपनी कमजोरियों को समझते थे। वे जानते थे कि किस कठिनाई से उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई। उनके सामने कितने प्रलोभन आए, लेकिन वे अडिग रहे।

बौद्धसंघ के आकार से बुद्ध की महत्ता का परिचय नहीं मिलता है,

बल्कि उनके संघ के अनुशासन से मिलता है। एक बार उनकी सभा में राजा आया। वह यह कहे बिना नहीं रह सका कि १२५० भिक्षुकों की सभा में न तो किसीके छींकने की आवाज है, न खाँसने की। चारों ओर पूर्ण शान्ति है। उस राजा को संदेह हुआ कि गौतम बुद्ध ने कहीं जादू तो नहीं कर दिया है। गौतम बुद्ध ने शांत सरोवर की तरह उत्तर दिया : 'राजन् ! क्या तुम्हें भी इस प्रकार की शांति प्राप्त हो सकेगी।' उनका हृदय इतना संवेदनशील था कि वे किसी के दुःख को पहचाने बिना नहीं रह सकते थे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण तब मिलता है, जब वे एक झाड़ू लगानेवाले के पास गए, जिसका नाम 'सुनीत' था। वह गिरे हुए फूल चुनकर बेचता था और अपनी भूख मिटाता था। समाज में उसका कोई स्थान नहीं था। बुद्ध ने उसे अपने संघ में शरण दी और वह उनके संघ का प्रमुख सदस्य बना।

गौतम बुद्ध का संपूर्ण जीवन इस उद्देश्य से प्रेरित था कि उन्हें मानव-जाति के लिए कुछ करना है। बुद्धत्व प्राप्त करने के तुरंत बाद उन्होंने देखा कि मनुष्य-जाति को मार्गदर्शन की आवश्यकता है। वे अपने अनुयायियों से इस बात में सहमत थे कि उनका जन्म मानव-जाति के कल्याण के लिए हुआ है।

अब बौद्ध-धर्म को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इसे हम हिन्दू-धर्म की पृष्ठभूमि में रखकर देखें। हिन्दू-धर्म का आविर्भाव धीरे-धीरे हुआ, लेकिन बौद्ध-धर्म को अपने पूर्ण रूप में प्रकट होने में देर नहीं लगी। व्यापक रूप में बौद्ध-धर्म, हिन्दू-धर्म की विकृतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया था। बौद्ध-धर्म ने अपनी आधारभूत जीवन-शक्ति हिन्दू-धर्म से ग्रहण की, लेकिन हिन्दू-धर्म की भ्रष्टताओं के विरुद्ध उसने आवाज उठाई। उसने हिन्दू धर्म पर जोरदार प्रहार किया। उसने किसी दैविक सत्ता को स्वीकार नहीं किया। गौतम बुद्ध ने एक ऐसा धर्म चलाया, जिसमें सत्ता के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्होंने व्यक्तियों से कहा कि वे अपने धर्म का मार्ग स्वयं खोजें, सुनी-सुनाई बात पर विश्वास न करें। वे स्वयं अपना प्रकाश बनें। उन्होंने कर्मकाण्ड का विरोध किया। उन्होंने कहा कि धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करने से मनुष्य बँधता है। गौतम बुद्ध व्यावहारिकता में विश्वास करते थे। वे कोरी कल्पना या व्यर्थ चिंतन के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते थे। इस संबंध में उनका दृष्टांत प्रसिद्ध है। अगर कोई व्यक्ति तीर से घायल होता है और उस समय उसके मित्र तथा संबंधी यह सोचें कि किस व्यक्ति ने तीर

चलाया है, वह किस जाति का है, उसका नाम क्या है, उसका गोत्र क्या है, तो इन बातों के जानने तक उस घायल व्यक्ति का प्राणान्त ही हो जाएगा। इसलिए, जरूरी है कि मनुष्य व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाए। उसके मित्रों और संबंधियों का उस समय यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे कहीं से चिकित्सक बुलाएँ, जो उसके घाव को भरने का उपाय करे। गौतम बुद्ध का व्यापक दृष्टिकोण था। उनके विचार में परम्परा से चली आ रही बात को ठीक उसी प्रकार ग्रहण करना उचित नहीं। इसलिए, उन्होंने लोगों को परंपरा के बंधन से मुक्त होने का परामर्श दिया। उनके धर्म में आत्मप्रयास पर बल दिया गया। उनका कहना था कि जो मूर्ख होते हैं, वे ही कहते हैं कि कोई कर्म नहीं है, कोई कृत्य नहीं है, कोई शक्ति नहीं है। जो स्वयं पर विश्वास करता है, वह दूसरों की सहायता की अपेक्षा नहीं करता और वह अपने उद्देश्य में सफल होता है। बौद्धधर्म में अलौकिकता के लिए भी कोई स्थान नहीं था। उन्होंने शकुन-विचार, भविष्यवाणी आदि की भर्त्सना की।

अब प्रश्न यह उठता है, क्या बौद्ध-धर्म जो सत्ता-विहीन, कर्मकाण्ड-विहीन, धर्मशास्त्र-विहीन, परंपरा-विहीन, अनुग्रह-विहीन तथा अलौकिकता-विहीन धर्म है—ईश्वर-विहीन धर्म भी है? इस प्रश्न पर आगे विचार किया जाएगा।

गौतम बुद्ध जब तक जीवित रहे, तब तक उनके धर्म में बाह्य आडंबर घुसने नहीं पाए, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद बहुत-सी ऐसी बातें चली आईं, जिनका उन्होंने घोर विरोध किया। अतः, उनके जीवन-काल में बौद्ध-धर्म का जो स्वरूप था, वह अनुपम था। बौद्ध-धर्म के इस स्वरूप के बारे में यहाँ कुछ बतला देना उचित होगा।

१. बौद्ध-धर्म इंद्रियानुभविक था। इंद्रियानुभविक निर्णय की दृष्टि से कभी किसी धर्म ने अपने पक्ष का विवेचन इतना सुन्दर ढंग से नहीं किया, जितना बौद्ध-धर्म ने। इसमें किसी भी प्रश्न के लिए, प्रत्यक्ष, निजी अनुभव ही सत्य की कसौटी था। बुद्ध के अनुसार सच्चा अनुयायी वही है, जो 'स्वयं के लिए जानता हो।'

२. बौद्धधर्म वैज्ञानिक था। प्रत्यक्ष अनुभव अन्तिम था, लेकिन इसका उद्देश्य उन कारण-कार्य-संबंधों को प्रकट करना था, जो अस्तित्व को व्यवस्थित करते हैं।

३. बौद्ध-धर्म व्यावहारिक था। यह समस्याओं का समाधान व्यावहारिक तरीके से करना चाहता था। गौतम बुद्ध के उपदेश बेड़े के समान थे, जो दरिया पार करने में सहायक होते हैं, लेकिन पार पहुँचने पर उनका कोई महत्त्व नहीं रहता।

४. बौद्ध-धर्म आरोग्यकर था। गौतम बुद्ध दुःख और उसके अन्त का उपदेश देते थे।

५. बौद्ध-धर्म मनोवैज्ञानिक था। यहाँ 'तत्त्वमीमांसीय' शब्द की तुलना में 'मनोवैज्ञानिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। विश्व से आरम्भ करने और उसमें मनुष्य का स्थान बतलाकर अपने सिद्धांत का अन्त करने के बदले गौतम बुद्ध ने मनुष्य, उसकी समस्याओं, उसके स्वभाव और उसके विकास की गतिशीलता से आरम्भ किया।

६. बौद्ध-धर्म लोकतांत्रिक था। गौतम बुद्ध ने जाति-प्रथा पर प्रहार किया। उन्होंने अपने संघ की स्थापना सबके लिए की। उसमें किसी प्रकार का जाति या कुल-संबंधी भेद-भाव नहीं था।

७. बौद्ध-धर्म व्यक्तियों की ओर निर्दिष्ट था। मनुष्य के सामाजिक स्वभाव की ओर गौतम बुद्ध की आँखें बंद नहीं थीं। उन्होंने संघ की ही स्थापना नहीं की, बल्कि आध्यात्मिक प्रगति के सहायक के रूप में इसके महत्त्व पर बल दिया। फिर भी, उन्होंने व्यक्ति से ही अपील की कि वे ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपना मार्ग स्वयं खोजें।

जब गौतम बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ, तब सबसे पहले उन्होंने सारनाथ में उपदेश दिए। उस समय सुननेवाले बहुत थोड़े थे। उनके उपदेश का विषय चार आर्यसत्य था।

उनका प्रथम आर्यसत्य यह था कि जीवन दुःखमय है। इस आर्यसत्य की व्याख्या करते समय कुछ लोगों ने गौतम बुद्ध को निराशावादी कहा। लेकिन, ऐसी बात नहीं थी। उनका दर्शन अंततोगत्वा निराशावादी नहीं था। उन्हें इस बात में संदेह नहीं था कि दुःख का अंत हो सकता है, जीवन में अच्छे दिन आ सकते हैं।

इस आर्यसत्य के अनुसार जीवन दुःखमय है। जन्म के साथ कष्ट होता है। रोग कष्टमय है। जर्जरता कष्टमय है। मृत्यु कष्टमय है। इंद्रिय-

सुख के विषयों के खो जाने से दुःख होता है। राग में उत्पन्न पंचस्कंध कष्टमय है।

अतः, गौतम बुद्ध ने इस दुःख से छुटकारा प्राप्त करने का उपदेश दिया। लेकिन, इसके लिए दुःखों के कारणों के बारे में जानना आवश्यक है। उन्होंने बताया कि जन्म-मरण के चक्र को चलानेवाली तृष्णा दुःख का मूल कारण है। यह दूसरा आर्यसत्य है। उन्होंने दुःख के कारणों को 'द्वादस निदान' अथवा 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धांत में अच्छी तरह समझाया है।

तीसरा आर्यसत्य दूसरे का तार्किक अनुवर्त्तन है। दुःख का नाश होता है। वास्तव में, यह तृष्णा का विनाश है, जिसमें कोई वासना नहीं रह जाती है। यदि हम स्वहित की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठ सकें, तो हमें दुःख से छुटकारा मिल सकता है।

चार आर्यसत्यों में जीवन की समस्या के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण मूलतः एक चिकित्सक का दृष्टिकोण है। वे सबसे पहले लक्षणों का निरीक्षण करते हैं और तब उन्हें चिंता होती है। इन लक्षणों का सार प्रथम आर्यसत्य में दिया गया है। जीवन दुःखमय है। उसके बाद दूसरा कदम निदान है। प्रश्न यह है कि दुःख का कारण क्या है। इसका उत्तर तीसरे आर्यसत्य में मिलता है, जिसमें आशा की किरण है। दुःख का कारण तृष्णा है।

चौथे आर्यसत्य में बुद्ध दुःखों से छूटने का रास्ता बताते हैं। बुद्ध ने दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग दिखलाकर निराशा में आशा का प्रकाश दिखलाया है। बुद्ध ने एक मध्यम मार्ग का पता लगाया है। यह एक ऐसा मार्ग है, जो आंखों को खोलता है और बुद्धि प्रदान करता है और उच्च प्रज्ञा और निर्वाण की ओर ले जाता है। यह अष्टांग मार्ग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बौद्ध-धर्म में जीवन का तत्त्वमीमांसीय विवेचन नहीं किया गया। वे केवल मानव-जीवन को दुःख से मुक्त करना चाहते थे। यही कारण था कि वे बहुत से आध्यात्मिक प्रश्नों के बारे में चुप रहे। बुद्ध के अनुसार, निर्वाण एक आनंद की अवस्था है। यह पूर्ण शांति की अवस्था है। यह ईश्वर तो नहीं है, लेकिन ईश्वर की अवधारणा के बहुत ही निकट है।

सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि बुद्ध ने आत्मा को स्वीकार नहीं किया, फिर भी उनका पुनर्जन्म और कर्म में विश्वास था। लेकिन, उन्होंने पुनर्जन्म को इस अर्थ में नहीं माना कि आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करती है। उनके अनुसार पुनर्जन्म का अर्थ है एक जन्म के कारण दूसरा जन्म होता है। दोनों में कार्य-कारण-संबंध होते हुए भी दोनों एक दूसरे से अलग हैं। बौद्ध-धर्म में अंतिम सिरे की कल्पना नहीं की गई है, लेकिन इसमें हम दिशा जान सकते हैं। पूर्ण मुक्ति से ही पूर्ण भाव आ सकता है।

गौतम बुद्ध के मरने के बाद बौद्ध-संघ के लोग बुद्ध के उपदेशों का अपने अनुसार अर्थ लगाने लगे। इस प्रकार, बौद्ध अनेक संप्रदायों में बँट गए। बौद्ध-धर्म उन प्रश्नों पर विभक्त हुआ, जिनके संबंध में मनुष्यों में हमेशा मतभेद रहा है। अब कितने ऐसे प्रश्न थे? ऐसे कम-से-कम तीन प्रश्न देखने को मिले हैं। पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य स्वतंत्र है या एक-दूसरे पर निर्भर। दूसरा प्रश्न यह है कि मनुष्य का जगत् से क्या संबंध है। यह जगत् उसका मित्र है या उसके उद्देश्य की पूर्ति में उदासीन? तीसरा प्रश्न यह है कि मनुष्य का सबसे अच्छा अंग क्या है, उसका मस्तिष्क या उसका हृदय?

इन प्रश्नों पर मनुष्यों में हमेशा से मतभेद होते रहे हैं और यही कारण है कि बौद्धों में भी मतभेद हुए। एक वर्ग ने कहा था कि मनुष्य एक व्यक्ति है। वह जो भी प्रगति करता है, अपने कर्मों के बल पर करता है और उसकी प्रज्ञा ही उसे लक्ष्य की ओर ले जा सकती है। दूसरे वर्ग ने ठीक इसके विपरीत कहा। मनुष्य की नियति उसके सहयोगियों के साथ स्थायी रूप से फँसी है। अनुग्रह एक तथ्य है और प्रेम इस जगत् की सबसे बड़ी वस्तु है। अन्य मतभेद इन्हीं दो आधारभूत मतभेदों से संबंधित थे। पहले वर्ग ने इस बात पर बल दिया कि बौद्ध-धर्म का पालन करना पूरे समय का काम है। यह वर्ग प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा नहीं रखता कि वह निर्वाण-प्राप्ति को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाए और जो बनाना चाहते हैं, उन्हें यह संसार छोड़ना पड़ेगा और भिक्षु बनना पड़ेगा। दूसरे वर्ग का दृष्टिकोण जितना वृत्तिकों के लिए प्रासंगिक था, उतना ही साधारण व्यक्तियों के लिए भी। दोनों ने अपने को 'यान' की संज्ञा दी; क्योंकि दोनों मनुष्य को भवसागर पार कराकर बुद्धत्व की प्राप्ति कराना चाहते थे। लेकिन, चूँकि दूसरे वर्ग ने

सुख के विषयों के खो जाने से दुःख होता है। राग में उत्पन्न पंचस्कंध कष्टमय है।

अतः, गौतम बुद्ध ने इस दुःख से छुटकारा प्राप्त करने का उपदेश दिया। लेकिन, इसके लिए दुःखों के कारणों के बारे में जानना आवश्यक है। उन्होंने बताया कि जन्म-मरण के चक्र को चलानेवाली तृष्णा दुःख का मूल कारण है। यह दूसरा आर्यसत्य है। उन्होंने दुःख के कारणों को 'द्वादस निदान' अथवा 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धांत में अच्छी तरह समझाया है।

तीसरा आर्यसत्य दूसरे का तार्किक अनुवर्त्तन है। दुःख का नाश होता है। वास्तव में, यह तृष्णा का विनाश है, जिसमें कोई वासना नहीं रह जाती है। यदि हम स्वहित की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठ सकें, तो हमें दुःख से छुटकारा मिल सकता है।

चार आर्यसत्यों में जीवन की समस्या के प्रति बुद्ध का दृष्टिकोण मूलतः एक चिकित्सक का दृष्टिकोण है। वे सबसे पहले लक्षणों का निरीक्षण करते हैं और तब उन्हें चिंता होती है। इन लक्षणों का सार प्रथम आर्य-सत्य में दिया गया है। जीवन दुःखमय है। उसके बाद दूसरा कदम निदान है। प्रश्न यह है कि दुःख का कारण क्या है। इसका उत्तर तीसरे आर्यसत्य में मिलता है, जिसमें आशा की किरण है। दुःख का कारण तृष्णा है।

चौथे आर्यसत्य में बुद्ध दुःखों से छूटने का रास्ता बताते हैं। बुद्ध ने दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग दिखलाकर निराशा में आशा का प्रकाश दिखलाया है। बुद्ध ने एक मध्यम मार्ग का पता लगाया है। यह एक ऐसा मार्ग है, जो आँखों को खोलता है और बुद्धि प्रदान करता है और उच्च प्रज्ञा और निर्वाण की ओर ले जाता है। यह अष्टांग मार्ग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बौद्ध-धर्म में जीवन का तत्त्वमीमांसीय विवेचन नहीं किया गया। वे केवल मानव-जीवन को दुःख से मुक्त करना चाहते थे। यही कारण था कि वे बहुत से आध्यात्मिक प्रश्नों के बारे में चुप रहे। बुद्ध के अनुसार, निर्वाण एक आनंद की अवस्था है। यह पूर्ण शांति की अवस्था है। यह ईश्वर तो नहीं है, लेकिन ईश्वर की अवधारणा के बहुत ही निकट है।

सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि बुद्ध ने आत्मा को स्वीकार नहीं किया, फिर भी उनका पुनर्जन्म और कर्म में विश्वास था। लेकिन, उन्होंने पुनर्जन्म को इस अर्थ में नहीं माना कि आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करती है। उनके अनुसार पुनर्जन्म का अर्थ है एक जन्म के कारण दूसरा जन्म होता है। दोनों में कार्य-कारण-संबंध होते हुए भी दोनों एक दूसरे से अलग हैं। बौद्ध-धर्म में अंतिम सिरे की कल्पना नहीं की गई है, लेकिन इसमें हम दिशा जान सकते हैं। पूर्ण मुक्ति से ही पूर्ण भाव आ सकता है।

गौतम बुद्ध के मरने के बाद बौद्ध-संघ के लोग बुद्ध के उपदेशों का अपने अनुसार अर्थ लगाने लगे। इस प्रकार, बौद्ध अनेक संप्रदायों में बँट गए। बौद्ध-धर्म उन प्रश्नों पर विभक्त हुआ, जिनके संबंध में मनुष्यों में हमेशा मतभेद रहा है। अब कितने ऐसे प्रश्न थे? ऐसे कम-से-कम तीन प्रश्न देखने को मिले हैं। पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य स्वतंत्र है या एक-दूसरे पर निर्भर। दूसरा प्रश्न यह है कि मनुष्य का जगत् से क्या संबंध है। यह जगत् उसका मित्र है या उसके उद्देश्य की पूर्ति में उदासीन? तीसरा प्रश्न यह है कि मनुष्य का सबसे अच्छा अंग क्या है, उसका मस्तिष्क या उसका हृदय?

इन प्रश्नों पर मनुष्यों में हमेशा से मतभेद होते रहे हैं और यही कारण है कि बौद्धों में भी मतभेद हुए। एक वर्ग ने कहा था कि मनुष्य एक व्यक्ति है। वह जो भी प्रगति करता है, अपने कर्मों के बल पर करता है और उसकी प्रज्ञा ही उसे लक्ष्य की ओर ले जा सकती है। दूसरे वर्ग ने ठीक इसके विपरीत कहा। मनुष्य की नियति उसके सहयोगियों के साथ स्थायी रूप से फँसी है। अनुग्रह एक तथ्य है और प्रेम इस जगत् की सबसे बड़ी वस्तु है। अन्य मतभेद इन्हीं दो आधारभूत मतभेदों से संबंधित थे। पहले वर्ग ने इस बात पर बल दिया कि बौद्ध-धर्म का पालन करना पूरे समय का काम है। यह वर्ग प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा नहीं रखता कि वह निर्वाण-प्राप्ति को अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाए और जो बनाना चाहते हैं, उन्हें यह संसार छोड़ना पड़ेगा और भिक्षु बनना पड़ेगा। दूसरे वर्ग का दृष्टिकोण जितना वृत्तिकों के लिए प्रासंगिक था, उतना ही साधारण व्यक्तियों के लिए भी। दोनों ने अपने को 'यान' की संज्ञा दी; क्योंकि दोनों मनुष्य को भवसागर पार कराकर बुद्धत्व की प्राप्ति कराना चाहते थे। लेकिन, चूँकि दूसरे वर्ग ने

अनुग्रह के सिद्धांत की ओर संकेत किया और इसमें साधारण लोगों को भी स्थान दिया गया, इसलिए इसे 'महायान' कहा गया और पहलेवाले को 'हीनयान' कहा गया। लेकिन हीनयान-संप्रदाय के लोग अपने इस ईर्ष्यास्पद नाम से प्रसन्न नहीं हुए, इसलिए अपने सम्प्रदाय को थेरवाद कहलाना अधिक अच्छा समझा, जिसका अर्थ होता है—श्रेष्ठों का मार्ग। इस प्रकार, इनका कहना है कि गौतम बुद्ध ने मूल रूप से जो उपदेश दिए, उन्हीं का वह प्रतिनिधित्व करता है। जो भी हो, हमें उनके मतभेदों के बारे में अधिक विचार नहीं करना है, वरन् उनकी स्थितियों पर विचार करना है।

१. थेरवादी बौद्ध-धर्म मनुष्य को मूलतः व्यक्ति के रूप में मानता है, उसकी मुक्ति दूसरों पर आश्रित नहीं है। महायान इसके विपरीत कहता है। इसके अनुसार चूँकि जीवन एक है, अतः व्यक्ति का भाग्य दूसरों के साथ जुड़ा है।

२. थेरवाद मानता है कि मनुष्य स्वयं अपने भरोसे इस जगत् में है। चूंकि उसकी सहायता के लिए कोई अधिमानवीय ईश्वर नहीं है, अतः उसे स्वावलंबी होना है। इसके विपरीत महायान अनुग्रह को एक तथ्य मानता है।

३. थेरवाद में 'बोधि' अर्थात्, प्रज्ञा को मुख्य सद्‌गुण माना गया। लेकिन, महायान के अनुसार, करुणा के अभाव में प्रज्ञा निरर्थक है।

४. थेरवादी बौद्ध-धर्म भिक्षुओं पर केंद्रित है। इसके विपरीत, महायान मुख्यतः साधारण व्यक्तियों के लिए है।

५. थेरवादी 'अर्हत्' को आदर्श मानते हैं। इसके विपरीत महायान का आदर्श 'बोधिसत्त्व' है।

६. थेरवाद के अनुसार बुद्ध एक महात्मा थे, लेकिन महायान उन्हें मोक्षदाता मानते थे।

७. थेरवाद रूढ़िवादी था, लेकिन महायान उदार।

८. थेरवाद में कर्मकांड का कोई स्थान नहीं था, लेकिन महायान में इसका थोड़ा स्थान है।

इन दोनों में महायान-संप्रदाय को अपने उद्देश्य में काफी सफलता मिली। यह तथ्य इस बात से सिद्ध हो जाता है कि इसने विश्व के सबसे बड़े राजा का धर्म परिवर्तन किया, जिसका नाम सम्राट् अशोक था। इसमें अनुग्रह

और करुणा के लिए स्थान था, इसलिए लोगों पर इसका काफी प्रभाव पड़ा। आगे चलकर महायान और संप्रदायों में विभक्त हो गया, जिनमें मुख्य जापान का जेन बौद्ध-धर्म है। जेन का अर्थ ध्यान होता है। महायान-संप्रदाय की तरह ही जेन बौद्ध-धर्म अपने को गौतम का ही अनुगामी मानता है। जेन दृष्टिकोण, एलिस के काल्पनिक लोक में विचरण करने के समान है। जेन किसी प्रकार की वृत्ति में रुचि नहीं रखता है। वह इस जीवन की अनुभूति में विश्वास करता है। जेन बुद्धत्व के सिद्धांतो में विश्वास नहीं करता, वह अपने अनुयायियों को बुद्धत्व में डुबो देना चाहता है। जेन मनुष्य को जगत् से दूर नहीं ले जाना चाहता, वह एक नए दृष्टिकोण के साथ उसे इस जगत् में वापस भेज देता है। जेन का जापान के सांस्कृतिक जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बौद्ध-धर्म, जो कर्मकांड, ईश्वर, रहस्य, अनुग्रह आदि के विरोध में उत्पन्न हुआ था, उसका अंत इन्हीं की भरमार में हुआ। आज बौद्ध-धर्म में अनेक विरोधाभास हैं और दुःख की बात तो यह है कि इसका जहाँ जन्म हुआ, वहीं इसका लोप होता जा रहा है।

३. जैन-धर्म

युगों से हम धर्म के क्षेत्र में दो विचारधाराएं देखते हैं। एक का संबंध मुख्यतः पूजा और यज्ञ से है और दूसरे का आत्मसंयम और आध्यात्मिक उन्नयन से। प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य 'मेघ', 'वर्षा', 'अग्नि' और इसी तरह के अन्य कल्पित प्राकृतिक देवताओं को अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु अर्पित करते थे। लेकिन, जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ, मनुष्य का जीवन अधिक-से-अधिक सुव्यवस्थित होता गया और उसकी धार्मिक विचारधारा आध्यात्मिक स्वरूप लेकर विकसित हुई। उसका ध्यान जीवन-मरण के कारणों, संन्यास आदि की ओर गया।

जैन-विचारधारा का संबंध मुख्यतः दूसरे प्रकार की धार्मिक विचारधारा से है। कहा जाता है कि चौबीस आध्यात्मिक नेताओं ने इस धर्म का उपदेश दिया, जिन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। इनके नाम हैं: ऋषभनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदनाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभ, पुष्पदंत (सुविधिनाथ), शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर। जैन-परंपरा के अनुसार जैनधर्म का उद्भव ऋषभनाथ से हुआ। इन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है। भागवतपुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभनाथ जैनमत के संस्थापक थे। इन चौबीस तीर्थंकरों में ऋषभनाथ और महावीर के नाम सबसे अधिक सम्मान के साथ लिए जाते हैं। जैन लोग 'जिन' के अनुयायी कहे जाते हैं। 'जिन' का अर्थ है विजेता। यह उपाधि महावीर को दी गई थी। जैनमत मुख्यतः नैतिक है।

प्राचीन भारतीय विचारधारा में जैनमत उपनिषद् और सांख्य-दर्शन से साम्य रखता है। जैनधर्म आज भी भारत में जीवित है और लाखों लोग इसके अनुयायी हैं। हालाँकि, जैनमत ने आरंभ में वेदों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, लेकिन वैदिक सिद्धांतों के साथ इसके निरंतर संपर्क के कारण इसके आधारभूत अभ्युपगमों में काफी परिवर्तन हुए।

जैन-धर्म एक निरीश्वरवादी धर्म समझा जाता है। जगत् के सृष्टिकर्त्ता के रूप में यह ईश्वर में विश्वास नहीं करता। जैन यह नहीं मानते कि ईश्वर कोई मूर्त्तिकार है, जिसने सूर्य, चन्द्रमा, तारे और अन्य सभी प्राणियों का निर्माण किया है। वे किसी देवता को नहीं मानते। उनका ईश्वर इस जगत् का सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता, प्राणियों का न्यायकर्त्ता या जगत् का संहारकर्त्ता नहीं है। उनके अनुसार ईश्वर 'जिन' हैं, अर्थात् जो जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो गए हैं। जन्म मरण ही दुःख है और इसका मूल कारण कर्म है—'जैसा करोगे वैसा भरोगे'। इस प्रकार, हम अपने प्रयासों से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। भारत की सभी दार्शनिक प्रणालियों में कर्म-सिद्धांत का विवेचन मिलता है, लेकिन जैन-धर्म में यह चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है और इसका एक अपना ही महत्त्व है। भाग्य कर्मों का फल है। यदृच्छा से नहीं, बल्कि अपने निरंतर प्रयासों से हम आध्यात्मिक मोक्ष के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकते हैं। इन चौबीस तीर्थंकरों का जन्म इस धरती पर किसी-न-किसी समय हुआ और इन सबने अपने कर्मों से मोक्ष की प्राप्ति की। प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन में पाँच शुभ घटनाएँ हुईं, जिन्हें 'पंचकल्याणक' भी कहा जाता है। ये हैं स्वर्ग से उतरना, पृथ्वी पर जन्म लेना, तापसी जीवन में प्रवर्त्तन, सर्वज्ञता की उपलब्धि और निर्वाण की प्राप्ति।

जिनसेन के आदिपुराण में यह कहा गया है कि काल कल्पों की एक अपरिमित शृंखला से बना है। प्रत्येक कल्प एक चक्र के समान है, जो कभी ऊपर और कभी नीचे घूमता है। यह नीचे घूमने पर एक युग का निर्माण करता है और ऊपर घूमने पर दूसरे युग का। इसके दोनों युग सर्पों के प्रभाव में हैं। जो युग उस चक्र के नीचे की ओर घूमने का प्रतिरूपण करता है, वह एक बुरे सर्प के प्रभाव में है। इस युग में परमानंद की अवस्था की, दुर्व्यवस्था और नैराश्य में क्रमिक अवनति होती है। जब यह चक्र ऊपर की ओर जाता है, तब यह अच्छे सर्प के प्रभाव में आ जाता है। सत्य और धार्मिकता का साम्राज्य होता है। इस युग में जगत् घोर नैराश्य से परमानंद की ओर उन्नति करता है। यह छह अवस्थाओं में प्रगति करता है। प्रत्येक अवस्था पहले से सुखद होती है। इस काल-चक्र के बारह अरे (स्पोक) हैं। हर एक युग के लिए छह अरे हैं, जो छह अवस्थाएँ निरूपित करते हैं।

जब ऋषभ के पृथ्वी पर अवतरित होने का समय हुआ, तब यह काल-चक्र

नीचे की ओर अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं से गुजर चुका था। प्रथम अवस्था आनंद की अवस्था थी। लोग स्वस्थ और सुंदर थे। वे क्रोध, अहंकार और लोभ से अपरिचित थे। उनकी आवश्यकताएँ दस कल्पवृक्षों से पूरी होती थीं। दूसरी अवस्था भी आनंद की अवस्था थी, लेकिन पहली अवस्था की तरह नहीं। जैसे-जैसे इन कल्पवृक्षों की शक्ति घटने लगी, समृद्धि समाप्त होने लगी। तीसरी अवस्था में आनंद के साथ दुःख का मिश्रण हुआ। इस युग के अंत में जैसे जैसे दुःख बढ़ता गया और आनद में कमी होने लगी, उस समय चौदह धर्माध्यक्ष प्रकट हुए, जिन्होंने समय-समय उत्पन्न होकर उन लोगों को उपदेश दिए, जिनकी आवश्यकताएँ कल्पवृक्षों की शक्ति घटने से बढ़ गई थीं। इसी समय उन्होंने सूर्य, चन्द्रमा और तारे देखे; क्योंकि इस समय तक ज्योतिर्मय कल्पवृक्ष की प्रभा से उनकी रोशनी ढकी हुई थी। चूंकि, लोगों के लिए ये चीजें नई थीं, अतः वे धर्माध्यक्ष के पास भागे। उन्होंने उन्हें यह कहकर शान्त किया कि ये आकाशीय पिंड हैं और उनके लिए लाभदायक सिद्ध होंगे।

इन चौदह धर्माध्यक्षों में अंतिम नाभिराय थे। उनके समय में कल्पवृक्ष लगभग सूख गए थे। उन्होने लोगों से फल और अन्न खाने के लिए कहा। लेकिन, ये चीजें शीघ्र ही उनके लिए अजीर्णकारी सिद्ध हुई। तब नाभिराय ने उनके लिए एक कुंभ का आविष्कार किया, जिसमें वे खाना पका सकें। इसी समय देवतागण पृथ्वी पर आए और उन्होने एक नगर का निर्माण किया और लोगों को वसाया। इसका नाम अयोध्या था। इस नगर में नाभिराय और उनकी पत्नी, मरुदेवी रहती थी। ऋषभ का जन्म मरुदेवी की कोख से हुआ। उन्होने उस रात सोलह शुभ स्वप्न देखे। कहा जाता है कि इनका जन्म सूर्योदयकाल में हुआ और उस समय इंद्र का सिंहासन डोल गया। उन्होंने समझ लिया कि यह एक महान् घटना है। धीरे-धीरे ऋषभ बड़े हुए। उनका विवाह दो राजकुमारियों—यशस्वती और सुनंदा से हुआ। पहली रानी से सौ पुत्र हुए, जिनमें प्रथम भरत थे और उसके बाद ब्राह्मी पुत्री उत्पन्न हुई। दूसरी रानी से बाहुबलि नामक पुत्र और सुंदरी, पुत्री उत्पन्न हुई।

ऋषभ के समय में कल्पवृक्ष पूरी तरह सूख गए थे। लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में खाना नहीं था, इसलिए वे ऋषभदेव के पास पहुँचे। उन्होंने उन्हें बहत्तर कलाओं का उपदेश दिया, जिनमें कृषि, व्यापार, युद्ध-कौशल, संगीत,

नृत्य, चित्रकारी आदि कलाएँ शामिल थीं। उन्होने ब्राह्मी को लिखने की कला सिखाई और सुंदरी को लिखने की कला के साथ गणित की शिक्षा दी।

ऋषभदेव ने व्यवसाय के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में लोगों का वर्गीकरण किया तथा इंद्र और अन्य देवताओं की उपस्थिति में वे इस पृथ्वी के प्रथम राजा बने।

एक दिन ऋषभ के राजदरबार में नीलांजना नाम की परी नृत्य कर रही थी। इंद्र ने उसे भेजा था; क्योंकि उसे कुछ ही क्षण जीवित रहना था। जब वह नृत्य कर रही थी, तभी वह लड़खड़ाई और चक्कर खाकर गिर पड़ी और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। जो लोग नृत्य देख रहे थे, उनपर इस घटना का बहुत बड़ा असर पड़ा। उन्हें स्मरण हुआ कि जीवन क्षणभंगुर है। ऋषभ ने भी अनुभव किया कि सांस्कृतिक जीवन में कुछ नहीं रखा है, इसलिए उन्होंने इसे छोड़ने का निश्चय किया। देवताओं ने इस निर्णय का स्वागत किया। उन्होंने अपने पुत्र भरत को अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और अपनी रोती-बिलखती रानियों को छोड़ देवताओं द्वारा भेजी गई पालकी में बैठकर वे सिद्धार्थवन पहुंचे और वहाँ उन्होंने दीक्षा ली। उन्होंने अपने सारे आभूषण उतार दिए। उन्होंने छह महीने तक उपवास किया। इसके बाद वे खाने की खोज में शहर निकले। वे उचित भोजन ग्रहण करना चाहते थे। राजा श्रेयांस ने उन्हें गन्ने का रस दिया, जिससे उन्होंने अपना उपवास तोड़ा। इस प्रकार, हजारों साल तक उन्होने तपस्या की और अंत में कैवल्य प्राप्त किया।

महावीर अंतिम तीर्थकर थे। कल्पसूत्र में कहा गया है कि स्वर्ग में निर्धारित समय तक रहने के बाद उन्होंने ऋषभदत्त की ब्राह्मणी पत्नी देवनंदा की कोख में गर्भधारण किया। लेकिन इसी बीच जब इंद्र को यह बात मालूम हुई, तब उन्हें ध्यान आया कि तीर्थकर तो केवल राजकुल में ही जन्म ले सकते हैं। तब उन्होंने निश्चय किया कि ब्राह्मणी नंदा की कोख, राजा सिद्धार्थ की पत्नी क्षत्रियाणी त्रिशला की कोख से बदल दी जाए। ऐसा ही हुआ। क्षत्रियाणी त्रिशला ने उस रात चौदह शुभ स्वप्न देखे। उन्होंने अपने राजा से इन स्वप्नों के बारे में बताया। राजा ने स्वप्नों के व्याख्याताओं को बुला भेजा। इन लोगों ने बताया कि इन

संप्रदाय में मोक्ष के लिए नग्नत्व को आवश्यक बताया गया है, किंतु श्वेतांबर ऐसा नहीं मानते। दिगंबर-संप्रदाय स्त्री-मुक्ति का निषेध करते हैं, लेकिन श्वेतांबर-संप्रदाय में उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ को मल्लिकुमारी के रूप में स्वीकार किया गया है। दिगंबर श्वेतांबर-संप्रदाय द्वारा मान्य आगम-ग्रंथों को प्रामाणिक नहीं मानते।

श्वेतांबरों के दो भेद हैं: मूर्त्तिपूजक और स्थानकवासी। मूर्त्तिपूजक श्वेतांवर चौरासी गच्छों को मानते हैं, जिनमें उपकेश, खरतर, तपा, पायचंद, पूनमिया, अंचल, आगमिक आदि मुख्य गच्छ हैं। स्थानकवासी मूर्त्तिपूजा को नहीं मानते। वे केवल बत्तीस आगमों को प्रमाण मानते हैं। उनकी समस्त धार्मिक क्रियाएँ स्थानक (उपाश्रय) में होती हैं, इसलिए वे स्थानकवासी कहे जाते हैं।

दिगंबर-संप्रदाय के अनुसार प्रख्यात आचार्य अर्हद्‌बलि ने अपने संघ को चार शाखाओं में विभक्त किया—नंदीसंघ, सेनसंघ, सिंहसंघ और देवसंघ। श्वेतांबरों की भांति दिगंबरों में भी मूर्त्तिपूजक और अमूर्त्तिपूजक नाम के उप-सम्प्रदाय पाए जाते हैं। तारणपंथी मूर्त्तिपूजा के विरोधी हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन-धर्म और धर्मों की अपेक्षा अहिंसा पर अधिक बल देता है। वह भाग्य के बजाय कर्म में विश्वास करता है। चूंकि जैन-धर्म दुःख पर बल देता है, इसलिए कुछ लोगों का विचार है कि यह निराशावादी धर्म है। लेकिन, यह सही नहीं है; क्योंकि जैनधर्म शाश्वत आनंद प्राप्त करने का एक मार्ग बताता है। मनुष्य दुःख से छुटकारा प्राप्त करके मोक्ष का प्राप्ति कर सकता है। जैन मान्यता के अनुसार, जैन-धर्म अनादि काल से चला आया है और अनंत काल तक चलता रहेगा। इस धर्म का प्रचार करने के लिए समय-समय अनेक जैन मुनियों का आविर्भाव होता रहता है। श्रीपुण्यविजयजी महाराज, उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी, आचार्य श्रीदेशभूषण महाराज, आचार्य तुलसी आदि कई लोगों ने जैन-धर्म के प्रचार-कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया है और भविष्य में भी यह धर्म फलता-फलता रहेगा।

न्याय-वैशेषिक मत

न्याय-मत

धर्म से पृथक् सदाचार या सामाजिक कर्त्तव्यशास्त्र का कोई विधान नहीं है। उसका दर्शन के साथ अविभाज्य संबंध है। यह केवल हिन्दूधर्म की बात नहीं है। परम-सत्ता में आस्था रखनेवाले सभी धर्मों का यह रहस्य है। भारत में लौकिक धारणाओं के बीच अबाध गति से बहनेवाली कर्त्तव्य की धारा धर्म है और सभी भारतीय दार्शनिक मत और सम्प्रदाय धर्म की इस मूल व्याख्या को स्वीकार करते हैं। धर्म जैसा हिन्दुओं के लिए है, वैसा ही बौद्धों, वैष्णवों, शैवों, जैनों और भारतीय दर्शन के अन्तर्गत आनेवाले सभी वर्गों के लिए है। धर्म बतलाता है कि हमें हर दशा में अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए। सभी धार्मिक संप्रदाय यह मानते हैं कि निःस्वार्थ भाव से काम करना चाहिए। सभी दार्शनिक मत अपने-अपने ढंग से मनुष्य को चिरंतन सत्य का दर्शन कराने का प्रयत्न करते हैं। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य किस प्रकार सदाचार व्रत का पालन करे, धर्म इसका निर्देश करता है।

भारत में छह दर्शन, वैदिक दर्शन के नाम से जाने जाते हैं—महर्षि गौतम का 'न्याय', कणाद का 'वैशेषिक', कपिल का 'सांख्य', पतंजलि का 'योग', जैमिनी का 'पूर्वमीमांसा' और बादरायण का 'उत्तरमीमांसा' अथवा वेदान्त। ये वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। जो दर्शन वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं, उन्हें आस्तिक कहा जाता है, और जो नहीं स्वीकार करते, उन्हें नास्तिक कहा जाता है। प्रत्येक दर्शन में धार्मिक विवेचन की भाषा लगभग एक-सी है। फिर भी, यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अविद्या, माया, पुरुष और जीव आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। सभी दर्शन यह मानते हैं कि उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का क्रम अनंत-काल से चला आ रहा है और अनंत-काल तक चलता रहेगा। सभी दर्शन मोक्ष प्राप्त करने के उपाय ढूंढ़ने की कोशिश करते हैं।

न्याय-दर्शन का तर्कपक्ष अधिक प्रचलित है। इसके अनुसार जीवन और धर्म के लक्ष्यों की प्राप्ति विशुद्ध ज्ञान के साधनों और उसकी विधियों की

अन्वीक्षा से हो सकती है। जो तर्क की कसौटी पर ठीक उतरता है, वही सत्य है। न्याय-मत की विशेषता यह है कि वह आध्यात्मिक समस्याओं का अन्वीक्षात्मक दृष्टि से विवेचन करता है। न्याय और वैशेषिक दोनों क्रमशः आन्तरिक तथा बाह्य जगत् की व्याख्या करते हैं। न्याय विस्तार से ज्ञान प्राप्त करने की विधि की व्याख्या करता है। दूसरी ओर वैशेषिक का मुख्य विषय इंद्रिय-जन्य-ज्ञान का विश्लेषण करना है। लेकिन, दोनों दर्शन एक-दूसरे के पूरक माने गए हैं।

न्याय-मत के अनुसार निःश्रेयस न्यायशास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन है। निःश्रेयस का अर्थ है—अपवर्ग, मोक्ष, अर्थात् एक ऐसी अवस्था, जिसमें दुःख होने की संभावना नहीं रहती। यही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। न्यायशास्त्र के अध्ययन से पदार्थों का तत्त्वज्ञान होता है और उससे आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। तत्त्व-साक्षात्कार से मिथ्या-ज्ञान का अंधकार हटता है, जिससे राग, द्वेष और मोहरूप दोषों से मुक्ति मिलती है। इसके बाद पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है और इस प्रकार दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। जिन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है, उनकी संख्या न्यायशास्त्र में सोलह मानी गई है : प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान। न्याय-दर्शन में चार प्रमाण माने गए हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

न्याय का आश्रय लेकर आत्मदर्शन के लिए अग्रसर होने के कारण ही इस दर्शन का नाम न्याय-दर्शन पड़ा है। यहाँ न्याय से तात्पर्य है पंचावयवात्मक वाक्य। ये पाँच अवयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चारों प्रमाणों का समावेश होता है। इन चारों प्रमाणों द्वारा समर्थित अर्थ सर्वमान्य होता है, अतएव इसे 'परमन्याय' माना जाता है।

न्याय-मत के अनुसार धर्म जीवात्मा का इन्द्रियातीत गुण है। यह शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न होता है। यही कर्मों के भावी इष्ट फलों का उत्पादक है और फलों के भोग के अनंतर समाप्त हो जाता है। अधर्म भी जीवात्मा का इंद्रियातीत गुण है। यह शास्त्रों द्वारा वर्जित कर्मों से उत्पन्न होता है। उन कर्मों के भावी फलों का उत्पादक होता है और कर्म फलों के भोग के अनंतर समाप्त हो जाता है। धर्म और अधर्म के लिए 'दैव',

'अदृष्ट' आदि शब्द भी व्यवहृत होते हैं। परमात्मा की तरह जीवात्मा नित्य मुक्त नहीं है। वह अनादि काल से धर्म, अधर्म तथा विविध भावना नामक संस्कारों के कारण बंधन में पड़ा है। वह पहले के अर्जित धर्म और अधर्म के फल का भोग करने के लिए तदनुरूप शरीर धारण करता है और साथ ही नये धर्म और अधर्म भी अर्जित करता है। इस प्रकार, वह जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है। इसका मूल कारण आत्माभिमान है। जब तक आत्माभिमान का नाश नहीं होता, जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाना संभव नहीं है। इसलिए, न्यायदर्शन आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराके आत्माभिमान को नष्ट करने का मार्ग प्रशस्त करता है और इस प्रकार मनुष्य को जन्म-मरण से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न करता है।

न्याय-मत के अनुसार ईश्वर जगत् का सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता है। वह जगत् का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं। वह जीवात्माओं के कर्मों का निर्देश करता है। वह जीवों के अदृष्ट के अनुसार उन्हें कर्म करने को प्रेरित करता है और उन कर्मों के अनुसार वे जीवात्मा फल पाते हैं। ईश्वर मनुष्यों का धर्म-व्यवस्थापक है। वह विश्वकर्मा है। वह परमाणुओं, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से जगत् की सृष्टि करता है। वह इस जगत् की देख-रेख करता है। उसकी इच्छा से ही यह जगत् स्थिर है। लेकिन, वह धार्मिक प्रयोजनों के लिए जगत् का संहार भी कर सकता है। दिक्, काल, आदि द्रव्यों का ईश्वर के साथ शरीर और आत्मा का संबंध है। वह सर्वशक्तिमान् है। मनुष्य के पाप-पुण्य से वह सीमित नहीं होता। वह सर्वज्ञ है। उसे सभी वस्तुओं और घटनाओं का यथार्थ ज्ञान है। वह स्वयं ज्ञान नहीं है, ज्ञान का आश्रय है। वह पूर्ण और अखंड है। ईश्वर की कृपा के बिना जीवात्मा न तो प्रमेयों का वास्तविक ज्ञान पा सकता है और न इस जगत् के दुःखों से छुटकारा पाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। जीवात्माएँ अनंत हैं। सर्वोपरि आत्मा ईश्वर है। ईश्वर विशुद्ध, प्रतिभा तथा परमानंद का भांडार है।

उदयन-कृत न्यायकुसुमांजलि नामक ग्रंथ ईश्वर के अस्तित्व-संबंधी न्याय के प्रमाणों का शास्त्रीय विवरण है। इस ग्रंथ में एक अदृष्ट कारण की यथार्थ सत्ता दरसाई गई है, जो हमारे सुख और दुःख का निर्णायक है। हरेक कार्य का कारण होता है। इसलिए, हमारे सुख-दुःख का भी कोई कारण अवश्य

होना चाहिए। अदृष्ट अच्छे-बुरे कर्मों से उत्पन्न पाप-पुण्य का भांडार है। अच्छे कर्म हमारी आत्माओं में पुण्य पैदा करते हैं और बुरे कर्म पाप पैदा करते हैं। अदृष्ट के अनुसार मनुष्यों को इस जन्म में अथवा अगले जन्म में सुख दुःख मिलता है। लेकिन, अदृष्ट अचेतन है। वह स्वयं कर्मों और उसके फलों में व्यवस्था पैदा नहीं कर सकता। इसके लिए एक बुद्धिमान् संचालक की आवश्यकता है। जीवात्मा अदृष्ट का संचालक नहीं हो सकता। इसलिए न्याय-मत के अनुसार अदृष्ट का संचालक नित्य, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ परमात्मा ही हो सकता है। इस तरह ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

जगत् में दो तरह की चीजें हैं: सावयव और निरवयव। दिक्, काल, आकाश, आत्मा, मन, क्षिति, जल, अग्नि तथा वायु निरवयव हैं। इसके अलावा सभी चीज सावयव हैं। इसलिए, इनका कोई कारण होना जरूरी है। किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के संचालन के बिना इनके उपादानकारणों में वह रूप अथवा आकार नहीं आ सकता। इस कर्त्ता में साधक का ज्ञान, लक्ष्य-पूर्त्ति की इच्छा और प्रयत्न की शक्ति होना जरूरी है। उसे सर्वज्ञ भी होना चाहिए, अन्यथा उसे परमाणु जैसी सूक्ष्म सत्ताओं का ज्ञान कैसे होगा? कर्त्ता के ये सभी गुण ईश्वर में पाए जाते हैं। इसलिए, जगत् के कर्त्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व है।

वेदों का निर्माण करनेवाला ईश्वर है। जिस प्रकार वेद प्रामाणिक हैं, उसी प्रकार इनका निर्माता भी प्रामाणिक है। वेदों का निर्माता साधारण जीव नहीं हो सकता। उसे पूर्ण होना आवश्यक है। वेदों का निर्माता तो वही हो सकता है, जो भूत, वर्त्तमान और भविष्य, विभु और अणु, इंद्रियों से जानने योग्य और अतींद्रिय सभी विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता हो। इस तरह वेदों का निर्माता ईश्वर है और उनकी प्रामाणिकता ईश्वर पर निर्भर करती है।

आप्त वचन भी ईश्वर के अस्तित्व को साबित करते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता आदि सभी में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। न्यायकुसुमांजलि के अनुसार, जैसे वैज्ञानिक नियम की सत्यता के लिए वैज्ञानिकीकरण और उनके विज्ञान ही प्रमाण हैं, वैसे ही श्रुति भी ईश्वर को सिद्ध करने के

लिए प्रमाण है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए उदयन ने नीचे लिखे श्लोक में नौ तर्क उपस्थित किए हैं :

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।

न्याय का ईश्वर-सिद्धांत बहुत ही विवादास्पद रहा है। आलोचकों का कहना है कि नैयायिकों ने अदृष्ट के माध्यम से दार्शनिक और धार्मिक समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का असफल प्रयास किया है। सृष्टि के आरंभ में परमाणुओं में हलचल होना, आग की गति का ऊपर की ओर होना, यहां तक कि सुई का चुंबक की ओर आकृष्ट होना भी अदृष्ट के कारण माना गया है, जो उचित नहीं जान पड़ता। वे एक बुद्धिसंपन्न नियामक की कल्पना करते है, जो ईश्वर है; क्योंकि जिस क्रम से घटनाएँ होती हैं, उस अद्भुत नियमितता की व्याख्या ईश्वर ही कर सकता है; क्योंकि उसमें ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न है। नैयायिकों ने जो सिद्ध करना चाहा है, उसे पहले से स्वतः सिद्ध मान लिया है। ऐसा लग सकता है कि न्याय ईश्वर के प्रति भक्ति पर आग्रह करके मनुष्य-जाति के धार्मिक जीवन को आदर्श बनाना चाहता है; लेकिन वह ईश्वर के साथ मनुष्य का तादात्म्य स्थापित करने में असफल रहता है।

फिर भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिंदू-विचारधारा के प्रति न्याय-मत की सबसे बड़ी देन इसकी अन्वीक्षात्मक तर्क-शैली है। निश्चय ही, भारत के धार्मिक जीवन में नैयायिकों के ईश्वर-संबंधी विचारों का प्रभाव पड़ा है। हम उनकी अवहेलना नहीं कर सकते। रामानुज के भाष्य में हमें न्याय के ईश्वर-संबंधी विषयों का अधिक व्यवस्थित समन्वय मिलता है।

वैशेषिक-मत

इस दर्शन के उद्भावक महर्षि कणाद हैं। यह आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता है और उसे अजर, अमर तथा अविकारी मानता है। यह दर्शन आत्मा के विषय में वैदिक दृष्टिकोण के समर्थक होने के कारण वैदिक माना जाता है। वैशेषिक विचारकों की दृष्टि अपेक्षाकृत उच्चस्तरीय तथा सूक्ष्म रही है। अतः, वैशेषिकशास्त्र न्यायशास्त्र की अपेक्षा उच्चस्तरीय स्वीकार किया गया है। न्यायशास्त्र में प्रमाणों को महत्त्व दिया गया है जबकि वैशेषिकशास्त्र में प्रमेयज्ञान को। अतः, इस शास्त्र के महत्त्व का यह एक प्रधान कारण है।

वैशेषिक-मत के अनुसार, जगत् की सब चीजें सात पदार्थों में बाँटी जा सकती है। पदार्थ का अर्थ वह वस्तु है, जिसका किसी 'पद' से बोध होता है। इस दर्शन में 'द्रव्य', 'गुण', 'कर्म', 'सामान्य', 'विशेष' और 'समवाय', ये छह पदार्थ माने गए हैं। इनके साथ सातवाँ पदार्थ 'अभाव' परवर्त्ती वैशेषिकों ने जोड़ दिया है। 'द्रव्य' गुण-कर्म का आधार है। यह नौ तरह के हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। 'गुण' वह पदार्थ है, जो 'द्रव्य' में ही रहता है, पर जिसमें और कोई गुण या कर्म नहीं रह सकता। 'गुण' चौबीस हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या आदि। इन गुणों के भी और भेद किए गए हैं। 'कर्म' द्रव्य के मूल गतिशील धर्मों का पारिभाषिक नाम है। 'कर्म' के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन। वह सामान्य पदार्थ है, जिसके कारण भिन्न-भिन्न लोग एक जाति में शामिल होकर एक नाम से पुकारे जाते हैं। 'विशेष' पृथक्करण का आधार है। इसके द्वारा हम पदार्थों में परस्पर भेद करके उनका प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकते हैं। प्रशस्तपाद के अनुसार समवाय उस संबंध को कहते हैं, जो कि अयुत सिद्ध) वस्तुओं में होते हैं, जिनमें आपस में आधार्य और आधार का संबंध है और जो इस प्रत्यय का हेतु है कि यह उनमें है। 'अभाव' किसी वस्तु का न होना है। मुख्य रूप से अभाव के दो भेद हैं—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव।

वैशेषिक-मत के अनुसार, धर्म सांसारिक वैभव तथा आत्मिक कल्याण (निःश्रेयस) दोनों की प्राप्ति का साधन है। सांसारिक वैभव कर्मकांड से संभव है तथा निःश्रेयस तत्त्वज्ञान से प्राप्त होता है। प्रशस्तपाद के अनुसार सबसे बड़ा सुख ज्ञानी पुरुषों का सुख है। ऐसे कर्त्तव्य, जो सबपर और सब कालों तथा सब देशों में लागू हों, इस प्रकार हैं—श्रद्धा, अहिंसा, प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना, सत्यवचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, मन की शुद्धता, क्रोध का वर्जन, अभिषेचन, शुद्धिकारक द्रव्यों का प्रयोग, विशिष्ट देवता की भक्ति, उपवास, अप्रमाद। वैशेषिक-मत के अनुसार, संन्यासी वह है, जो संसार को छोड़कर जंगल में चला जाता है। संन्यासी वह है, जो मानवता के उपकार का व्रत लेता है। आत्मिक उन्नति के लिए आत्मसंयम आवश्यक है। विस्तृत अर्थों में अहिंसा ही धर्म है और सृष्टि के प्रति विद्वेष भाव अधर्म है। वैशेषिक-मत के अनुसार धर्म से तात्पर्य केवल सदाचार से नहीं है, बल्कि उस भक्ति अथवा गुण से भी है, जो मनुष्य के भीतर अवस्थित है। धर्म से उन्नति

होती है। लेकिन, धर्म से स्थायी शांति नहीं मिल सकती। सत्य-ज्ञान से ही हमें मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। हिंदू विचारधारा की अन्य पद्धतियों के समान वैशेषिक-मत भी यह स्वीकार करता है कि हमारे लिए यह संभव है कि हम या तो जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकें या निम्नतम स्तर तक जा सकें। सभी प्राणी अपने धर्म-अधर्म के अनुसार अपना स्थान प्राप्त करते हैं।

वैशेषिक-मत के अनुसार जगत् की सृष्टि चार तरह के परमाणुओं से होती है—पृथ्वी, जल, तेज और वायु। इसलिए, सृष्टि-संबंधी वैशेषिक-मत परमाणुवाद कहलाता है। परमाणुवाद जगत् के अनित्य द्रव्यों की ही सृष्टि और प्रलय का क्रम बतलाता है। नित्य पदार्थों की न तो सृष्टि होती है और न उनका विनाश ही होता है। यह परमाणुवाद आध्यात्मिक है। ईश्वर परमाणुओं का संचालक है। ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि और प्रलय होते हैं। महेश्वर अखिल विश्व के स्वामी हैं। सृष्टि और प्रलय का यह चक्र हमेशा से चला आ रहा है। ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में गति उत्पन्न होती है।

कणाद के सूत्र में स्पष्ट या प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर का उल्लेख नहीं मिलता। कणाद अदृष्ट तत्त्व के द्वारा विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन, उनके अनुयायियों ने यह महसूस किया कि अदृष्ट अस्पष्ट और धर्म-विहीन है। इसलिए, उन्होंने इसे ईश्वर की इच्छा पर निर्भर बताया। ईश्वर जगत् का नैमित्तिक कारण है और परमाणु उपादानकारण। ईश्वर के संबंध में वैशेषिक का मत भी लगभग वैसा ही है, जैसा कि न्याय का। वैशेषिक-मत के अनुसार अनेक देवता नहीं हैं; क्योंकि ऐसा होने से परस्पर विरोध अथवा कलह होने का भय है। इसलिए, केवल एक ही कर्त्ता है और वह ईश्वर है। ईश्वर सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता के कारण मानवीय आत्माओं से भिन्न है और यही गुण उसे विश्व का नियंत्रक होने की क्षमता प्रदान करता है। वह कभी जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता। वह संसार को कुछ नियमों के अधीन कर देता है और फिर इसे चलने देता है। वह चलाने के बाद उसके मार्ग में हस्तक्षेप नहीं करता। वैशेषिक-मत के अनुसार संसार एक विशाल घड़ी के समान है, जिसमें स्रष्टा एक बार गति दे देता है और फिर उसकी गति में विघ्न नहीं डालता। ईश्वर और जगत् दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। नैयायिक शिवोपासक तथा वैशेषिक पशुपति के

उपासक हैं। यह भिन्नता इनके मूल ग्रंथों के मंगलाचरणों में देखी जा सकती है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि इस मत के लोगों ने जिन तथ्यों की ओर संकेत किया, उनका भारतीय विचारधारा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेकिन, हम आगे चलकर देखेंगे कि सांख्य और वेदांत ने ईश्वर के संबंध में अधिक युक्तियुक्त विचार प्रस्तुत किया है।

सांख्य-योग

सांख्य

यह कहा गया है कि 'भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का बहुत ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार-पद्धति से सोचते थे। महाभारतकार ने यहाँ तक कहा है कि 'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् (शान्तिपर्व, ३०१। १०९)। महाभारत में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है, उसमें सांख्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शान्तिपर्व के कई स्थलों पर सांख्यदर्शन के विचारों का बड़े काव्यमय और रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है। सांख्यदर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पर्याप्त रूप से विद्यमान है।' (उदयवीर शास्त्री कृत सांख्यदर्शन का इतिहास, भूमिका)।

आज इस दर्शन के दो ही मौलिक ग्रंथ उपलब्ध हैं। पहला छह अध्यायों वाला 'सांख्यप्रवचनसूत्र' और दूसरा सत्तर कारिकाओंवाला 'सांख्यकारिका'। इनके अतिरिक्त एक छोटा सूत्रग्रंथ है, जिसका नाम है 'तत्त्वसमास'। शेष सभी सांख्य-वाङ्मय इन्हीं तीनों की टीका और उपटीका-मात्र हैं। इस दर्शन के उद्भावक महर्षि कपिल हैं।

हम ऋग्वेद में सांख्य के पुरुष-प्रकृति-सिद्धांत के कुछ अस्पष्ट संकेत पाते हैं। उपनिषदों में सांख्य-दर्शन के मुख्य विचार देख सकते हैं। कहना गलत है कि यह दर्शन किसी भौतिकवादी संप्रदाय का परिष्कृत रूप है। इस दर्शन में कोई ऐसी बात नहीं मिलती, जिससे यह कहा जा सके कि इसका भौतिकवाद के साथ साम्य है। सांख्य के विश्व-संबंधी विचारों में उपनिषदों की यथार्थवादी प्रवृत्ति पर बल दिया गया है। सांख्य ईश्वर की सत्ता को

स्पष्ट रूप से अस्वीकार नहीं करता। यह इसे केवल अनावश्यक मानता है। यह संसार को दुःखमय मानता है। यह वैदिक यज्ञों को गौण स्थान देता है। इन बातों में यह बौद्धमत के समीप है। लेकिन, बौद्ध धर्म सांख्य के निष्क्रिय पुरुष को स्वीकार नहीं करता।

सांख्य-दर्शन के अनुसार समस्त विश्व-प्रपंच के मूलभूत दो तत्त्व हैं—पुरुष और प्रकृति। पुरुष ईश्वर नहीं है। वह जीव है। वह प्रकृति के समस्त व्यापारों का द्रष्टा है। वह जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त है। इस मत के अनुसार जगत् का उपादान-तत्त्व प्रकृति है। इसके तीन गुण हैं— सत्त्व, रजस् और तमस्। 'सत्त्व' सौजन्य और सुख उत्पन्न करता है। 'रजस्' सभी क्रियाओं का स्रोत है और दुःख उत्पन्न करता है। 'तमस्' क्रियाशीलता में बाधा पहुँचाता है। सत्त्व, रजस् और तमस् क्रमशः सुख, दुःख और आलस्य उत्पन्न करते हैं। ये तीन गुण प्रकृति के सारभूत तत्त्व हैं।

त्रिगुणात्मक प्रकृति से उद्भूत जगत् की प्रत्येक वस्तु सुख, दुःख और मोह रूप है। वाचस्पतिमिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में कहा है :

"एकैव स्त्री रूप-यौवन-कुल-शील-सम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूप-समुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीं दुःखाकरोति, तत्कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्या दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति तत्कस्य हेतोः? तं प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात्। अनया च स्त्रिया सर्वभावा व्याख्याताः।"

अर्थात्, "एक ही कुल-शील-सम्पन्न सुन्दरी युवती से उसके पति को सुख, सौतों को दुःख तथा उसे न पा सकनेवाले अन्य कामी पुरुष को मोह होता है। इससे स्पष्ट है कि उस युवती में उन विभिन्न प्राणियों के लिए सुख, दुःख और मोह तीनों बातें विद्यमान हैं। यही स्थिति संसार के अन्य सभी पदार्थों की है।"

सृष्टि के पहले सभी गुण साम्यावस्था में रहते हैं। पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य से गुण क्षोभ होता है। प्रकृति में भीषण उथल-पुथल मच जाती है। एक गुण दूसरे गुण पर अधिकार जमाने की कोशिश करता है। अपने-अपने प्रभुत्व के अनुसार सृष्टि आरंभ होती है। सबसे पहले महत् उत्पन्न होता है। यह व्यक्ति की बुद्धि का आधार है। सत्त्व गुण की अधिकता के कारण बुद्धि

का उदय होता है। उसका स्वाभाविक धर्म स्वयं को तथा दूसरी चीजों को प्रकाशित करना है। सत्त्व के प्रभुत्व से बुद्धि में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य बढ़ता है। तमस् की अधिकता से अधर्म, अज्ञान और आसक्ति पैदा होती है। महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान अहंकार है: 'अभिमानोऽहङ्कारः'। अहंकार के कारण ही पुरुप अपने को कर्त्ता, कामी और स्वामी समझने लगता है। अहंकार ही संसार के सब व्यवहारों का मूल है। अहंकार से इसके सात्त्विक (वैकारिक) रूप में मन, पाँचों ज्ञानेंद्रियाँ और पाँचों कर्मेंद्रियाँ विकसित होती हैं। इसीसे इसके तामस (भूतादि) रूप में पाँच सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न होते हैं। राजस (तैजस) रूप दोनों में रहता है। नेत्र, श्रवण, घ्राण, रसना और त्वचा पाँच इंद्रियाँ हैं। पांच ज्ञानेंद्रियों से क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद और स्पर्श का ज्ञान होता है। ये सब पुरुप के लिए उत्पन्न होते हैं और अहंकार के परिणाम हैं। कर्मेंद्रियाँ जिह्वा, पाद, हस्त, मलत्याग तथा जनन के व्यापार हैं। विषयों के सूक्ष्म तत्त्व तन्मात्र कहलाते हैं। पाँच विषयों के पाँच तन्मात्र होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। तन्मात्र बहुत सूक्ष्म हैं, इसलिए देखे नहीं जा सकते। न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्मात्र महाभूत से उत्पन्न होते हैं। पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि विकास-क्रम में चार प्रकार के तत्त्व हैं: प्रकृति, विकृति, प्रकृति-विकृति, तथा न प्रकृति, न विकृति। पुरुप न प्रकृति है, न विकृति। प्रकृति केवल प्रकृति है। महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्र प्रकृति और विकृति दोनों हैं। पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच महाभूत तथा मन केवल विकृति हैं। सांख्य का विकासवाद प्रयोजनवादी है। प्रकृति पुरुप को मुक्ति दिलाने में सहायक है।

सांख्य के अनुसार, जगत् का मूल कारण प्रकृति है। यह आदिकारण है। चूँकि यह ज्ञान का विरोधी है, अतः अविद्या और माया कहलाती है। यह सूक्ष्म और अदृश्य है। चार्वाक, बौद्ध, जैन तथा न्याय-वैशेषिक मतों के अनुसार जगत्, पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं से बना है। लेकिन, सांख्य का कहना है कि इन भौतिक परमाणुओं से मन, बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् का मूल कारण ऐसा होना चाहिए, जो अनादि और अनन्त हो। ये गुण प्रकृति में मिलते हैं। प्रकृति से उत्पन्न

वस्तुएँ परतंत्र, सापेक्ष, अनेक तथा अनित्य है; क्योंकि उनका जन्म और मृत्यु, उत्पत्ति तथा विनाश होता है।

प्रकृति के बाद सांख्य का दूसरा तत्त्व पुरुष या आत्मा है। वह ज्ञाता है। वह स्वयंभू और रागद्वेष से परे है। वह देश, काल, परिवर्त्तन और क्रिया से परे है। वह शुद्ध चैतन्य है। अद्वैत वेदांत के विपरीत और जैन तथा मीमांसा की तरह सांख्य-मत भी बहुत से पुरुष मानता है। इसकी सत्ता स्वयं-सिद्ध है। 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है'—ये आत्मा के परिचायक हैं। सृष्टि के आदिकाल से पुरुष और प्रकृति का साथ चला आया है। पुरुष का बिंब प्रकृति या बुद्धि पर पड़ता है। जिस प्रकार चांदी के कटोरे के नजदीक गुलाब का फूल रख दिया जाए और उसका बिंब उस कटोरे पर पड़ता है, उसी प्रकार प्रकृति पर पुरुष का बिंब पड़ता है। इस प्रकार, प्रकृति स्वयं को चेतन मानने लगती है। पुरुष स्वयं को कर्त्ता, भोक्ता तथा आसक्त मानने लगता है। पुरुष और प्रकृति के इसी आरोपित संबंध को 'बंधन' कहा जाता है। इस 'बंधन' से मुक्ति तब मिलती है, जब 'पुरुष' अपने स्वरूप का ज्ञान करता है। अविद्या के विनाश के साथ पुरुष और प्रकृति को अपने वास्तविक स्वरूप की प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रकृति के विकास में न केवल एक आकर्षक सौंदर्य है, अपितु यह अपने भीतर एक ऐसी योजना को सँजोए है, जो धार्मिक उद्देश्यों के अनुकूल है।

सांख्य के मूल तत्त्वों को उपनिषदों तथा भगवद्गीता में आदर्शपरक ईश्वरवाद के आगे गौण स्थान प्रदान किया गया है। सांख्य-मत अपने प्राचीन शास्त्रीय रूप में ईश्वरवाद का समर्थन नहीं करता। इस मत के अनुसार, ईश्वर की यथार्थता तार्किक प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वर के पक्ष में कोई युक्तियुक्त प्रमाण अथवा आनुमानिक ज्ञान अथवा श्रुतिविहित प्रमाण नहीं है। सांख्य अनीश्वरवादी नहीं है; क्योंकि वह यह सिद्ध नहीं करता कि ईश्वर नहीं है। वह केवल यही कहता है कि ऐसी कल्पना करने का कोई हेतु नहीं है कि ईश्वर है। सांख्य एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना को स्वीकार करता है, जो सृष्टि-रचनाकाल में प्रकृति के क्रमिक विकासों की व्यवस्था करता है। शिव, विष्णु आदि केवल प्रतीति-रूप माने गए हैं। सांख्य एक ईश्वर को मानता है, जो पहले प्रकृति के अन्दर लीन था।

सच तो यह है कि वैष्णव धर्म में जिस विष्णु की कल्पना की गई है, वह

पुरुष है और जिस लक्ष्मी की कल्पना की गई है, वह प्रकृति है। ईश्वर-चिंतन की परम्परा में सांख्य-मत का निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांख्य-मत पर सांख्य-मत का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

योग-मत

पुराणों में सांख्य-मत दो प्रकार का कहा गया है। एक ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाला और दूसरा ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माननेवाला। इनमें से ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाला सांख्यदर्शन ही 'योगदर्शन' है। इसके उद्भावक महर्षि पतंजलि हैं।

योग के मनोविज्ञान में चित्त सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सांख्य जिसे महत् कहता है, योग उसे 'चित्त' कहता है। चित् प्रकृति का प्रथम विकार है। योग-मत के अनुसार आत्मा में स्वतः कोई विकार नहीं होता, लेकिन हमेशा बदलने वाली चित्तवृत्तियों में उसका बिंब पड़ने से उसमें परिवर्त्तन मालूम पड़ता है; जैसे नदी की लहरों में चन्द्रमा का अक्स पड़ने पर वह हिलता हुआ जान पड़ता है। ज्ञान के अभाव में आत्मा दुनिया की वस्तुओं में सुख-दुःख और राग-द्वेष का भाव रखने लगती है। यही बंधन है। इससे छूटने का एकमात्र उपाय चित्त की वृत्ति का विरोध है। यही योग है। पतंजलि ने कहा है : 'चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।' चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए योग-मत में आठ साधनों का अभ्यास बताया गया है, जिसे 'अष्टांग योग' कहा जाता है। ये आठ अंग हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। शरीर, वचन और मन के संयम को यम कहते हैं। यम पाँच हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम सदाचार का पालन है। यह भी पांच हैं : शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। आसन अनेक तरह के होते हैं : जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासन आदि। प्राणायाम स्थिर आसन पर बैठकर श्वास तथा प्रश्वास की गति का नियंत्रण है। इसके तीन अंग हैं : पूरक, कुम्भक और रेचक। इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अपने भीतर केन्द्रित करना प्रत्याहार है। इस अवस्था पर पहुँचने के लिए दृढ़ संकल्प और इन्द्रिय-निग्रह की साधना करने की आवश्यकता है। धारणा चित्त को किसी चीज पर स्थिर कर देना है। जब किसी स्थान में एक प्रवाह के रूप में ध्येय वस्तु पर मन लगाया जाता है, तब

उसे ध्यान कहते हैं। जब ध्यान ही ध्येय के रूप में मालूम हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे, तब वही समाधि है। इसमें ध्याता के ध्यान और ध्येय एक हो जाते हैं। योग-दर्शन के अनुसार योगाभ्यास करनेवालों को विशेष सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ आठ तरह की होती हैं: अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। योगी इन सिद्धियों को अपनी इच्छा के अनुसार प्रयोग कर सकता है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार, 'योग ने एक पक्षपाती अथवा क्रूर ईश्वर की कठिनाइयों को वचाने के लिए सृष्टि और प्रलय में प्रकृति को स्वतंत्र मान लिया है। ईश्वर उन अनेक विषयों में एक है, जिसपर योगी चित्त को एकाग्र कर सकता है। ईश्वर का एकमात्र प्रयोजन अपने भक्तों की भलाई करना है। इस तरह, योग में ईश्वर का अधिकतर व्यावहारिक महत्त्व है। पतंजलि ने ईश्वर के लक्षण बताते हुए योगसूत्र में कहा है: 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः', अर्थात् 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों से, पुण्य और पाप-कर्मों से उत्पन्न जाति, आयु तथा भोग-रूप फलों से, उनसे उत्पन्न वासनाओं से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार के पुरुष को ईश्वर कहते हैं।' वासनाओं के कारण जीव को भोग करना पड़ता है। ईश्वर इन भोगों से स्वतंत्र है। ईश्वर पूर्ण स्वभाववाला है। ईश्वर प्रकृतिलीन पुरुष से भिन्न है। ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति के कारण ही वह ईश्वर कहलाता है। वह सर्वज्ञ और समस्त भावों का अधिष्ठाता है। सच तो यह है कि जिसमें गुणों की पराकाष्ठा हो, वही ईश्वर है। वह ऐश्वर्य-सम्पन्न है। वह हमेशा मुक्त है। उसने प्रतिज्ञा की है: 'ज्ञान तथा धर्म के उपदेशों द्वारा कल्प, प्रलय, तथा महाप्रलय में संसार के लोगों का हम उद्धार करेंगे।' ईश्वर नित्य परमानंद में रहता है। उसका धर्म-अधर्म से कोई संपर्क नहीं होता। वह प्राचीन ऋषियों का भी गुरु है। वह कालावाच्छित और पूर्ण करुणामय है। ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण प्रस्तुत करते हुए योग-मत कहता है कि ईश्वर का अस्तित्व शास्त्रसम्मत है। एक पुरुष ऐसा होना चाहिए, जिसमें सबसे अधिक ज्ञान और सबसे अधिक शक्ति हो। वही परम पुरुष ईश्वर है। वह एक है। फिर, ईश्वर की प्रेरणा के बिना प्रकृति ऐसे जगत् का विकास नहीं कर सकती। पतंजलि के अनुसार, ईश्वर-प्रणिधान समाधि के अनेक साधनों में एक प्रमुख साधन है। ईश्वर के प्रणिधान से

जीव को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है। योग-मत के अनुसार ईश्वर केवल एक विशेष आत्मा है, विश्व का स्रष्टा अथवा संरक्षक नहीं है। कहा गया है कि ईश्वर अपने भक्तों की उन्नति में जो बाधाएँ आती हैं, उन्हें दूर करने में सहायता करता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि पातंजल-योग की आवश्यकता है; क्योंकि वह सुगम है और अन्तःकरण शुद्ध कर देता है। यही कारण है कि आज भी इसका बहुत प्रभाव है। महात्मा गान्धी ने भी योग-मत को मान्यता दी है।

हिंदू-धर्म

हिंदू-धर्म का पाँच हजार वर्षों का इतिहास है। भारत में एक महान् धर्म के रूप में इसका विकास हुआ। इसे सनातन धर्म भी कहा जाता है। इस धर्म का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन किया गया और इससे एक ऐसी गतिशील आध्यात्मिक परंपरा का निर्माण हुआ, जो संपूर्ण मानव-जाति के करीब सातवें भाग का प्रेरणा-स्रोत है। धर्म के क्षेत्र में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हिंदुओं ने वेद को अपने धर्म का उद्‌गम-स्थल माना है। उनका कहना है कि वेद मनुष्य का सबसे प्राचीनतम साहित्य है। यह अनंत ज्ञान का भांडार है। वेद का संबंध किसी पुस्तक से नहीं हो सकता; क्योंकि पुस्तक का तो एक आरंभ होता है। लेकिन वेद में जिस चिरंतन सत्य का उल्लेख मिलता है, उसका कोई आरंभ नहीं है; क्योंकि इसका संबंध जीवन के मूल-सत्यों से है। मनुष्य की प्रकृति क्या है? इस जगत् की प्रकृति क्या है? मनुष्य का लक्ष्य क्या है? इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? मनुष्यों के बीच क्या संबंध है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जो सत्ता का रहस्य है और वेद के रचयिताओं ने अपनी आंतरिक शुद्धता और विवेक से उस रहस्य का पता लगाया। स्वामी विवेकानंद ने सन् १८९३ ई० में शिकागो की धर्म-संसद् में अपने ऐतिहासिक भाषण में कहा:

'वेद का अर्थ किसी पुस्तक से नहीं है। इसका अर्थ आध्यात्मिक नियमों के उस भांडार से है, जिसे विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न कालों में संचित किया। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण-नियम खोज के पहले भी अस्तित्व में था और इसे सारी मानवता भूल भी जाए, तो भी इसका अस्तित्व रहेगा, उसी

प्रकार आध्यात्मिक जगत् को नियंत्रित करनेवाले नियम भी शाश्वत हैं। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ, तथा जीवात्माओं और परमात्मा के बीच आध्यात्मिक संबंध इनकी खोज के पहले भी अस्तित्व में थे और अगर हम इन संबंधों को भूल भी जाएँ, तो भी ये हमेशा रहेंगे।'

'इन नियमों की खोज करनेवाले ऋषि कहलाते थे, और पूर्ण प्राणी के रूप में हम उनका सम्मान करते हैं। मुझे अपने सुननेवालों से यह कहते हुए खुशी हो रही है कि उन ऋषियों में कुछ महान् महिलाएँ भी थीं।'

मनुष्य अपने लिए अत्यधिक सत्यों की खोज कर सकता है। इस प्रकार, का प्रयास अथवा खोज धर्म का मूल है तथा हिंदू-धर्म का आधार है। हिंदू-धर्म केवल यह नहीं कहता कि प्राचीन काल के किसी पुरुष में आस्था रखना ही धर्म है—चाहे वह दिव्यता-प्राप्त ईश्वर का अवतार ही क्यों न हो। आस्था धर्म का आधार नहीं है, अनुभूति इसका आधार है। आध्यात्मिक सत्य अनुभूति में छिपे हैं। महान् ऋषियों ने हमें एक मार्ग दिखाया है। हम उनका अनुसरण कर सकते हैं और अपनी आध्यात्मिक क्षमता के बल पर सत्य की कसौटी पर हम उसकी जाँच कर सकते हैं। यह मार्ग सबके लिए खुला है। कोई भी आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करके पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। हिंदू-धर्म के अनुसार मनुष्य मूलतः दिव्य है, अतः दिव्यता प्राप्त करने की संभावना है। न तो केवल आस्था रखना धर्म है, न केवल विद्वत्ता प्राप्त करना। धर्म-प्रयोग और अनुभूति का विषय यह दर्शन है। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो की धर्म-संसद् में कहा था :

यह हिंदू-धर्म का केंद्र, मुख्य अवधारणा है। हिंदू शब्दों और सिद्धांतों पर जीना नहीं चाहते। यदि इस साधारण जीवन से परे कोई सत्ता है, तो वह उसके आमने-सामने आना चाहता है। अगर उसमें आत्मा है, जो जड़ पदार्थ नहीं है, अगर कोई कृपालु विश्वात्मा है, तो वह सीधे उसके पास जाएगा। वह उसका दर्शन करेगा और तभी उसके मन से सभी संशय दूर होंगे। अतः, हिंदू ऋषि आत्मा के संबंध में जो सबसे अच्छा प्रमाण देता है, वह इस प्रकार है—'मैंने आत्मा का दर्शन किया है; मैंने ईश्वर का दर्शन किया है। और, पूर्णता की यही शर्त है। हिंदू-धर्म किसी सिद्धांत में आस्था रखने का प्रयास या संघर्ष नहीं है, बल्कि एक अनुभूति है, दर्शन है और दिव्य होना है।'

इस प्रकार, हिंदू-धर्म का लक्ष्य सतत प्रयास से दिव्यता प्राप्त करना है, पूर्ण होना है, और ईश्वर-दर्शन करना है।

हम अपनी पाँच ज्ञानेंद्रियों से इस जगत् का अनुभव करते हैं, लेकिन जिस जगत् का हम अनुभव करते हैं, वह जाँच करने पर परिवर्त्तनशील निकला है। तो क्या कोई ऐसी चीज है, जो अपरिवर्त्तनशील है? साधारणतया धर्म एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करता है, जो अमर है, परम है और मुक्त सत्ता है। नश्वर मनुष्य को इसके ध्यान में शांति मिलती है। लेकिन, प्रश्न यह उठता है कि हम एक परम सत्ता में क्यों विश्वास करते हैं? हम अपने ज्ञानेंद्रियों से इस जगत् की, जो भी चीज अनुभव करते हैं, उसे नश्वर पाते हैं। इसलिए, ईश्वर का प्रश्न कहाँ उठता है? धर्म के इतिहास से इस बात का पता चलता है कि मनुष्य ने पहले ईश्वर की खोज बाह्य जगत् में की। उसने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की, जो स्वर्ग में रहता है। बाद में दर्शन का विकास हुआ और जाँच करने पर यह पता चला कि बाह्य जगत् की हर वस्तु क्षणभंगुर और परिवर्त्तनशील है। हिंदू-धर्म के वेदांत दर्शन का यह एक सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है। यह बौद्ध-धर्म का भी एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है। हमारा शरीर नश्वर है। हमारा मन नश्वर है। लेकिन, भारत के ऋषियों ने इस निष्कर्ष को ही अंतिम नहीं समझा। उन्होंने इसे अनंतिम सत्य माना। उन्होंने मनुष्य का गहराई से अध्ययन किया। उन्होंने अनुभव किया कि बाह्य जगत् में प्रकृति अपने गूढ़तम रहस्यों को उद्घाटित नहीं करती, बल्कि मनुष्य के आभ्यंतरिक जगत् में करती है। मनुष्य का आभ्यंतरिक जगत विकास की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। अतः, उन्होंने बाह्य जगत् की प्रकृति अथवा मनुष्य की नियति के संबंध में कोई अंतिम रूप से उत्तर देने के पहले यह आवश्यक समझा कि मनुष्य के आभ्यंतरिक जगत् के गूढ़ रहस्यों का पता लगाया जाए। अगर इस जगत् में कोई ऐसी सत्ता नहीं है, जो अमर अथवा अपरिवर्त्तनशील है, तो किसी ईश्वर या परम सत्ता में आस्था रखना बेबुनियाद है और मनुष्य का यह कहना उचित है कि सब कुछ क्षणभंगुर और परिवर्त्तनशील है। हजारों वर्ष पहले भारतवर्ष के लिए यह एक चुनौती थी। उपनिषदों ने यह चुनौती स्वीकार की और मनुष्य के आभ्यंतरिक जगत् के गूढ़ रहस्यों का पता लगाया। उनका एक मात्र लक्ष्य, सत्य की खोज करके मानव का कल्याण करना था। हिंदू-धर्म की चिंतन-धारा में वेदांत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसमें भारत के उन महान्

ऋषियों के सत्य वचन हैं, जिन्होंने हजारों वर्ष पहले दिव्य प्रकाश फैलाया। उन ऋषियों की वाणी अमर है। मनुष्य के भीतर परम सत्ता का वास है। यह उसकी विलक्षणता है। इन ऋषियों ने बतलाया कि अगर हम आभ्यंतरिक जगत् के इस रहस्य को जान लें, तो प्रकृति का कोई ऐसा रहस्य नहीं रह जाएगा, जो हमारे लिए गूढ़ हो। कठोपनिषद् में कहा गया है :

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

"शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध इंद्रियों के ये सभी स्थूल विषय हैं। इनका यथार्थ ज्ञान कराने के लिए इंद्रियों की रचना हुई है। क्योंकि, इनका ज्ञान हुए बिना न तो मनुष्य किसी विषय के स्वरूप और गुण को ही जान सकता है और न उसका यथायोग्य त्याग एवं ग्रहण करके भगवान् के इन्द्रिय-निर्माण के उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए उनके द्वारा नवीन शुभ कर्मों का संपादन ही कर सकता है। इंद्रिय-निर्माण इसलिए है कि मनुष्य इंद्रियों के द्वारा स्वास्थ्यकर, सुबुद्धिदायक, विशुद्ध विषयों का ग्रहण करके सुखमय जीवन बिताते हुए परमात्मा की ओर अग्रसर हो। इसीलिए, स्वयंभू भगवान् ने इन्द्रियों का मुख बाहर की ओर बनाया; परंतु विवेक के अभाव से अधिकांश मनुष्य इस बात को नहीं जानते और विषयासक्तिवश उन्मत्त की भाँति आपातरमणीय, परंतु परिणाम में भगवान् से हटाकर दुःखशोकमय नरकों में पहुँचनेवाले अशुद्ध विषय-भोगों में ही रचे-पचे रहते हैं। वे अंतर्यामी परमात्मा की ओर देखते ही नहीं। कोई विरला ही बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होता है, जो सत्संग, स्वाध्याय तथा भगवत्कृपा से अशुद्ध विषय-भोगों की परिणामदुःखता को जानकर अमृत-स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा से इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर, उन्हें भगवत्संबंधी विषयों में लगाकर, अंतरात्मा को, अंतर्यामी परमात्मा को देखता है।"

उपनिषदों तथा वेदांत से हिंदू-धर्म का मिलना वरदान है और यह भी वरदान है कि विश्व के महान् धर्म आज भी इन्हीं शाश्वत स्रोतों से मार्ग-दर्शन लेंगे। हिंदू-धर्म के अनुसार, मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होना जरूरी है। सामाजिक मूल्य आत्मिक विकास की देन हैं। आभ्यंतरिक अनुशासन से ही दिव्यता प्राप्त करना संभव है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने उस दिव्यता की

अनुभूति प्राप्त की। वह दिव्यता ही आत्मा है, जिसे ब्रह्म भी कहा गया। उन्होंने बहुत सुन्दर ढंग से इस सत्य का उद्घाटन किया : 'एकम् एव अद्वितीयं ब्रह्म।' एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही था।

हिंदू धर्म चिंतनशील दर्शन की परम सत्ता तथा एकेश्वरवादात्मक धर्म के ईश्वर से संतुष्ट नहीं रहता। क्या ईश्वर या परम सत्ता की अनुभूति हो सकती है? उपनिषद् के रचयिताओं ने अपनी अनुभूति के आधार पर तथा नैतिक शुद्धता के अनुशासन और बौद्धिक अनासक्ति से इस प्रश्न का उत्तर पाने की कोशिश की। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य से एक छात्र ने कहा - 'याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वांतर आत्मा है, उसकी व्याख्या करें।' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'यह तेरी आत्मा ही सर्वांतर है'।

प्रथम उपनिषद्, अर्थात् ईशावास्योपनिषद् के प्रथम श्लोक में संपूर्ण अस्तित्व के आध्यात्मिक एकत्व की घोषणा की गई है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

"वह सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्म से पूर्ण ही है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार, परब्रह्म की पूर्णता से जगत् पूर्ण होने पर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बचा रहता है।"

हिंदू-धर्म के अनुसार ऐंद्रिय सुख प्राप्त करना बुरा नहीं है। इसके लिए धन की जरूरत होती है। यह धन सहयोग और श्रम से मिलता है। इससे एक राजनीतिक समाज का विकास हुआ। सभ्य समाज के निर्माता तथा सुख के भोक्ता के रूप में मनुष्य की अवधारणा हिंदू-धर्म में सहा है। लेकिन, अभ्युदय में मनुष्य द्वारा खोजे गए सभी मूल्य नहीं आते। उसका एक आभ्यंतरिक जगत् है, जहाँ मनुष्य की आध्यात्मिक मुक्ति निहित है। यह निःश्रेयस् है। उपनिषद् और गीता यह उपदेश देती है कि भौतिक सुखों और कल्याण की खोज के साथ-साथ मनुष्य द्वारा आध्यात्मिक विकास करना भी आवश्यक है, जो साधना से संभव है। हिंदू-धर्म बतलाता है कि अगर मनुष्य भौतिक सुखों की ओर ही भागता है और आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना करता है, तो उसका विनाश अवश्यंभावी है।

जब हम हिंदू-धर्म के बारे में बोलते हैं, तब इसका अर्थ किसी एक धर्म से नहीं होता। यह कई धर्मों का एक संघ है, जैसे वैष्णवधर्म, शैवधर्म, शाक्तधर्म, जो अपने-आप में पूर्ण धर्म है। वैष्णवधर्म, शैवधर्म और शाक्त-धर्म के अपने धर्मविज्ञान, पुराणशास्त्र, कर्मकांड और धार्मिक संगठन हैं और लाखों इनके अनुयायी हैं। हिंदू-धर्म परमसत्ता तक पहुँचने के कई मार्गों को एक सूत्र में बाँधनेवाला धागा है। हिंदू-धर्म का धर्म के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पता इस बात से चलता है कि यह सभी धार्मिक तथ्यों का वर्गीकरण करता है। हिंदू-धर्म मनुष्य को योग शीर्षक के अंतर्गत पूर्णता प्राप्त करने के विशिष्ट निर्देश देता है। यह मानवीय स्वभाव और प्रवृत्ति के अनुसार, चार प्रकार के योगों का वर्णन करता है : ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग और कर्मयोग।

ज्ञानयोग उन व्यक्तियों के लिए है, जो ज्ञान के द्वारा परमसत्ता, अर्थात् ईश्वर से एकाकार होना चाहते हैं। कुछ ऐसे लोग हैं, जो स्वभाव से दार्शनिक होते हैं। उनके लिए प्रत्यय का अधिक महत्त्व है। सुकरात और बुद्ध इसके उदाहरण हैं। इस योग का लक्ष्य अज्ञानता के साम्राज्य को विवेक से नष्ट करना है, चिंतन से अमूर्त सत्ता को यथार्थ बनाना है। चिंतन, मनन के कई तरीके बताए गए हैं; जैसे इस धर्म के अनुयायी को यह सलाह दी जाती है कि वह जिस भाषा का प्रयोग करता है, उसकी जाँच करे और इसके निहितार्थों का चिंतन करे। 'मेरे' शब्द से अधिकारी और अधिकृत के बीच भेद उत्पन्न होता है। जब मैं अपनी पुस्तक के संबंध में बोलता हूँ, तब कोई यह विचार नहीं होता कि मैं पुस्तक हूँ। लेकिन, मैं अपने शरीर, अपने मन और अपने व्यक्तित्व के बारे में भी बोलता हूँ, जो इस बात के प्रमाण हैं कि किसी अर्थ में इन सबसे पृथक् मैं अपने बारे में विचार करता हूँ। यह 'मैं' कौन है, जो मेरे मन और मेरे शरीर का स्वामी तो है, लेकिन उनके बराबर नहीं माना जा सकता? इसके अतिरिक्त विज्ञान बतलाता है कि दस वर्ष पहले जो मेरा शरीर था, उसमें आज आसमान-जमीन का अंतर है, अर्थात् उसमें सबकुछ बदल गया है। लेकिन, फिर भी किसी स्तर पर वह व्यक्ति जरूर है, जिसका दस वर्ष पहले वह शरीर था। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन-सी ऐसी चीज है, जो निरंतर परिवर्त्तन के बीच नित्य है? इस प्रकार, योगी को अपना झूठा मुखौटा उतारकर अपना सही 'स्वरूप' समझना है।

कहा गया है कि 'ज्ञानयोग' परमसत्ता तक पहुँचने का सबसे छोटा रास्ता है। लेकिन, यह सबसे कठोर भी है। सच तो यह है कि बुद्धि मानव-जीवन को संचालित तो करती है, लेकिन इससे अधिक भावना संचालित करती है और मानव-जीवन में जितनी भावनाएँ हैं, उनमें सबसे शक्तिशाली और व्यापक भक्ति-भावना है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जिसकी भक्ति करता है, वह उसके समान बन जाना चाहता है। यही 'भक्तियोग' है। इस योग के अगणित अनुयायी हैं और यह सबसे अधिक लोकप्रिय है। सोलहवीं शताब्दी के महान् हिन्दी-कवि गोस्वामी तुलसीदास इस योग के महान् अनुयायियों में एक हैं। जिस प्रकार गंगा की धारा सागरों की ओर निरंतर बहती रहती है, उसी प्रकार भक्तों के मन निरंतर ईश्वर की ओर अनुधावित होता रहता है। भक्तियोग के सभी बुनियादी सिद्धांत ईसाई-धर्म में भी देखे जा सकते हैं। मनुष्य ईश्वर की आराधना विभिन्न प्रकार से करता है। ईश्वर के कई रूप हैं। जब वह अवतार लेता है, तब मनुष्य की उसके प्रति अगाध भक्ति उमड़ पड़ती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात्, "जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तभी मैं अपने रूप को रचता हूँ, अर्थात् प्रकट करता हूँ।"

ईश्वर तक पहुँचने का तीसरा मार्ग कर्मयोग है। यह उनलोगों के लिए है, जिनकी प्रवृत्ति कर्म करने की है। कर्म जीवन का मुख्य तत्त्व है। सच तो यह है कि मनुष्य कर्म करने के लिए बना है। हिंदू-धर्म कहता है कि ईश्वर को पाने के लिए मठ की शरण लेने की जरूरत नहीं है। मनुष्य अपने दैनिक जीवन में उसकी अनुभूति प्राप्त कर सकता है। अनासक्त होकर कर्म करने से ही मनुष्य में ज्ञानोदय होता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

"तेरा कर्म करने-मात्र में ही अधिकार हो, फल में कभी नहीं और तू कर्मों के फल की वासनावाला भी मत हो तथा अकर्म करने में भी तेरी प्रीति न हो।"

इसका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य कर्त्तव्य के लिए कर्तव्य करता है और फल की आशा नहीं करता है, वह योगी है। इस प्रकार, कर्मयोगी केवल कर्म करना जानता है। वह एक काम कर लेता है, तो फिर दूसरा काम करता है और हर काम निष्ठा से करता है।

मनोवैज्ञानिक प्रयोग से ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग राजयोग है। यह उनलोगों के लिए है, जो मूलरूप से वैज्ञानिक प्रवृत्ति के हैं। इस योग में मनुष्य अपने शरीर पर प्रयोग नहीं करता (हालांकि, इस क्रिया में शरीर का भाग है), बल्कि अपनी आत्मा पर करता है। इस प्रकार के प्रयोग कुछ निर्धारित मानसिक अभ्यास का रूप लेते हैं और मनुष्य की आध्यात्मिक स्थिति पर इनके प्रभाव का निरीक्षण किया जाता है। राजयोगी को किसी मत में आँख मूँद कर विश्वास नहीं करना होता। फिर भी, प्रयोग के लिए किसी प्राक्कल्पना की आवश्यकता तो पड़ती ही है। राजयोग की अंतर्निहित प्राक्कल्पना हिंदू-मत है। मनुष्य की हिंदू-अवधारणा इस आधारभूत सिद्धांत पर आश्रित है कि वह एक स्तरित प्राणी है। मनुष्य के मुख्य चार स्तर हैं : पहला देह, दूसरा मन, जिससे वह अवगत है, तीसरा वैयक्तिक अवचेतन का साम्राज्य। लेकिन, हिंदू-प्राक्कल्पना की विशेषता इसका चौथा स्तर है, वह स्वयं सत्ता है, जो असीम और शाश्वत है। हिंदू-धर्म इस मनोविश्लेषण से सहमत है कि यदि हम अपनी खोई हुई वैयक्तिक समग्रता का एक भाग का भी निकर्पण कर लें, तो हमें अपनी शक्तियों के विलक्षण विस्तार की अनुभूति हो जाए। राजयोगी शरीर से एक व्यक्ति रहता है, लेकिन भावना में उसे एक शाश्वत, विश्वजनीन और पूर्ण व्यक्ति होना होगा।

हिंदू-धर्म के अनुसार, यह वर्गीकरण ऐकांतिक नहीं है, यह किसी विशेष मनोवृत्ति की प्रधानता पर ही आश्रित है।

हिंदू-धर्म में शंकर के निर्गुण ब्रह्म और रामानुज के सगुण ब्रह्म दोनों को स्वीकार किया गया है। दोनों समान रूप से सही हैं। यह भक्त पर निर्भर करता है कि वह सगुण ब्रह्म की उपासना करे या निर्गुण ब्रह्म की। इन दोनों में कोई विरोधाभास नहीं है। ये दोनों दो भिन्न दृष्टिकोणों से सत्य हो सकते हैं। साथ ही, जिस प्रकार से ईश्वर की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार से उसका जगत् के साथ संबंध होता है। अगर वह सगुण ब्रह्म है, तो वह सृष्टि-कर्त्ता (ब्रह्मा), पालनकर्त्ता (विष्णु) और संहारकर्त्ता (शिव) है। लेकिन,

अगर वह निर्गुण ब्रह्म है, तो हर मामले में संघर्ष से ऊपर और ससीमता से अलग है।

हिंदू-धर्म विभिन्नता में एकता का प्रतीक है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है : 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव', अर्थात् 'यह संपूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।' हिंदू-धर्म ने कभी किसी नीरस, निष्क्रिय एकरूपता की नीति का समर्थन या पालन नहीं किया, चाहे धर्म का क्षेत्र हो या संस्कृति का। इस प्रकार की नीति असहिष्णुता और हिंसा पर आधारित होती है, जिनका हिंदू-धर्म में कोई स्थान नहीं है। ऋग्वेद में यह कहा गया है, 'एकं सद्विप्ता बहुधा वदन्ति', अर्थात् सत्य एक है, लेकिन ब्राह्मण इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारता है। यही बात गीता में कही गई है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

अर्थात्, 'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ, इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बरतते हैं।'

मनुष्य अपने जीवन के उच्चतम शिखर पर किसी मार्ग से पहुँच सकता है, लेकिन जब वह पहुँच जाता है, तब ये मार्ग मिल जाते हैं। अंत में, यहाँ यदि हम श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करें, तो हिंदू-धर्म की मुख्य बातों को समझने में आसानी होगी :

ईश्वर ने विभिन्न उपासकों, कालों और देशों को ध्यान में रखकर विभिन्न धर्म बनाए हैं। सभी सिद्धांत केवल मार्ग हैं, लेकिन कोई मार्ग ईश्वर नहीं है। मनुष्य किसी भी मार्ग का पूर्ण निष्ठा से अनुसरण करके ईश्वर तक पहुँच सकता है। वह किसी भी ओर से केक खा सकता है, उसका स्वाद मीठा ही लगेगा।

जिस प्रकार जल को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है; जैसे पानी, अक्वा, इउ आदि, उसी प्रकार ईश्वर के विभिन्न नाम हैं; जैसे अल्ला, ब्रह्म, जिहोवा आदि।

जिस प्रकार किसी मकान की ऊपरी मंजिल पर सीढ़ी, रस्सी आदि से चढ़ा जा सकता है, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म ईश्वर तक पहुँचने का एक मार्ग है।

जिस प्रकार जवान पत्नी अपने परिवार के हर सदस्य, सास, श्वसुर आदि का सम्मान और उनसे प्रेम करती है तथा अपने पति का भी सम्मान और उससे प्रेम करती है, उसी प्रकार एक देवता की भक्ति करने का यह अर्थ नहीं होता कि दूसरे देवताओं का अनादर किया जाए।

जहाँ दूसरे लोग उपासना करते हैं, वहाँ तुम भी उपासना करो; क्योंकि इतने लोग जिस ईश्वर की उपासना कर रहे हैं, वह अवश्य प्रकट होगा; क्योंकि वह दयालु है।

जिस भक्त ने ईश्वर के एक पक्ष को देखा है, वह उसी पक्ष को जानता है। लेकिन, जिसने उसे उसके विभिन्न पहलुओं को देखा है, वही यह कह सकता है कि 'ये सभी एक ईश्वर के रूप है और ईश्वर वहुविध है।'

उद्धारक ईश्वर का दूत है। वह एक शक्तिशाली राजा का वायसराय है। जैसे कि किसी प्रान्त में जव गड़वड़ी होती है, तव राजा वहाँ शांति स्थापित करने के लिए अपने वायसराय को भेजता है, उसी प्रकार संसार के किसी कोने में धर्म का पतन होता है, तो वह अपने दूत को भेजता है। यही दूत समय-समय कभी कृष्ण के रूप में और कभी ईसामसीह के रूप में इस धरती पर अवतरित होता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का अनुसरण करना चाहिए। किसी ईसाई को ईसाई-धर्म का अनुसरण करना चाहिए, किसी हिंदू को हिंदू-धर्म का अनुसरण करना चाहिए।

लोगों ने इस धरती की सीमाएँ तो वाँध दी हैं, लेकिन किसी ने आकाश की सीमा नहीं वाँधी है। इसलिए, अज्ञानवश साधारण व्यक्ति कहता है कि उसका धर्म ही एक है और सवसे अच्छा है। लेकिन, जव वह दिव्यता प्राप्त कर लेता है, तव वह जानता है कि शाश्वत सत्य, जो सर्वज्ञ है, एक है।

जिस प्रकार माँ वीमार वच्चों को उनके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन देती है, उसी प्रकार भगवान् ने विभिन्न लोगों के लिए, उनकी प्रवृत्ति के अनुसार, विभिन्न मार्ग वनाए हैं।

विवाद न करो। जिस प्रकार तुम्हें अपने मत में गहरी आस्था है, उसी प्रकार दूसरों को भी अपने मत में समान रूप से गहरी आस्था रखने दो। विवाद करके किसी की भूल नहीं सुधारी जा सकती। जव उसपर ईश्वर की अनुकंपा होगी, तव वह अपनी गलतियों को समझ लेगा।

अगर वह निर्गुण ब्रह्म है, तो हर मामले में संघर्ष से ऊपर और ससीमता से अलग है।

हिंदू-धर्म विभिन्नता में एकता का प्रतीक है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है: "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव', अर्थात् 'यह संपूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।' हिंदू-धर्म ने कभी किसी नीरस, निष्क्रिय एकरूपता की नीति का समर्थन या पालन नहीं किया, चाहे धर्म का क्षेत्र हो या संस्कृति का। इस प्रकार की नीति असहिष्णुता और हिंसा पर आधारित होती है, जिनका हिंदू-धर्म में कोई स्थान नहीं है। ऋग्वेद में यह कहा गया है, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', अर्थात् सत्य एक है, लेकिन ब्राह्मण इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारता है। यही बात गीता में कही गई है:

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

अर्थात्, 'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ, इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बरतते हैं।'

मनुष्य अपने जीवन के उच्चतम शिखर पर किसी मार्ग से पहुँच सकता है, लेकिन जब वह पहुँच जाता है, तब ये मार्ग मिल जाते हैं। अंत में, यहाँ यदि हम श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करें, तो हिंदू-धर्म की मुख्य बातों को समझने में आसानी होगी:

ईश्वर ने विभिन्न उपासकों, कालों और देशों को ध्यान में रखकर विभिन्न धर्म बनाए हैं। सभी सिद्धांत केवल मार्ग हैं, लेकिन कोई मार्ग ईश्वर नहीं है। मनुष्य किसी भी मार्ग का पूर्ण निष्ठा से अनुसरण करके ईश्वर तक पहुँच सकता है। वह किसी भी ओर से केक खा सकता है, उसका स्वाद मीठा ही लगेगा।

जिस प्रकार जल को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है; जैसे पानी, अक्वा, इउ आदि, उसी प्रकार ईश्वर के विभिन्न नाम हैं; जैसे अल्ला, ब्रह्म, जिहोवा आदि।

जिस प्रकार किसी मकान की ऊपरी मंजिल पर सीढ़ी, रस्सी आदि से चढ़ा जा सकता है, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म ईश्वर तक पहुँचने का एक मार्ग है।

जिस प्रकार जवान पत्नी अपने परिवार के हर सदस्य, सास, श्वसुर आदि का सम्मान और उनसे प्रेम करती है तथा अपने पति का भी सम्मान और उससे प्रेम करती है, उसी प्रकार एक देवता की भक्ति करने का यह अर्थ नहीं होता कि दूसरे देवताओं का अनादर किया जाए।

जहाँ दूसरे लोग उपासना करते हैं, वहाँ तुम भी उपासना करो; क्योंकि इतने लोग जिस ईश्वर की उपासना कर रहे हैं, वह अवश्य प्रकट होगा; क्योंकि वह दयालु है।

जिस भक्त ने ईश्वर के एक पक्ष को देखा है, वह उसी पक्ष को जानता है। लेकिन, जिसने उसे उसके विभिन्न पहलुओं को देखा है, वही यह कह सकता है कि 'ये सभी एक ईश्वर के रूप हैं और ईश्वर बहुविध है।'

उद्धारक ईश्वर का दूत है। वह एक शक्तिशाली राजा का वायसराय है। जैसे कि किसी प्रान्त में जब गड़बड़ी होती है, तब राजा वहाँ शांति स्थापित करने के लिए अपने वायसराय को भेजता है, उसी प्रकार संसार के किसी कोने में धर्म का पतन होता है, तो वह अपने दूत को भेजता है। यही दूत समय-समय कभी कृष्ण के रूप में और कभी ईसामसीह के रूप में इस धरती पर अवतरित होता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का अनुसरण करना चाहिए। किसी ईसाई को ईसाई-धर्म का अनुसरण करना चाहिए, किसी हिंदू को हिंदू-धर्म का अनुसरण करना चाहिए।

लोगों ने इस धरती की सीमाएँ तो बाँध दी हैं, लेकिन किसी ने आकाश की सीमा नहीं बाँधी है। इसलिए, अज्ञानवश साधारण व्यक्ति कहता है कि उसका धर्म ही एक है और सबसे अच्छा है। लेकिन, जब वह दिव्यता प्राप्त कर लेता है, तब वह जानता है कि शाश्वत सत्य, जो सर्वज्ञ है, एक है।

जिस प्रकार माँ बीमार बच्चों को उनके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन देती है, उसी प्रकार भगवान् ने विभिन्न लोगों के लिए, उनकी प्रवृत्ति के अनुसार, विभिन्न मार्ग बनाए हैं।

विवाद न करो। जिस प्रकार तुम्हें अपने मत में गहरी आस्था है, उसी प्रकार दूसरों को भी अपने मत में समान रूप से गहरी आस्था रखने दो। विवाद करके किसी की भूल नहीं सुधारी जा सकती। जब उसपर ईश्वर की अनुकंपा होगी, तब वह अपनी गलतियों को समझ लेगा।

एक व्यक्ति शिव की पूजा करता था और अन्य देवताओं का अनादर करता था। एक दिन उसके सामने शिव प्रकट हुए और उन्होंने कहा—'जबतक तुम दूसरे देवताओं का अनादर करोगे, तबतक तुमसे मैं खुश नहीं होऊँगा।' लेकिन, वह व्यक्ति माननेवाला नहीं था। कुछ दिनों के बाद शिव उसके सामने फिर प्रकट हुए और उन्होंने कहा— 'जबतक तुम घृणा करोगे, तबतक मैं तुमसे कभी खुश नहीं होऊँगा।' वह व्यक्ति चुप रहा। कुछ दिनों के बाद उसके सामने शिव फिर प्रकट हुए। इस बार शिव का आधा अंग शिव का था और आधा अंग विष्णु का। वह व्यक्ति आधा खुश हुआ और आधा नाखुश हुआ। जो अंग शिव का था, उसकी उसने पूजा की और विष्णु के अंग की पूजा नहीं की। तब शिव ने कहा—तुम्हारी धर्मांधता अविजेय है। मैंने दो रूप धारण करके, तुम्हें विश्वास दिलाना चाहा कि सभी देव और देवियाँ एक ब्रह्म के ही विभिन्न पहलू हैं।

आज हिंदू-धर्म एक चौराहे पर खड़ा है। इसका कारण यह है कि संपूर्ण मानव-जाति यहीं खड़ी है। प्रश्न यह नहीं है कि कोई धर्म उचित है या अनुचित, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या धर्म अब भी मानवीय क्रिया-कलाप में मुख्य और सर्जनात्मक भूमिका निवाह सकता है? मेरा तो विश्वास है कि सभी महान् धर्म सच्चा रास्ता दिखा सकते हैं। आज हमारा युग बदल रहा है, अतः उस रास्ते की और ज्यादा जरूरत है, जिससे मानवता पूर्णता की ओर अग्रसर हो सके।

मीमांसा-मत

मीमांसा-दर्शन कर्मकांड और ज्ञानकांड दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। प्रथम को पूर्व-मीमांसा और द्वितीय को उत्तर-मीमांसा कहते हैं। पूर्व-मीमांसा का मुख्य विषय कर्मकांड है तथा उत्तर-मीमांसा का मुख्य विषय वस्तुओं का सत्यज्ञान प्राप्त करना है। ये दोनों एक ही दर्शन, अर्थात् वैदिक दर्शन के अंग हैं। लेकिन, मीमांसा शब्द पूर्व-मीमांसा के अर्थ में रूढ हो गया है।

पूर्व-मीमांसा

मीमांसा का प्रयोजन धर्म का निरूपण करना है : 'धर्माख्यं विषयं वस्तु मीमांसायाः प्रयोजनम्।' स्पष्ट है कि मीमांसा का मूल विषय धर्म है।

इसलिए, हिंदू-धर्म में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिंदू-विधान पर मीमांसा-मत का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। जर्मन-विद्वान् मैक्समूलर के अनुसार, 'यह दर्शनशास्त्र की कोटि में नहीं आ सकता; क्योंकि इसमें धर्मानुष्ठान का ही विवेचन किया गया है। इसमें जीव, ईश्वर, बंध, मोक्ष और उनके साधनों का कहीं भी विवेचन नहीं है।' लेकिन, सच तो यह है कि धर्म का उद्देश्य भी इस लोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति है। इस अर्थ में धर्म स्वतः दर्शन की सीमा में आ जाता है। साथ ही, मीमांसा भी अन्य दर्शनों की भाँति हमें आध्यात्मिक चिंतन में प्रवृत्त करता है। अतः, मीमांसा को दर्शन की कोटि में रखना उचित होगा।

पूर्व-मीमांसा-दर्शन के उद्भावक महर्षि जैमिनि हैं। इनका 'मीमांसासूत्र' इस मत का मौलिक ग्रंथ है। इस ग्रंथ का रचनाकाल चौथी शताब्दी ई० पू० स्थिर कर सकते हैं। लगभग पहली शताब्दी में शबर ने इसपर अपना भाष्य लिखा। सातवीं शताब्दी में कुमारिल और प्रभाकर ने इस भाष्य की व्याख्या की और बौद्ध-धर्म के सिद्धांतों का खंडन करते हुए उसके प्रभाव को देश-भर में बिलकुल क्षीण कर दिया। बौद्ध-धर्म के उन्मूलन में मीमांसा-मत का प्रमुख हाथ रहा है। बाद में मुरारिमिश्र का भी इस दर्शन में अपना योग रहा है।

मीमांसा-मत के अनुसार 'धर्म' प्रथम पुरुषार्थ है और वही 'अर्थ', 'काम' तथा 'मोक्ष' का साधक है। जिस धर्म से 'अर्थ' तथा 'काम' की सिद्धि होती है वह 'प्रवृत्तिलक्षण धर्म' तथा जिससे 'मोक्ष' की सिद्धि होती है, वह 'निवृत्तिलक्षण धर्म' कहा जाता है। धर्म का ज्ञान केवल वेद से ही होता है। अतः, जैमिनि ने धर्म की व्याख्या करने के लिए धर्म के प्रमाण-भूत वेदवाक्यों का आश्रय लेकर मीमांसा-दर्शन की रचना की।

मीमांसा पहले निरीश्वरवादी थी। जैमिनि ईश्वर और आत्मा के विषय में कुछ नहीं कहते। लेकिन, उन्होंने एक स्थान पर कहा है : 'सत्-सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्।' इस सूत्र में दो शब्द आए हैं—पुरुष और बुद्धि। पुरुष शब्द से 'आत्मा' ही विवक्षित है। यह अर्थ कुमारिलभट्ट ने 'भाट्टदीपिका' में लिखा है। बुद्धि शब्द से ज्ञान, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण अर्थ को व्यक्त किया गया है। सच तो यह है कि कुमारिल और प्रभाकर भी ईश्वर की मान्यता के विरोधी नहीं हैं। यही

कारण है कि लोग मीमांसा को निरीश्वरवादी न कहकर अज्ञेयवादी कहते हैं।' सत्रहवीं शताब्दी में आपदेव और लौगाक्षि भास्कर ने मीमांसा को ईश्वरवाद की ओर उन्मुख किया।

न्याय, वैशेषिक और वेदांत-दर्शन ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में प्रायः समान युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। सांख्य-दर्शन में दो मत हैं—सेश्वर और निरीश्वर। सेश्वर सांख्यवादी ईश्वर को स्वीकार करते हैं, किंतु उसे 'पुरुष' कहते हैं। निरीश्वर सांख्यवादी ईश्वर का निषेध करते हैं, किंतु विज्ञानभिक्षु ने 'ईश्वरासिद्धेः' कहकर ईश्वर को मान लिया है। मीमांसा-मत में न तो नैयायिकों की तरह ईश्वर का समर्थन किया गया है, न निरीश्वर सांख्यवादियों की तरह निषेध किया गया है। इस मत के अनुसार ईश्वर प्रामाणिक पदार्थ नहीं है; क्योंकि संसार-चक्र अनादि काल से चल रहा है। इसकी न तो कभी रचना होती है, न प्रलय। इसलिए, संसार के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को सिद्ध करना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त, वेद के कर्त्ता के रूप में भी ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता है; क्योंकि वेद अपौरुषेय तथा नित्य है।

पूर्व-मीमांसा में आत्मा के संबंध में कोई मौलिक सूत्र नहीं है, लेकिन उत्तर-मीमांसा में आत्मा के संबंध में विचार किया गया है। जैमिनि आत्मा के संबंध में कोई ब्यौरेवार प्रमाण नहीं देते। लगता है कि वे आत्मा के संबंध में वेदांत द्वारा प्रस्तुत की गई युक्तियों को ही स्वीकार करते हैं। वे आत्मा (पुरुष) को बुद्धि तथा इंद्रियों से भिन्न करते हैं। शबर ने अनात्मवादी के मत का खंडन करते हुए आत्मस्वरूप को तर्क और श्रुतियों के द्वारा सिद्ध किया है। प्रभाकर का आत्मा से तात्पर्य एक ऐसी वस्तु से है, जो बुद्धिविहीन है तथा ज्ञान, क्रियाशीलता, अनुभव अथवा सुखोपभोग तथा दुःख आदि जैसे गुणों का अधिष्ठान है। कुमारिल के अनुसार आत्मा शरीर से भिन्न है, नित्य और सर्वव्यापी है। आत्मा स्वयं में चैतन्य है, यद्यपि आत्माएँ अनेक हैं। आत्मा बोध का विषय है।

मीमांसा-मत के अनुसार शरीर, इंद्रिय और विषयों का संबंध ही बंधन है तथा इनके त्रिविध बंधनों का विलय ही मोक्ष है। प्रभाकर के अनुसार आत्यंतिक देहोच्छेद मोक्ष है। वह न तो केवल ज्ञान से साध्य है, न केवल कर्म से, बल्कि ज्ञान और कर्म दोनों से ही साध्य है। जब जीवात्मा संसार के सुख-दुःख से ऊब जाता है, तब वह मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। वह नित्य–

नैमित्तिक कर्म करता है। वह काम्य कर्मों की अवहेलना करता है। काम्य कर्म वे हैं, जो कामना से किए जाते हैं, और कामना से किए जानेवाले कर्म मोक्ष-प्राप्ति में बाधक हैं। कर्म और उसके फल में अनिवार्य संबंध है। इस संबंध का संस्थापक ईश्वर नहीं है, बल्कि अपूर्व है। कर्म से अपूर्व होता है। अपूर्व से उस कर्म का फल उत्पन्न होता है। प्रभाकर ने इसे नियोग कहा है। नित्य और नैमित्तिक कर्म करने से नवीन पाप-पुण्य की सृष्टि रुक जाती है। फलभोग द्वारा वह प्रारब्ध और पाप-पुण्य को समाप्त कर देता है। इस प्रकार, जीवात्मा समस्त बंधनों से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। जैमिनि के अनुसार, ज्ञान के साधन तीन हैं: प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रभाकर दो और प्रमाण जोड़ देते हैं। उपमान और अर्थापत्ति। कुमारिल ने इनके साथ एक और प्रमाण जोड़ दिया है। इनसे ज्ञान उत्पन्न होता है। लेकिन, इस ज्ञान से ही मोक्ष संभव नहीं है। मीमांसा के अनुसार, ज्ञानयुक्त कर्म से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

पूर्व-मीमांसा अनेक देवताओं के अस्तित्व को स्वीकार करती है। जैसा पहले कहा गया है, जैमिनि ईश्वर का निषेध उतना नहीं करते, जितना वे उसकी ओर उपेक्षा का भाव रखते हैं। वैदिक धर्म में ईश्वर की सहायता जरूरी नहीं है। धर्म की स्थापना नित्य वेद के द्वारा हुई है। यज्ञों के पुरस्कार किसी परोपकारी ईश्वर के कारण नहीं है। जैमिनि ईश्वर के, पुरस्कारों का वितरण करनेवाले रूप का खंडन करते हैं, लेकिन वह ईश्वर के, सृष्टि का स्रष्टा होने का निषेध नहीं करते। अन्य दार्शनिक मतों में ईश्वर जगत् का स्रष्टा है और फल देनेवाला भी है। लेकिन, जैमिनि का मत यही है कि ईश्वर फल देनेवाला नहीं है। कुमारिलभट्ट ने देवता को प्रधान न मानकर द्रव्य के समान उसे अंग माना है और कर्म की प्रधानता स्वीकार की है। उनके अनुसार कर्म ही फल देता है। मीमांसा-मत के अनुसार, विधिवाक्य को देवता कहा गया है। देवता के विषय में तीन पक्ष हैं—अर्थ-देवता, शब्द-विशिष्ट अर्थ-देवता और शब्द-देवता। इन तीनों में अंतिम पक्ष ही सिद्धांत है। क्योंकि, अर्थ का स्मरण शब्द के द्वारा होता है। इसलिए, शब्द की प्रथम उपस्थिति होने के कारण शब्द को ही देवता माना गया है। अर्थ को देवता माननेवाले भी शब्द की उपेक्षा नहीं कर सकते। इस संबंध में एक नियम है—विधिवाक्य में जो देवता-वाचक शब्द है, उसका आह्वान, त्याग और सूक्त

वाक्य आदि में उच्चारण करना चाहिए, न कि उसके पर्यायवाची शब्दों को। उदाहरण के लिए, 'आग्नेयमष्टाकपालम्' में अग्नि के पर्यायवाची 'जातवेदस्' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इन बातों से स्पष्ट है कि 'शब्दमयी देवता' ही मीमांसा-दर्शन का सिद्धांत है।

पूर्व-मीमांसा में नैतिक पक्ष पर वल दिया गया है। न्यायपरायणता अथवा धर्म ही ईश्वर है। वेद ईश्वर के मन का दिव्य ज्ञान है। कुमारिल के अनुसार, 'यह शास्त्र, जिसे वेद कहा जाता है, जो शब्दों के रूप में ब्रह्म है, एक सर्वोपरि आत्मा का स्थापित किया हुआ है।' कुमारिल अपनी पुस्तक का प्रारंभ शिव की प्रार्थना से करते हैं : 'मैं उसे प्रणाम करता हूँ, जिसका शरीर विशुद्ध ज्ञान से बना है, तीनों वेद जिसके दिव्य चक्षु हैं, जो परमानन्द की प्राप्ति का कारण है, और जो अर्धचन्द्र को धारण करता है।'

इस प्रकार, हम देखते हैं कि ज्ञान-शास्त्र में मीमांसा का कोई स्थान नहीं है। उसका मुख्य क्षेत्र कर्मकांड है। लेकिन, वास्तव में, मीमांसा का वास्तविक रूप कर्मकांड नहीं है। वह कर्मवाद है। यह कर्म और उसके फल को विना ईश्वर के, अपूर्व या नियोग की सहायता से संबद्ध करती है और निष्काम कर्म पर वल देती है; क्योंकि यह कहती है कि काम्य कर्म का निषेध करना चाहिए। इस अर्थ में मीमांसा का भारतीय धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। तुलसीदास जब लोकमर्यादा की स्थापना करते हैं, तब वस्तुतः वे मीमांसा के ही अमूल्य कर्मवाद की व्याख्या करते हैं। लोकमान्य तिलक ने भी निष्काम कर्म की प्रधानता को स्वीकार किया है। महात्मा गांधी भी नित्य और नैमित्तिक कर्मों को मानते हैं। मीमांसा-मत के महत्त्व को समझते हुए डॉ० दासगुप्ता ने ठीक ही कहा है : 'एक हिंदू के लिए मीमांसा-साहित्य का महत्त्व वास्तव में अत्यधिक है; क्योंकि सभी वैदिक कर्म ही उसके सिद्धांतों के अनुसार नहीं किए जाते हैं, वल्कि उनसे नित्य कर्मों की व्यवस्था करनेवाला स्मृति-साहित्य और वर्तमान काल में भी हिंदुओं के सभी धर्म-कर्म का विवेचन और निर्देश मिलता है।'

उत्तर-मीमांसा

जहाँ एक ओर पूर्व-मीमांसा वेद-विहित धर्म तथा उसके फलाफल का अनुसंधान करती है, वहाँ उत्तर-मीमांसा उपनिषदों के दार्शनिक तथा ईश्वर-

ज्ञान-संबंधी विचारों का वर्णन करती है। उत्तर-मीमांसा को ही वेदांत-दर्शन कहा जाता है। उत्तर-मीमांसादर्शन के उद्भावक बादरायण हैं। यह कहा गया है कि उपनिषदों के साथ बादरायण का वही संबंध है, जो 'न्यू टेस्टामेंट' के साथ क्रिश्चियन रूढ़िवादियों का है। बादरायण का 'वेदांतसूत्र' उत्तर-मीमांसादर्शन का मूल ग्रंथ है। इस ग्रंथ में वेदांत के प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' का वर्णन है। इस ग्रंथ का आश्रय लेकर ही अनेक आचार्यों ने भाष्यों की रचनाएँ की है। ये हैं—शांकरभाष्य, भास्करभाष्य, रामानुजभाष्य, निम्बार्कभाष्य, माध्वभाष्य, श्रीकण्ठभाष्य, श्रीकरभाष्य, वल्लभभाष्य, विज्ञानभाष्य, बलदेवभाष्य और शक्तिभाष्य। प्रत्येक भाष्य ब्रह्म के संबंध में अपना मत प्रस्तुत करता है, जिसके कारण वेदांत-दर्शन की कई शाखाएं हो जाती हैं। इनमें प्रमुख हैं—शांकर वेदांत, रामानुज-वेदांत, निम्बार्क-वेदांत, माध्व-वेदांत, वल्लभ-वेदांत। भारत देश के धर्मों में वेदांत-दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि इसने किसी-न-किसी रूप में उन्हें प्रभावित किया है।

बादरायण का 'वेदांतसूत्र' चार भागों में विभक्त है। पहले अध्याय में ब्रह्म के स्वरूप, जगत् तथा जीवात्मा के साथ उसके संबंध का वर्णन मिलता है। दूसरे भाग में ब्रह्म, जीवात्मा और जगत् के संबंध में उठाई गई आपत्तियों का निराकरण किया गया है। तीसरे अध्याय में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के साधनों तथा उपायों पर विचार किया गया है। चौथे अध्याय में ब्रह्मविद्या के पुरस्कारों का विवेचन है।

बादरायण वेद को नित्य मानते हैं। वे ज्ञान के दो स्रोत मानते हैं: श्रुति और स्मृति। यहाँ श्रुति से बादरायण का तात्पर्य उपनिषदों से है और स्मृति से उनका तात्पर्य भगवद्गीता, महाभारत और मनुस्मृति से। उनके अनुसार, ब्रह्म में धर्म ओत-प्रोत है। वह पथप्रदर्शक है। उसमें निर्मलता, सत्यार्थ, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान हैं। मनुष्य के हृदय में उसका निवास है। जीवात्मा में प्रकाश भी वही है। वह पूजा और श्रद्धा के योग्य है। वह जगत् का उपादान और निमितकारण है। वह सभी पदार्थों का स्रष्टा है। वह अनादि और अनंत है। 'तत्त्वमसि' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' जैसे वाक्य यह बतलाते हैं कि ब्रह्म और आत्मा, ईश्वर और मनुष्य वास्तव में एक ही हैं। लेकिन, बादरायण यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि किस रूप में जीवात्मा ब्रह्म से संबद्ध है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि बादरायण अद्वैतवादी विचार का समर्थन करते हैं।

शांकरवेदांत के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है, उससे पृथक् नहीं : 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। जीवो ब्रह्मैव नापरः।' ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, पालन होता है और उसीमें विलय होता है। वह 'सत्', 'चित्' और 'आनंद'-रूप है। मनुष्य का धर्म यह है कि वह सत्य को पहचाने। अविद्या के कारण वह ऐसी चीजों को सत्य मान बैठता है, जो उसके बंधन के कारण हैं। अंधकार में भटकने के कारण ही वह अपने अंदर के सत्य को नहीं पहचान पाता। आत्मा का साक्षात्कार कर लेना ही मोक्ष है। मोक्षप्राप्ति के बाद उसे जन्म नहीं लेना पड़ता। वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। पुण्य और पाप का भेद तब तक मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, जब तक जगत् के साथ संबंध रहता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर यह भेद समाप्त हो जाता है। लेकिन, मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल ज्ञान ही जरूरी नहीं है। इसके लिए सदाचरण और ईश्वर-भक्ति भी आवश्यक हैं। धर्म निःश्रेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है। पूजा और उपासना से मनुष्य का मन निर्मल होता है और अज्ञानता का अंधकार मिटता है।

शांकरवेदांत के अनुसार, विशुद्ध-सत्त्व-प्रधान माया-रूप, त्रिगुणात्मक अविद्या से विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। यही ईश्वर जगत् का निमित्त तथा उपादानकारण है, जैसा सदानन्द ने वेदांतसार में कहा है :

"शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतया उपादानं च भवति, यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीर-प्रधानतयोपादानं च भवति।"

"आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियों से युक्त अज्ञान से विशिष्ट 'चैतन्य' अपने प्रधानत्व से जगत् का निमित्तकारण तथा अपनी उपाधि (माया) के प्रधानत्व से जगत् का उपादानकारण बनता है। जैसे : मकड़ी अपने प्रधानत्व से जाल का निमित्तकारण और अपने शरीर के प्रधानत्व से जाल का उपादानकारण होती है।"

शांकरमत के अनुसार ईश्वर सगुण ब्रह्म का नाम है, जिसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व माना गया है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। वह प्रकृति का आत्मतत्त्व है। ईश्वर की अनुभूति हमें तभी हो सकती है, जब हमें प्राचीन ऋषियों की दिव्य दृष्टि मिल जाए। उन ऋषियों की अवस्था तक पहुँचने में हमें धर्मशास्त्रों से मदद मिल सकती है। ईश्वर जीवों का नियंता है। माया

ईश्वर की शक्ति है। उसी से यह नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। सांख्य की प्रकृति की तरह माया स्वतंत्र नहीं है। वह ईश्वर पर आधारित है। अविद्या और माया के कारण, जो एक ही तथ्य के आत्मगत और वस्तुगत पहलू हैं, एक ईश्वर अनेक रूपों में दिखाई देता है। माया सुषुप्ति या सार्वभौम अज्ञान के समान है। इसमें अज्ञानी जीव सोते-से रहते हैं। सृष्टि से पहले की यही अवस्था है। ईश्वर इसी से जगत् की सृष्टि करता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि शांकरवेदांत में ईश्वर को व्यावहारिक मान्यता दी गई है। सृष्टि की समस्या को सुलझाने के लिए ईश्वर की कल्पना की गई है। सच तो यह है कि ब्रह्म ही सर्वस्व है। इसके अलावा और कुछ नहीं है। यह पारमार्थिक सत्य है, ईश्वर केवल व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक स्तर पर ईश्वर और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ईश्वर पुण्य-पाप से परे है। वह पूर्ण है। वह अंतर्यामी और सर्वव्यापी है। वह परम और अनंत है। वह नित्य, एक और शुद्ध चैतन्य है। उसकी उपासना की जा सकती है। वह धर्म का आधार है। वह भक्तों पर कृपा करता है और उनकी साधना में सहायता करता है।

रामानुज-वेदांत की परंपरा का सूत्रपात लक्ष्मीनाथ से होता है। यह वेदांत-दर्शन की एक शाखा है, जो वैष्णव वेदांत के अंतर्गत आती है। इस मत का आरंभ तमिल-प्रदेश में हुआ। रामानुजाचार्य द्वारा रामानुज-वेदांत का प्रवर्त्तन हुआ। उनका सिद्धांत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस मत में चित्त, अचित्त और ईश्वर को ही मूल तत्त्व माना गया है। इसमें भी प्रधानता ईश्वर की है। चित्त ही जीवात्मा है। यह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से पृथक् है। ईश्वर इसका नियामक तथा धारक है। जीवात्मा तीन प्रकार के हैं : बद्ध, मुक्त और नित्य। अचित् जड़ तथा सविकार है। इसके तीन प्रकार हैं : शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य।

इस मत के अनुसार, ईश्वर अनंत ज्ञानवान्, आनंदरूप, सद्गुणयुक्त, विश्वस्रष्टा, पालक और संहारक, चारों पुरुषार्थों का दाता तथा इच्छारूप धारण करनेवाला है। रामानुज के अनुसार, ब्रह्म सगुण है। वह पुरुषोत्तम है। वह स्वामी है। वह भक्तों का आश्रय है। वह परमश्रेय है। वह जगत् का उपादान तथा निमित्तिकारण है। वह सबका अंतरात्मा है। वह ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज से परिपूर्ण है। वह समस्त फल देनेवाला है।

शांकरवेदांत के अनुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव ब्रह्म ही है, उससे पृथक् नहीं : 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या। जीवो ब्रह्मैव नापर:।' ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, पालन होता है और उसीमें विलय होता है। वह 'सत्', 'चित्' और 'आनंद'-रूप है। मनुष्य का धर्म यह है कि वह सत्य को पहचाने। अविद्या के कारण वह ऐसी चीजों को सत्य मान बैठता है, जो उसके बंधन के कारण हैं। अंधकार में भटकने के कारण ही वह अपने अंदर के सत्य को नहीं पहचान पाता। आत्मा का साक्षात्कार कर लेना ही मोक्ष है। मोक्षप्राप्ति के बाद उसे जन्म नहीं लेना पड़ता। वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। पुण्य और पाप का भेद तब तक मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, जब तक जगत् के साथ संबंध रहता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर यह भेद समाप्त हो जाता है। लेकिन, मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल ज्ञान ही जरूरी नहीं है। इसके लिए सदाचरण और ईश्वर-भक्ति भी आवश्यक हैं। धर्म निःश्रेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है। पूजा और उपासना से मनुष्य का मन निर्मल होता है और अज्ञानता का अंधकार मिटता है।

शांकरवेदांत के अनुसार, विशुद्ध-सत्त्व-प्रधान माया-रूप, त्रिगुणात्मक अविद्या से विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। यही ईश्वर जगत् का निमित्त तथा उपादानकारण है, जैसा सदानन्द ने वेदांतसार में कहा है :

"शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतया उपादानं च भवति, यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीर-प्रधानतयोपादानं च भवति।"

"आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियों से युक्त अज्ञान से विशिष्ट 'चैतन्य' अपने प्रधानत्व से जगत् का निमित्तकारण तथा अपनी उपाधि (माया) के प्रधानत्व से जगत् का उपादानकारण बनता है। जैसे : मकड़ी अपने प्रधानत्व से जाल का निमित्तकारण और अपने शरीर के प्रधानत्व से जाल का उपादानकारण होती है।"

शांकरमत के अनुसार ईश्वर सगुण ब्रह्म का नाम है, जिसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व माना गया है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। वह प्रकृति का आत्मतत्त्व है। ईश्वर की अनुभूति हमें तभी हो सकती है, जब हमें प्राचीन ऋषियों की दिव्य दृष्टि मिल जाए। उन ऋषियों की अवस्था तक पहुँचने में हमें धर्मशास्त्रों से मदद मिल सकती है। ईश्वर जीवों का नियंता है। माया

ईश्वर की शक्ति है। उसी से यह नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। सांख्य की प्रकृति की तरह माया स्वतंत्र नहीं है। वह ईश्वर पर आधारित है। अविद्या और माया के कारण, जो एक ही तथ्य के आत्मगत और वस्तुगत पहलू हैं, एक ईश्वर अनेक रूपों में दिखाई देता है। माया सुषुप्ति या सार्वभौम अज्ञान के समान है। इसमें अज्ञानी जीव सोते-से रहते हैं। सृष्टि से पहले की यही अवस्था है। ईश्वर इसी से जगत् की सृष्टि करता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि शांकरवेदांत में ईश्वर को व्यावहारिक मान्यता दी गई है। सृष्टि की समस्या को सुलझाने के लिए ईश्वर की कल्पना की गई है। सच तो यह है कि ब्रह्म ही सर्वस्व है। इसके अलावा और कुछ नहीं है। यह पारमार्थिक सत्य है, ईश्वर केवल व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक स्तर पर ईश्वर और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। ईश्वर पुण्य-पाप से परे है। वह पूर्ण है। वह अंतर्यामी और सर्वव्यापी है। वह परम और अनंत है। वह नित्य, एक और शुद्ध चैतन्य है। उसकी उपासना की जा सकती है। वह धर्म का आधार है। वह भक्तों पर कृपा करता है और उनकी साधना में सहायता करता है।

रामानुज-वेदांत की परंपरा का सूत्रपात लक्ष्मीनाथ से होता है। यह वेदांत-दर्शन की एक शाखा है, जो वैष्णव वेदांत के अंतर्गत आती है। इस मत का आरंभ तमिल-प्रदेश में हुआ। रामानुजाचार्य द्वारा रामानुज-वेदांत का प्रवर्त्तन हुआ। उनका सिद्धांत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस मत में चित्त, अचित्त और ईश्वर को ही मूल तत्त्व माना गया है। इसमें भी प्रधानता ईश्वर की है। चित्त ही जीवात्मा है। यह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से पृथक् है। ईश्वर इसका नियामक तथा धारक है। जीवात्मा तीन प्रकार के हैं : बद्ध, मुक्त और नित्य। अचित् जड़ तथा सविकार है। इसके तीन प्रकार हैं : शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य।

इस मत के अनुसार, ईश्वर अनंत ज्ञानवान्, आनंदरूप, सद्गुणयुक्त, विश्वस्रष्टा, पालक और संहारक, चारों पुरुषार्थो का दाता तथा इच्छारूप धारण करनेवाला है। रामानुज के अनुसार, ब्रह्म सगुण है। वह पुरुषोत्तम है। वह स्वामी है। वह भक्तों का आश्रय है। वह परमश्रेय है। वह जगत् का उपादान तथा निमित्तिकारण है। वह सबका अंतरात्मा है। वह ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेज से परिपूर्ण है। वह समस्त फल देनेवाला है।

वह कर्माध्यक्ष है। वह अज्ञानियों के लिए ज्ञानरूप, निर्वलों के लिए शक्तिरूप, अपराधियों के लिए क्षमारूप, दुःशीलों के लिए शीलरूप और दुष्टों के लिए वात्सल्य-रूप है। उसके पाँच भेद हैं : पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतार। आनंद से विभूषित वासुदेव रूप 'पर' कहलाता है। ईश्वर का विश्वलीला के निमित्त धारण किया गया रूप 'व्यूह' कहलाता है। विभूतिमय स्वरूप को 'विभव' कहा गया है। ईश्वर के अवतार रूप को मुख्य विभव और स्वरूपावेश और सत्यावेश अवतार को गौण विभव कहा गया है। 'अंतर्यामी' स्वरूप से भगवान् जीवों के अंतःकरण में प्रवेश करके उनकी सब प्रवृत्तियों का नियमन करते हैं। ईश्वर का यह रूप स्वर्ग, नरक आदि लोकों में समस्त जीवों की सहायता करता है। भक्त की भावना के अनुरूप धातु, पाषाण आदि से निर्मित मूर्ति में रहनेवाली भगवान् की उपास्य मूर्ति को 'अर्चावतार' कहा गया है।

रामानुजाचार्य ने ईश्वर की उपासना पर अधिक बल दिया है। इसी उपासना को निदिध्यासन, योग, ज्ञान या भक्ति कहा गया है। ईश्वर की अनुकंपा और प्रसन्नता से ही मनुष्य मोक्षप्राप्ति कर सकता है। वर्णाश्रम के अनुरूप कर्म करने से चित्त शुद्ध होता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग द्वारा मोक्षप्राप्ति हो सकती है, लेकिन इनके साथ भक्ति का समन्वय आवश्यक है। प्रपत्ति मोक्षप्राप्ति का सबसे अधिक उपयुक्त साधन है। यह ईश्वर के प्रति संपूर्ण रूप से समर्पण कर देना है।

निंबार्क-वेदांत के प्रवर्तक हंसनारायण हैं, किन्तु इस मत की स्थापना में निंबार्काचार्य के महत्त्व के आधार पर यह निंबार्क-दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। इसे द्वैताद्वैत कहा जाता है। इस मत के अनुसार, जगत् का मूल कारण परब्रह्म है। इसीमें संपूर्ण जगत् स्थित है और इसीमें इसका पर्यवसान होता है। रामानुज की भाँति निंबार्क भी चित्, अचित् और ईश्वर, तीन परम तत्त्व मानते हैं। ईश्वर में अनंत वस्तुओं को उत्पन्न करने की शक्ति है। वह परमात्मा, ब्रह्म, वैश्वानर, पुरुषोत्तम, भगवान् आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। वह सर्वज्ञ, अचिंत्य, काल आदि का नियंता, सत्कर्मों का फलदाता, जगत् का स्रष्टा सबसे भिन्न और सबसे अभिन्न, आनंदमय, पाप-पुण्य से परे है। वह सगुण है। निंबार्क ही प्रथम वैष्णव हैं, जिन्होंने कृष्ण और राधा को सर्वप्रथम विशेष महत्त्व दिया। सहस्रों सखियों से घिरी राधा और उसके

वल्लभ कृष्ण निंवार्क के आराध्य देव हैं। दोनों की लीला सृष्टि का रहस्य है। इस मत के अनुसार, मोक्ष के लिए प्रपत्ति से ही जीव को अपनी चर्या आरंभ करनी चाहिए। निंवार्क ने रामानुज के ऐश्वर्यप्रधान भक्ति के स्थान पर माधुर्यप्रधान भक्ति का उपदेश दिया। इस मत का प्रचार वृंदावन और वंगाल में विशेप रूप से हुआ।

माध्व-वेदांत के प्रवर्त्तक मध्वाचार्य हैं। इनका सिद्धांत द्वैत-वेदांत कहलाता है। इसमें उपासना पर वल दिया गया है। यह उपासना दो प्रकार की है : शास्त्रों का सतत अभ्यास और ईश्वर का ध्यान। मध्वाचार्य ने कहा कि जगत् मिथ्या नहीं है, जीव व्रह्म का आभास नहीं है और व्रह्म ही एकमात्र सत्य नहीं है। उन्होंने पाँच नित्य भेदों को सिद्ध किया : ईश्वर का जीव से भेद, ईश्वर का जड़ पदार्थ से भेद, जीव का जड़ पदार्थ से भेद, एक जीव का दूसरे जीव से भेद, एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। इसे पंचभेद-सिद्धांत कहा जाता है। मोक्ष भगवान् के अधीन है। इस मत के अनुसार, अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति के वाद परम भक्ति का उदय होता है, इसके वाद परम अनुग्रह का उदय होता है, जो मोक्ष का दाता है। इस मत की विशेपता यह है कि मुक्त जीवों में भी आनंद के तारतम्य की कल्पना की गई है। साथ ही, जीव और जगत् को सत्य मानने पर भी ईश्वर के साथ इसके द्वैत की कल्पना की गई है। निर्मल आत्मानंद की अनुभूति ही मुक्ति है और उसका साधन भक्ति है।

वल्लभ-वेदांत के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य हैं। इनके सिद्धांत को शुद्धाद्वैत-दर्शन कहा जाता है; क्योंकि इसके अनुसार माया से अलिप्त व्रह्म ही अद्वैत-तत्त्व है। वल्लभाचार्य ने व्रह्म को ही एकमात्र तत्त्व माना है, जो पूर्णतः शुद्ध है। सारा जगत्-प्रपंच उसी की लीला का विलास है। 'सर्व खल्विदं व्रह्म', सव कुछ व्रह्म ही है, इस सिद्धांत को इस मत में अक्षरशः माना जाता है। वल्लभाचार्य ने श्रुति-स्मृति को ही एकमात्र प्रमाण माना है। उपनिपदों ने परमसत्ता का व्रह्म कहा, गीता ने पुरुपोत्तम कहा और भागवत ने परमात्मा या कृष्ण कहा। परमात्मा अनंत शक्तियों से संपन्न है, किंतु तीन शक्तियों का अधिक महत्त्व है : स्वरूप-शक्ति, तटस्थ शक्ति तथा माया-शक्ति। स्वरूप-शक्ति को चित्-शक्ति भी कहा गया है। इसकी अभिव्यक्ति संधिनी, संवित् और ह्लादनी रूपों में होती है। तटस्थ शक्ति से जीवों का जन्म होता है। माया-शक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव होता है। अधर्म की समाप्ति और

धर्म की श्रीवृद्धि के लिए भगवान् अवतार लेते हैं। श्रीकृष्ण अभी अवतार हैं और ये ही वल्लभ-मत के उपास्य हैं। यह कहा गया है : 'कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।' भगवान् तक पहुँचने का सबसे अच्छा साधन भक्ति है। भक्ति की श्रेष्ठता, भगवान् की संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों के समन्वय और सम्मिश्रण में निहित है और इन शक्तियों के सम्मिश्रण में ही ईश्वर का स्वरूप उद्भासित होता है। व्रज के स्वामी नन्द के पुत्र भगवान् कृष्ण तथा उनका धाम वृन्दावन आराधना के योग्य हैं। व्रजवधूटियों की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना का स्वरूप है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि सभी भारतीय मतों और धर्मों का लक्ष्य मानव-जाति को उठाना, जगाना और कर्मशील बनाना है; क्योंकि उसे विभिन्न मतों और धर्मों के उपदेशों को अपने जीवन में ढालकर निरंतर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना है, जबतक कि उसे लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। सच तो यह है कि विभिन्न धर्मों में ईश्वर के संबध में विभिन्न मत एक ही परम सत्य के विभिन्न पहलू हैं। मानव-जाति के इतिहास में आज का युग भौतिकवाद के चंगुल में फँसा है और विज्ञान के अभिशाप से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि 'सर्वधर्मसमन्वय' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से मनुष्य-जाति को आध्यात्मिक विकास की ओर प्रेरित किया जाए।

शैवमत

शैवमत भारत के कदाचित् प्राचीनतम संप्रदायों में एक है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर पता चला है कि प्राग्वैदिक-युगीन भारत में भी यह अस्तित्व में था। दक्षिण के तमिल-प्रान्त में यह किसी-न-किसी रूप में वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ, ईसवी-सन् के पूर्व से ही प्रचलित पाया जाता है। सं० १४०० के पहले से ही यह 'पाशुपत संप्रदाय' के रूप में, विशेष रूप से काठियावाड़ की ओर प्रसिद्ध था। कन्नड़-प्रान्त में 'वीर शैव' अथवा 'लिंगायत' नाम से प्रचलित रहा और कश्मीर में 'काश्मीर शैवधर्म' के नाम से विख्यात हुआ।

भारतीय जीवन-परम्परा के आधारभूत शास्त्र चार हैं—श्रुति, स्मृति, पुराण और आगम। वेद, निगम आदि श्रुति के पर्याय हैं। धर्मशास्त्र स्मृति का पर्याय है। सर्ग-प्रतिसर्ग आदि पाँच लक्षणों से युक्त शास्त्र को पुराण कहा जाता है। भगवान् शंकर के मुख से निर्गत (आगत) तथा पार्वती द्वारा

धारित और भगवान् वासुदेव द्वारा समर्थित होने के कारण इसे आगम-शास्त्र कहा जाता है। 'आगम' तीन प्रकार का है : ब्राह्मणागम, बौद्धागम और जैनागम। ब्राह्मणागम तीन प्रकार का है : वैष्णव आगम, शैव आगम तथा शाक्त आगम। इनमें से पहले में विष्णु, दूसरे में शिव तथा तीसरे में देवी को जगत् का कारण तथा उपास्य कहा गया है। शिव के अर्थ में शंकर और शम्भु शब्द है। शैव-धर्म में शिव परमसत्ता है। वह अनादि, स्वयंभू और सर्वज्ञ है। प्राचीन भारत में इस प्रकार रुद्र या शिव को ईश्वर माना गया। यजुर्वेद का शतरुद्रीय अध्याय, तैत्तिरीय आरण्यक और 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में रुद्र या शिव को परमेश्वर माना गया है। 'महाभारत' में माहेश्वरी के चार मत बतलाए गए हैं : शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक।

आरम्भ से ही शैवधर्म उन्मुक्त हवा की तरह मुक्त रहा है। जिस प्रकार हवा सभी फूलों का स्पर्श करती है और अपने साथ उनकी सुगंधि बिखेरती है, उसी प्रकार यह धर्म उन सारे विचारों को ग्रहण करता है, जो मानव-जाति के लिए सत्य और कल्याणकारी हैं। यह आकाश की तरह सभी देशों के आध्यात्मिक वातावरण में व्याप्त है। इसमें धार्मिक विचारधारा की सभी अवस्थाओं तथा दर्शन की सभी प्रणालियों के लिए स्थान है। शैवधर्म एक बहुत व्यापक धर्म है; क्योंकि यह इस जगत् की विभिन्न धार्मिक विचार-धाराओं की जरूरत समझता है, जहाँ मानवीय विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

शैवधर्म में शिव नित्य स्थायी हैं। वह काल के द्वारा सीमित नहीं है। सर्वव्यापी है। उसकी शक्ति चेतन शक्ति है। उसकी शक्ति को उमा भी कहा जाता है, लेकिन वह कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। शैवमत में शिव केवल अध्यात्मशास्त्र की परम-सत्ता न होकर धर्म का ईश्वर है। वह रक्षक और गुरु है। वह मानव-जाति के कल्याण के लिए शिव का रूप धारण करता है। वह ईश्वर प्रेममय है। इस मत में मूलभूत तत्त्व तीन हैं : शिव, शक्ति और बिंदु। 'शिव' जगत् का कर्ता है, 'शक्ति' उपकरण है और 'बिंदु' उपादान है। बिंदु दो प्रकार का है—शुद्ध तथा अशुद्ध। शुद्ध बिंदु को 'महामाया' कहते हैं। अशुद्ध बिंदु को 'माया' अथवा 'प्रकृति' कहते हैं। महामाया सात्त्विक जगत् का तथा माया प्राकृत जगत् का उपादान है।

इस मत में पदार्थ तीन हैं : पति, पशु तथा पाश। पति अनादि, अनन्त और

धर्म की श्रीवृद्धि के लिए भगवान् अवतार लेते हैं। श्रीकृष्ण अभी अवतार हैं और ये ही वल्लभ-मत के उपास्य हैं। यह कहा गया है : 'कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।' भगवान् तक पहुँचने का सबसे अच्छा साधन भक्ति है। भक्ति की श्रेष्ठता, भगवान् की संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों के समन्वय और सम्मिश्रण में निहित है और इन शक्तियों के सम्मिश्रण में ही ईश्वर का स्वरूप उद्भासित होता है। व्रज के स्वामी नन्द के पुत्र भगवान् कृष्ण तथा उनका धाम वृन्दावन आराधना के योग्य हैं। व्रजवधूटियों की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना का स्वरूप है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि सभी भारतीय मतों और धर्मों का लक्ष्य मानव-जाति को उठाना, जगाना और कर्मशील बनाना है; क्योंकि उसे विभिन्न मतों और धर्मों के उपदेशों को अपने जीवन में ढालकर निरंतर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना है, जबतक कि उसे लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। सच तो यह है कि विभिन्न धर्मों में ईश्वर के संबध में विभिन्न मत एक ही परम सत्य के विभिन्न पहलू हैं। मानव-जाति के इतिहास में आज का युग भौतिकवाद के चंगुल में फँसा है और विज्ञान के अभिशाप से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि 'सर्वधर्मसमन्वय' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से मनुष्य-जाति को आध्यात्मिक विकास की ओर प्रेरित किया जाए।

शैवमत

शैवमत भारत के कदाचित् प्राचीनतम संप्रदायों में एक है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर पता चला है कि प्राग्वैदिक-युगीन भारत में भी यह अस्तित्व में था। दक्षिण के तमिल-प्रान्त में यह किसी-न-किसी रूप में वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ, ईसवी-सन् के पूर्व से ही प्रचलित पाया जाता है। सं० १४०० के पहले से ही यह 'पाशुपत संप्रदाय' के रूप में, विशेष रूप से काठियावाड़ की ओर प्रसिद्ध था। कन्नड़-प्रान्त में 'वीर शैव' अथवा 'लिंगायत' नाम से प्रचलित रहा और कश्मीर में 'काश्मीर शैवधर्म' के नाम से विख्यात हुआ।

भारतीय जीवन-परम्परा के आधारभूत शास्त्र चार हैं—श्रुति, स्मृति, पुराण और आगम। वेद, निगम आदि श्रुति के पर्याय हैं। धर्मशास्त्र स्मृति का पर्याय है। सर्ग-प्रतिसर्ग आदि पाँच लक्षणों से युक्त शास्त्र को पुराण कहा जाता है। भगवान् शंकर के मुख से निर्गत (आगत) तथा पार्वती द्वारा

धारित और भगवान् वासुदेव द्वारा समर्थित होने के कारण इसे आगम-शास्त्र कहा जाता है। 'आगम' तीन प्रकार का है : ब्राह्मणागम, बौद्धागम और जैनागम। ब्राह्मणागम तीन प्रकार का है : वैष्णव आगम, शैव आगम तथा शाक्त आगम। इनमें से पहले में विष्णु, दूसरे में शिव तथा तीसरे में देवी को जगत् का कारण तथा उपास्य कहा गया है। शिव के अर्थ मे शंकर और शम्भु शब्द है। शैव-धर्म में शिव परमसत्ता है। वह अनादि, स्वयंभू और सर्वज्ञ है। प्राचीन भारत में इस प्रकार रुद्र या शिव को ईश्वर माना गया। यजुर्वेद का शतरुद्रीय अध्याय, तैत्तिरीय आरण्यक और 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में रुद्र या शिव को परमेश्वर माना गया है। 'महाभारत' में माहेश्वरी के चार मत बतलाए गए हैं : शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक।

आरम्भ से ही शैवधर्म उन्मुक्त हवा की तरह मुक्त रहा है। जिस प्रकार हवा सभी फूलों का स्पर्श करती है और अपने साथ उनकी सुगंधि बिखेरती है, उसी प्रकार यह धर्म उन सारे विचारों को ग्रहण करता है, जो मानव-जाति के लिए सत्य और कल्याणकारी हैं। यह आकाश की तरह सभी देशों के आध्यात्मिक वातावरण में व्याप्त है। इसमें धार्मिक विचारधारा की सभी अवस्थाओं तथा दर्शन की सभी प्रणालियों के लिए स्थान है। शैवधर्म एक बहुत व्यापक धर्म है; क्योंकि यह इस जगत् की विभिन्न धार्मिक विचार-धाराओं की जरूरत समझता है, जहाँ मानवीय विकास की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

शैवधर्म में शिव नित्य स्थायी हैं। वह काल के द्वारा सीमित नहीं है। सर्वव्यापी है। उसकी शक्ति चेतन शक्ति है। उसकी शक्ति को उमा भी कहा जाता है, लेकिन वह कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। शैवमत में शिव केवल अध्यात्मशास्त्र की परम-सत्ता न होकर धर्म का ईश्वर है। वह रक्षक और गुरु है। वह मानव-जाति के कल्याण के लिए शिव का रूप धारण करता है। वह ईश्वर प्रेममय है। इस मत में मूलभूत तत्त्व तीन हैं : शिव, शक्ति और बिंदु। 'शिव' जगत् का कर्त्ता है, 'शक्ति' उपकरण है और 'बिंदु' उपादान है। बिंदु दो प्रकार का है—शुद्ध तथा अशुद्ध। शुद्ध बिंदु को 'महामाया' कहते हैं। अशुद्ध बिंदु को 'माया' अथवा 'प्रकृति' कहते हैं। महामाया सात्त्विक जगत् का तथा माया प्राकृत जगत् का उपादान है।

इस मत में पदार्थ तीन हैं : पति, पशु तथा पाश। पति अनादि, अनन्त और

धर्म की श्रीवृद्धि के लिए भगवान् अवतार लेते हैं। श्रीकृष्ण अभी अवतार हैं और ये ही वल्लभ-मत के उपास्य हैं। यह कहा गया है : 'कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।' भगवान् तक पहुँचने का सबसे अच्छा साधन भक्ति है। भक्ति की श्रेष्ठता, भगवान् की संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों के समन्वय और सम्मिश्रण में निहित है और इन शक्तियों के सम्मिश्रण में ही ईश्वर का स्वरूप उद्भासित होता है। व्रज के स्वामी नन्द के पुत्र भगवान् कृष्ण तथा उनका धाम वृन्दावन आराधना के योग्य हैं। व्रजवधूटियों की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ उपासना का स्वरूप है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि सभी भारतीय मतों और धर्मों का लक्ष्य मानव-जाति को उठाना, जगाना और कर्मशील बनाना है; क्योंकि उसे विभिन्न मतों और धर्मों के उपदेशों को अपने जीवन में ढालकर निरंतर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना है, जबतक कि उसे लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। सच तो यह है कि विभिन्न धर्मों में ईश्वर के संबध में विभिन्न मत एक ही परम सत्य के विभिन्न पहलू हैं। मानव-जाति के इतिहास में आज का युग भौतिकवाद के चंगुल में फँसा है और विज्ञान के अभिशाप से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि 'सर्वधर्मसमन्वय' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से मनुष्य-जाति को आध्यात्मिक विकास की ओर प्रेरित किया जाए।

शैवमत

शैवमत भारत के कदाचित् प्राचीनतम संप्रदायों में एक है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर पता चला है कि प्राग्वैदिक-युगीन भारत में भी यह अस्तित्व में था। दक्षिण के तमिल-प्रान्त में यह किसी-न-किसी रूप में वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ, ईसवी-सन् के पूर्व से ही प्रचलित पाया जाता है। सं० १४०० के पहले से ही यह 'पाशुपत संप्रदाय' के रूप में, विशेष रूप से काठियावाड़ की ओर प्रसिद्ध था। कन्नड़-प्रान्त में 'वीर शैव' अथवा 'लिंगायत' नाम से प्रचलित रहा और कश्मीर में 'काश्मीर शैवधर्म' के नाम से विख्यात हुआ।

भारतीय जीवन-परम्परा के आधारभूत शास्त्र चार हैं—श्रुति, स्मृति, पुराण और आगम। वेद, निगम आदि श्रुति के पर्याय हैं। धर्मशास्त्र स्मृति का पर्याय है। सर्ग-प्रतिसर्ग आदि पाँच लक्षणों से युक्त शास्त्र को पुराण कहा जाता है। भगवान् शंकर के मुख से निर्गत (आगत) तथा पार्वती द्वारा

सर्वव्यापी चित्-शक्ति का निवास-स्थान है। वह सर्वव्यापी, शाश्वत तथा चेतन कार्यकर्त्ता है। पशु, अर्थात् जीवात्मा स्थूल शरीर से भिन्न है। यह सूक्ष्म है। इच्छा, विचार तथा क्रिया उसके व्यापार हैं। प्रलय की अवस्था में जीवात्माएँ शिव में विश्राम करती हैं। इनकी संख्या न बढ़ सकती है, न घट सकती है। जीवात्मा मल, कर्म, माया और सेव्यभक्ति नामक चार पाशों से बँधा है। जब जीवात्मा परमशिव के 'शक्तिपात' नामक अनुग्रह को प्राप्त करता है, तब समस्त भव-बंधनों से मुक्त होकर परमशिवत्व को प्राप्त करता है। पाश के नष्ट हो जाने पर जीवात्मा शिव बन जाती है। परम शिवत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है। ज्यों-ज्यों जीवात्माएँ मोक्ष प्राप्त करती जाती हैं, त्यों-त्यों जीवात्माओं की संख्या कम होती जाती है। आध्यात्मिक विकास और ईश्वर के सान्निध्य से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आध्यात्मिक विकास की शर्त्त शुद्धता है। शुद्ध हृदय में ईश्वर प्रकट होता है। शुद्ध और निष्कलुप मनुष्य ईश्वर का दर्शन करता है। वह इस जीवन में भी ईश्वर का दर्शन कर सकता है। यह शैवधर्म की मुख्य अवधारणा है।

शैवधर्म के अनुसार, शिव विशुद्ध चैतन्य है और प्रकृति विशुद्ध रूप में जड़ है। 'जिस प्रकार तना, पत्ता और फल, जो बीज में निहित हैं, बीज से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार काल से पृथ्वी (क्षिति)-पर्यन्त यह विश्व माया से विकास के रूप में आता है। जब शुद्ध माया, जो शिव की शक्ति है, अपना क्रियात्मक जीवन प्रारम्भ करती है, तब शिव भोक्ता हो जाता है। शैवमत जगत् के भ्रान्तिमय विचार का समर्थन नहीं करता। संसार परिहास की वस्तु नहीं है। उसकी रचना का अर्थ है। ईश्वर सदैव जीवात्माओं को मुक्त करने का प्रयास करता रहता है। संसार का अनवरत गतिमान् प्रवाह मनुष्य को उच्चतर जीवन के प्रति आकृष्ट करने के लिए चलता रहता है। कर्म-विधान संसार का नियंत्रण करता है। शिव की अभिलाषा रहती है कि समस्त प्राणी उसे जानें। हमें अविद्या से मुक्ति पानी है। अविद्या से आत्मा की ज्योति धूमिल होती है। अविद्या के कारण ही मनुष्य बार-बार जन्म लेता है। यह कर्म को निःशक्त बनाती है। माया को भी दूर करना है; क्योंकि यही सब मलिनताओं की जड़ है। किन्तु, शिव दया का सागर है। वह आध्यात्मिक विकास में हमारी सहायता करता है। शैवमत के अनुयायी ईश्वर का साक्षात् करने के लिए लालायित रहते हैं। 'माणिक्कवासगर' के एक गीत का भाव इस प्रकार है :

'इस पापमय ढाँचे (शरीर) को उतार फेंकने के लिए ; शिव के निवास-स्थान में प्रवेश पाने तथा उस अद्भुत प्रकाश को देखने के लिए, जिससे कि ये आँखें प्रसन्नता प्राप्त कर सकें ; हे अनंत ! जिसके भक्त-समाज की कोई तुलना नहीं है ; हे पुराणपुरुष ! तेरा दर्शन करने को तेरे दास की आत्मा तरस रही है ।'

इस प्रकार, हम देखते हैं कि शैवधर्म एकेश्वरवादी धर्म है। यह अपने सैद्धांतिक पक्ष में ईश्वर की एक आध्यात्मिक सत्ता में विश्वास करता है, जो इस जगत् के रूप में और अन्य कई जगत् के रूपों में प्रकट होती है। विश्व में हर जगह इसका अस्तित्व है और यह विश्व से परे भी है। यह हर प्राणी में विद्यमान है और उसका सर्वोच्च स्वामी है।

व्यावहारिक पक्ष में यह धर्म हमें जीवन-भर चिन्तन करने और ईश्वर के प्रति निष्ठावान् होने का उपदेश देता है। शैवधर्म के अनुसार, ईश्वर एक है, लेकिन कई मार्ग हैं। यह मुख्य रूप से तीन मार्गों पर बल देता है : कर्म, भक्ति और ज्ञान। नैतिक शुद्धता तथा ईश्वर का निरंतर चिंतन करने से मनुष्य शिवत्व की प्राप्ति कर सकता है। यही इस धर्म का सार है।

पाशुपत मत के अनुसार, पाँच पदार्थ हैं : कार्य, कारण, योग, विधि तथा दुःखांत। कार्य परतंत्र पदार्थ है। यह तीन प्रकार का है : विद्या, कला तथा पशु। जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार के कर्त्ता महेश्वर कारण हैं। कर्म और ज्ञान से साध्य जीव और ईश्वर का परस्पर संबंध 'योग' है। महेश्वर की प्राप्ति के लिए जीवात्मा द्वारा किया गया व्यापार विधि है। दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति 'दुःखान्त' या मोक्ष है। मुक्त जीव परमेश्वरत्व को प्राप्त कर जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है।

काश्मीर शैवमत के अनुसार, परमशिव जगत् का मूल है। वह चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नामक पाँच शक्तियों की सहायता से स्वात्मभूत भित्ति पर जगत् को चित्रित करता है। जगत् परमशिव का आभास है। जब परमेश्वर जगत् की सृष्टि करना चाहता है, तब वह अपने को दो रूपों में विभक्त करता है : शिवरूप और शक्तिरूप। मोक्ष की प्राप्ति होने पर 'मैं ही महेश्वर हूँ' की प्रत्यभिज्ञा होती है।

वीर शैवमत में स्थूल चिदचिच्छक्ति विशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट शिव का अद्वैत है। शिव की सूक्ष्म चित्-अचित्-शक्ति को ही विमर्श-

शीत कहते हैं। इस मत को लिंगायत भी कहते हैं; क्योंकि इसके अनुयायी शिवलिंग की पूजा करते हैं और उसे पहने भी रहते हैं।

शाक्तमत

ऋग्वेद में शक्ति-पूजा का उल्लेख मिलता है। एक ऋचा में कहा गया है: '(वह) शक्ति का धारण करनेवाली है और स्वर्ग में निवास करती है।' वह सर्वोपरि शक्ति है। वह भक्तों की पूज्य माता है। 'केन उपनिषद्' में यह 'उमा' के रूप में आई। महाभारत में कृष्ण की भगिनी के रूप में इसका उल्लेख मिलता है और यही कारण है कि वैष्णव धर्म के साथ इसका कुछ संबंध रहा। शैवों ने इसे शिव की पत्नी माना है। शाक्त आगम तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजस और तामस। इनमें से सात्त्विक आगम को 'तंत्र', राजस आगम को 'यामल' तथा तामस आगम को 'डामर' कहते हैं। शक्ति आगम का अनुसरण करनेवाली उपासना के तीन मुख्य केन्द्र हैं—काश्मीर, कांची तथा कामाख्या।

शक्ति माता का रूप है। इसे बहुधा विकराल एवं भयसंचारक रूप दिया जाता था। वह अनिष्टों को नष्ट करनेवाली समझी जाती थी। शाक्तमत में पूजा और उपासना का जो विधान था वह साधारणतः तांत्रिक कहा जाता था। भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति में सहायक माना गया है। यह मत कर्म, पुनर्जन्म तथा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों के सिद्धांतों को स्वीकार करता है।

वैष्णव-मत

जिस प्रकार शैवमत के साथ प्रायः योग-साधना का नाम जोड़ने की परंपरा देखी जाती है, उसी प्रकार वैष्णव-संप्रदाय के साथ भी भक्ति-साधना का नाम लिया जाता है। वैष्णव धर्म का प्राचीन नाम भागवत धर्म है। इस मत के प्रधान उपास्यदेव वासुदेव हैं। वे छह गुणों से संपन्न हैं—ज्ञान, शक्ति, बल, वीर्य, ऐश्वर्य और तेज। इसीलिए, उन्हें भगवत् अथवा भगवान् कहा गया है। पहले, वैष्णव-संप्रदाय की दो प्रसिद्ध शाखाएँ थीं: पांचरात्र और वैखानस। पांचरात्र बहुत प्राचीन शाखा है। इसका नाम पांचरात्र होने के बहुत से कारण बताए गए हैं। महाभारत के अनुसार, चार वेदों तथा सांख्ययोग के समावेश के कारण इसका नाम पांचरात्र पड़ा। ईश्वरसंहिता के अनुसार, शांडिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज

नामक पाँच ऋषियों द्वारा प्रचारित होने के कारण इसका नाम पांचरात्र है। शतपथब्राह्मण के अनुसार, पाँच रातों में इस धर्म की व्याख्या की गई थी, इसलिए इसका नाम पांचरात्र पड़ा। एक मत यह भी है कि 'रात्र' शब्द ज्ञानवाचक है, अतः परमतत्त्व, भुक्ति, मुक्ति, योग तथा संसार—इन पाँच विषयों के ज्ञान का संपादन करनेवाला शास्त्र 'पांचरात्र' है। कुछ लोगों का यह विचार है कि लगभग ६०० ई० पू० में बौद्ध-जैन सुधार-आन्दोलन का जन्म ब्राह्मण-ग्रंथों के हिंसा-प्रधान यज्ञों की प्रतिक्रिया में हुआ था, किन्तु उस समय शांत भाव से एक संप्रदाय विकसित हो रहा था, जो उपासना-प्रधान था। ई० पू० तीसरी-चौथी शती से पहली शती तक वासुदेव की उपासना के अनेक प्रमाण प्राचीन साहित्य और पुरातत्त्व में मिले हैं। बौद्ध जातकों में वासुदेव की कथा मिलती है। इस प्रकार, इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

वैष्णव धर्म की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें विष्णु के प्रति अगाध प्रेम और निष्ठा व्यक्त की गई है और विष्णु की पूजा इस विश्व के सृष्टिकर्त्ता और संहारकर्त्ता के रूप में की गई है। वैष्णव धर्म एकेश्वरवाद का एक रूप है। उपनिषद् में सर्वोच्च सत्ता अथवा ईश्वर का वर्णन सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता और संहारकर्त्ता के रूप में किया गया है। वह सृष्टिकर्त्ता के रूप में ब्रह्मा, पालनकर्त्ता के रूप में विष्णु, और संहारकर्त्ता के रूप में शिव अथवा रुद्र के रूप में जाना जाता है। संपूर्ण जीवन ईश्वर से उद्भूत होता है और उसमें विलीन हो जाता है। वही ईश्वर इस विश्व का पालन करने के लिए इसे मूर्त्त रूप देता है। चूँकि वह सर्वव्यापी है, अतः उसे विष्णु कहा जाता है। वह सर्वव्यापी विष्णु संपूर्ण विश्व में व्याप्त है। वह शाश्वत ज्ञान और प्रेम की किरण है। वह प्रकट और अप्रकट दोनों है। वह अनादि और अनंत है। वह सबके हृदयों में निवास करता है। वह सर्वशक्तिमान् और दयालु है। वे प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण हैं तथा जगत् की उत्पत्ति के उपाय भूत ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज—इन छह गुणों से युक्त होने के कारण सगुण हैं। लक्ष्मी उनकी आत्मभूता शक्ति है। वासुदेव कृष्ण से भिन्न हैं। इस बात के कई प्रमाण मिलते हैं। वैदिक उल्लेखों—अंगिरस् ऋषि, कृष्ण और कृष्णासुर के उल्लेखों—में कृष्ण के वासुदेव होने का कोई संकेत नहीं है। छांदोग्य उपनिषद् के देवकी-पुत्र कृष्ण

घोर अंगिरस् के शिष्य हैं। घोर अंगिरस् ने देवकी-पुत्र कृष्ण को जो यज्ञ की विधि बताई थी, वह भी भागवत यज्ञ या वैष्णव यज्ञ ही थी, अतः देवकी-पुत्र कृष्ण या वासुदेव कृष्ण भागवत धर्म के आदि प्रवर्त्तक नहीं थे। यह बात गीता के 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' वाक्य से प्रमाणित होती है कि कृष्ण से भिन्न कोई और वासुदेव पहले हो चुका था। महाभारत के शांतिपर्व में नारायण का उल्लेख मिलता है, जिन्हें विष्णु से अभिन्न बताया गया है। यही नारायण वासुदेव हैं। यह भी कहा गया है कि वे द्वापर और कलियुग के संधिकाल में कंस का नाश करने के लिए मथुरा में जन्म लेंगे। यही नारायण हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण और कल्कि के रूप में अवतार लेंगे। इन बातों से स्पष्ट होता है कि महाभारत के समय तक नारायण, वासुदेव और कृष्ण एक होकर कृष्ण में समन्वित होने लगे थे। इस प्रकार, भागवत या वैष्णव धर्म को महाभारत और पुराणों की सहायता से एक व्यापक लोकधर्म बनाने की निरंतर चेष्टा की गई। वैष्णव धर्म के प्रचार से ही अहिंसा और अवतारवाद के सिद्धांत का व्यापक रूप से प्रचलन हो गया था। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि ई० पू० १५०० से ५०० ई० तक वैष्णव धर्म का उत्थान-काल था; क्योंकि इस समय पौराणिक साहित्य के रूप में इस धर्म का काफी विकास हो चुका था।

लेकिन छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी की लगभग समाप्ति तक उत्तर भारत में वैष्णव धर्म अथवा भागवत धर्म की उन्नति नहीं हो सकी; क्योंकि स्मार्त्त वैदिक धर्म और बौद्ध-धर्म में लोकरुचि को आकृष्ट करने की होड़-सी हो रही थी। इसलिए, बौद्ध-धर्म ने वैष्णव धर्म की कई बातें अपना लीं और बाद में लोक-प्रथाओं को अपनाता हुआ वह महायान, मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि रूपों में परिणत होता हुआ धीरे-धीरे नामशेष हो गया। आगे शंकराचार्य भी बौद्धधर्म को नष्ट करने में सफल हुए। लेकिन, इस समय दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की उन्नति हो रही थी। वहाँ आलवार भक्तों की परंपरा नवीं शताब्दी तक निरंतर चलती रही। उनकी भक्ति में प्रपत्ति की भावना और भगवान् के अनुग्रह का सबसे अधिक महत्त्व है। इन भक्तों ने विष्णु, वासुदेव या नारायण तथा उनके अवतार राम और कृष्ण के प्रति अनन्यभाव का प्रेम प्रकट किया और कृष्ण तथा गोपियों की आनंद-क्रीडाओं का तन्मयतापूर्वक वर्णन करते हुए उनके प्रति दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की भक्ति प्रकट की गई।

वैष्णव धर्म के आचार्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध रामानुजाचार्य हुए। उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत तथा उस पर आधारित प्रपत्तिपूर्ण भक्ति-धर्म का प्रतिपादन किया। रामानुजाचार्य ने जिस भक्तिधर्म की स्थापना की, उसे श्रीवैष्णव कहा जाता है; क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसका प्रवर्त्तन स्वयं श्री (लक्ष्मी) के द्वारा हुआ है। लक्ष्मीनारायण इसके उपास्यदेव हैं।

दक्षिण में एक अन्य आचार्य मध्व हुए। ये विशुद्ध द्वैतवाद को मानते हैं। इन्होंने शंकर के मायावाद और अद्वैतवाद का खंडन किया। उन्होंने ब्रह्म-संप्रदाय की स्थापना की। दक्षिण भारत में कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ। बंगाल का गौडीय वैष्णव-संप्रदाय भी माध्व-मत की एक शाखा है। मध्व के द्वैतमत का प्रचार उनके पहले भी था। उन्होंने बड़ी चतुरता से सांख्य और न्याय-वैशेषिक-सिद्धांतों का प्रयोग किया है। मध्व का एक नाम आनंदतीर्थ भी था। मध्व के अनुसार, ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता और उसके प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होता है। सभी वस्तुओं के विषय में यथार्थ ज्ञान हमें ईश्वर की ओर ले जाता है। वे कहते हैं: 'यह निश्चित है कि वह व्यक्ति, जो यह समझ लेता है कि यह सब जीवन, जिसका अंत है, सदा हरि के वश में रहता है, संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।' भगवत्कृपा से ही मोक्ष संभव है।

दक्षिण के ही एक और आचार्य निंबार्क या निंबादित्य प्रसिद्ध हैं। इनके अनुसार जीव ज्ञान-स्वरूप है, लेकिन शंकर के अर्थों में नहीं। जिस प्रकार सूर्य प्रकाशस्वरूप है और प्रकाश का स्रोत भी है, उसी प्रकार जीव है। इनके अनुसार जड़ जगत् के तीन मुख्य वर्ग हैं: अप्राकृत, प्रकृति और काल। ईश्वर का नित्य स्वभाव शासन करना है। वह विश्व का उपादान तथा निमित्त-कारण है।

दक्षिण में ही विष्णुस्वामी नाम के एक और आचार्य प्रसिद्ध हुए। वे न केवल उपनिषदों, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रामाणिक ग्रंथ मानते थे, प्रत्युत भागवतपुराण को भी प्रामाणिक मानते थे। उनका मत शुद्धाद्वैत है। उनके अनुसार, समस्त जगत् यथार्थ है और सूक्ष्म रूप में ब्रह्म है। इसके बाद वल्लभ ने उत्तर भारत में आकर विष्णुस्वामी के मत का परिष्कार करके उसे चढ़ाया। वल्लभ के अनुसार, ईश्वर सच्चिदानंद है और गुणों से युक्त है। ईश्वर शरीरधारी कृष्ण है। वे ईश्वर को संपूर्ण इकाई तथा जीव को उसका

घोर अंगिरस् के शिष्य हैं। घोर अंगिरस् ने देवकी-पुत्र कृष्ण को जो यज्ञ की विधि बताई थी, वह भी भागवत यज्ञ या वैष्णव यज्ञ ही थी, अतः देवकी-पुत्र कृष्ण या वासुदेव कृष्ण भागवत धर्म के आदि प्रवर्त्तक नहीं थे। यह बात गीता के 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' वाक्य से प्रमाणित होती है कि कृष्ण से भिन्न कोई और वासुदेव पहले हो चुका था। महाभारत के शांतिपर्व में नारायण का उल्लेख मिलता है, जिन्हें विष्णु से अभिन्न बताया गया है। यही नारायण वासुदेव हैं। यह भी कहा गया है कि वे द्वापर और कलियुग के संधिकाल में कंस का नाश करने के लिए मथुरा में जन्म लेंगे। यही नारायण हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण और कल्कि के रूप में अवतार लेंगे। इन बातों से स्पष्ट होता है कि महाभारत के समय तक नारायण, वासुदेव और कृष्ण एक होकर कृष्ण में समन्वित होने लगे थे। इस प्रकार, भागवत या वैष्णव धर्म को महाभारत और पुराणों की सहायता से एक व्यापक लोकधर्म बनाने की निरंतर चेष्टा की गई। वैष्णव धर्म के प्रचार से ही अहिंसा और अवतारवाद के सिद्धांत का व्यापक रूप से प्रचलन हो गया था। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि ई० पू० १५०० से ५०० ई० तक वैष्णव धर्म का उत्थान-काल था; क्योंकि इस समय पौराणिक साहित्य के रूप में इस धर्म का काफी विकास हो चुका था।

लेकिन छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी की लगभग समाप्ति तक उत्तर भारत में वैष्णव धर्म अथवा भागवत धर्म की उन्नति नहीं हो सकी; क्योंकि स्मार्त्त वैदिक धर्म और बौद्ध-धर्म में लोकरुचि को आकृष्ट करने की होड़-सी हो रही थी। इसलिए, बौद्ध-धर्म ने वैष्णव धर्म की कई बातें अपना लीं और बाद में लोक-प्रथाओं को अपनाता हुआ वह महायान, मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान आदि रूपों में परिणत होता हुआ धीरे-धीरे नामशेष हो गया। आगे शंकराचार्य भी बौद्धधर्म को नष्ट करने में सफल हुए। लेकिन, इस समय दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की उन्नति हो रही थी। वहाँ आलवार भक्तों की परंपरा नवीं शताब्दी तक निरंतर चलती रही। उनकी भक्ति में प्रपत्ति की भावना और भगवान् के अनुग्रह का सबसे अधिक महत्त्व है। इन भक्तों ने विष्णु, वासुदेव या नारायण तथा उनके अवतार राम और कृष्ण के प्रति अनन्यभाव का प्रेम प्रकट किया और कृष्ण तथा गोपियों की आनंद-क्रीडाओं का तन्मयतापूर्वक वर्णन करते हुए उनके प्रति दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की भक्ति प्रकट की गई।

वैष्णव धर्म के आचार्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध रामानुजाचार्य हुए। उन्होंने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन किया। उन्होंने विशिष्टाद्वैत तथा उस पर आधारित प्रपत्तिपूर्ण भक्ति-धर्म का प्रतिपादन किया। रामानुजाचार्य ने जिस भक्तिधर्म की स्थापना की, उसे श्रीवैष्णव कहा जाता है; क्योंकि विश्वास किया जाता है कि इसका प्रवर्त्तन स्वयं श्री (लक्ष्मी) के द्वारा हुआ है। लक्ष्मीनारायण इसके उपास्यदेव हैं।

दक्षिण में एक अन्य आचार्य मध्व हुए। ये विशुद्ध द्वैतवाद को मानते हैं। इन्होंने शंकर के मायावाद और अद्वैतवाद का खंडन किया। उन्होंने ब्रह्म-संप्रदाय की स्थापना की। दक्षिण भारत में कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ। बंगाल का गौडीय वैष्णव-संप्रदाय भी माध्व-मत की एक शाखा है। मध्व के द्वैतमत का प्रचार उनके पहले भी था। उन्होंने बड़ी चतुरता से सांख्य और न्याय-वैशेषिक-सिद्धांतों का प्रयोग किया है। मध्व का एक नाम आनंदतीर्थ भी था। मध्व के अनुसार, ज्ञान के द्वारा ही ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता और उसके प्रति प्रेम का भाव उत्पन्न होता है। सभी वस्तुओं के विषय में यथार्थ ज्ञान हमें ईश्वर की ओर ले जाता है। वे कहते हैं : 'यह निश्चित है कि वह व्यक्ति, जो यह समझ लेता है कि यह सब जीवन, जिसका अंत है, सदा हरि के वश में रहता है, संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।' भगवत्कृपा से ही मोक्ष संभव है।

दक्षिण के ही एक और आचार्य निंबार्क या निंबादित्य प्रसिद्ध हैं। इनके अनुसार जीव ज्ञान-स्वरूप है, लेकिन शंकर के अर्थों में नहीं। जिस प्रकार सूय प्रकाशस्वरूप है और प्रकाश का स्रोत भी है, उसी प्रकार जीव है। इनके अनुसार जड़ जगत् के तीन मुख्य वर्ग हैं : अप्राकृत, प्रकृति और काल। ईश्वर का नित्य स्वभाव शासन करना है। वह विश्व का उपादान तथा निमित्त-कारण है।

दक्षिण में ही विष्णुस्वामी नाम के एक और आचार्य प्रसिद्ध हुए। वे न केवल उपनिषदों, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र को प्रामाणिक ग्रंथ मानते थे, प्रत्युत भागवतपुराण को भी प्रामाणिक मानते थे। उनका मत शुद्धाद्वैत है। उनके अनुसार, समस्त जगत् यथार्थ है और सूक्ष्म रूप में ब्रह्म है। इसके बाद वल्लभ ने उत्तर भारत में आकर विष्णुस्वामी के मत का परिष्कार करके उसे बढ़ाया। वल्लभ के अनुसार, ईश्वर सच्चिदानंद है और गुणों से युक्त है। ईश्वर शरीरधारी कृष्ण है। वे ईश्वर को संपूर्ण इकाई तथा जीव को उसका

अंश मानते हैं। मध्ययुग में भक्ति का प्रचार करनेवाले सभी संप्रदायों और उनके अनुयायियों ने 'श्रीमद्भागवतपुराण' का सबसे अधिक अनुसरण किया है। एक प्रकार से यह पुराण मध्ययुगीन भागवत धर्म का अक्षय स्रोत है।

वैष्णव धर्म में मानव-जीवन की तुलना क्षीरसागर से की गई है। इस जीवन-रूपी सागर में सुख-दुःख रूपी लहरें हैं, जिन्हें पार करना मुश्किल है। लेकिन विष्णु-पूजा से हमें प्रेरणा और आशा मिलती है। इस भवसागर को पार करने में दो सात्विक शस्त्र सहायक हैं—आस्था और निष्ठा। कहा गया है कि विष्णु के चार हाथ हैं और इन चार हाथों में चार चीजें हैं : शंख, चक्र, गदा और पद्म। मानव-जीवन की सफलता के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पूर्वापेक्षाएँ हैं। पहले तीन का प्रयोग चौथे के लिए किया जाता है। शंख, चक्र, गदा और पद्म जीवन की कठिनाइयों से लड़ने के शस्त्र हैं। शंख धर्म का प्रतीक है। इसके बिना मोक्ष संभव नहीं है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः', धर्म की रक्षा करना सबका धर्म है। जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है। चक्र से मनुष्य को इस बात की प्ररणा मिलती है कि वह हमेशा कर्मशील रहे। जो कर्मशील है, वही स्वस्थ और सुखी जीवन व्यतीत करता है। चक्र अधर्म से धर्म की, शत्रुओं से भक्तों की रक्षा करता है। 'गदा' कर्म का प्रतीक है। कर्म से ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। गदा मनुष्य को अहंकार से दूर रखता है। पद्म मोक्ष का प्रतीक है। जिस प्रकार कमल जल में रहकर भी जल से अलग रहता है, उसी प्रकार मानव भौतिक जीवन में रहकर भी उससे कलुषित नहीं होता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वैष्णव धर्म भक्ति-प्रधान योग-साधना है, जिसमें प्राणिमात्र के प्रति दया, नम्रता, शांतभाव, सांसारिक इच्छाओं से अनासक्ति और हृदय की पवित्रता पर बल दिया गया है। सच तो यह है कि भक्ति ही यथार्थ में मुक्ति है।

आर्य-समाज

आर्य-समाज का जन्म ७ अप्रैल, सन् १८७५ ई०, को बंबई में हुआ था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने इसकी स्थापना की थी। उन्होंने अपने गुरु स्वामी विरजानंद के आदेशों से अज्ञान के अंधकार में पड़े आर्यावर्त के निवासियों को ज्ञान से आलोकित करने का संकल्प किया था। स्वामी दयानंद का लक्ष्य

किसी नए धर्म का प्रवर्त्तन करना अथवा किसी पुरातन धर्म में मनुष्यों को दीक्षित करना नहीं था, वरन् उस समय भारतीय समाज में फैले प्रमाद, अज्ञान, अंधविश्वास आदि को समूल नष्ट कर उन्हें फिर से सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना था।

आर्य-समाज के संस्थापक, स्वामी दयानंद गुजरात के थे, लेकिन उनके अधिकांश अनुयायी पंजाब, हरियाणा और पश्चिम उत्तरप्रदेश में हुए। उन्होंने अपने जीवन (सन् १८२४—१८८३ ई०) के इक्कीस वर्ष अपने घर पर बिताए, उसके बाद पंद्रह वर्ष गुरु की खोज में बिताए, फिर तीन वर्ष गुरु के चरणों में रहे, और आगे तीन वर्ष अपने भावी कार्यक्रम को अंतिम रूप देने का प्रयास किया और बाकी सत्रह वर्ष लोगों तक अपने संदेश पहुँचाने में बिताए। दयानंद जन्म से ब्राह्मण थे, लेकिन उनके उपदेशों का अत्यधिक प्रभाव उन लोगों पर भी पड़ा, जो ब्राह्मण नहीं थे। उनकी मृत्यु, आर्य-समाज की स्थापना के आठ वर्ष बाद ही हो गई, इसलिए उन्हें इसे और अधिक विकसित करने का पर्याप्त समय नहीं मिला। लेकिन, जिस समय आर्य-समाज की स्थापना हुई, उस समय इसके उपदेशों की नवीनता का इतना प्रभाव पड़ा कि कुछ ही वर्षों में सारे उत्तर भारत में यह फैल गया।

जब दयानंद ने इक्कीस वर्ष की आयु में अपना घर छोड़ा, उस समय वे केवल जीवन से भाग रहे थे। उनके परिवार में एक के बाद एक-दो लोगों की मृत्यु हुई, जिससे वे काफी निरुत्साहित हो गए। उन्होंने तो उस समय जंगल की निर्जनता तथा एकांतता में शरण ली होती, लेकिन उनमें आत्मबल था, जिसके कारण वे ऐसा नहीं कर सके। श्रीअरविंद ने स्वामी दयानंद के बारे में ठीक ही कहा था कि "वे ईश्वर-जगत् में एक योद्धा थे, एक ज्योति-पुंज थे, मनुष्यों तथा संस्थाओं के निर्माता थे और व्यावहारिक (रहस्यात्म के विरुद्ध) अध्यात्मवाद प्रणेता थे।"

राममोहन राय के समान दयानंद को भी अल्पायु में ही मूर्त्तिपूजा से घृणा हो गई थी। राममोहन राय ऐसे स्थान के रहनेवाले थे, जहाँ अंग्रेजी-शिक्षा ने मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध विचार फैलाए थे, लेकिन दयानंद का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ मूर्त्तिपूजा के विरोधी नाममात्र के थे। उन्होंने शिव की मूर्त्ति पर चूहे को चढ़ते देखकर ही निश्चय कर लिया था कि जिस शिव ने जगत् की रचना की है, वह इस रूप में नहीं हो सकता। दयानंद काफी दिनों तक गुरु-

अंश मानते हैं। मध्ययुग में भक्ति का प्रचार करनेवाले सभी संप्रदायों और उनके अनुयायियों ने 'श्रीमद्भागवतपुराण' का सबसे अधिक अनुसरण किया है। एक प्रकार से यह पुराण मध्ययुगीन भागवत धर्म का अक्षय स्रोत है।

वैष्णव धर्म में मानव-जीवन की तुलना क्षीरसागर से की गई है। इस जीवन-रूपी सागर में सुख-दुःख रूपी लहरें हैं, जिन्हें पार करना मुश्किल है। लेकिन विष्णु-पूजा से हमें प्रेरणा और आशा मिलती है। इस भवसागर को पार करने में दो सात्त्विक शस्त्र सहायक हैं—आस्था और निष्ठा। कहा गया है कि विष्णु के चार हाथ हैं और इन चार हाथों में चार चीजें हैं : शंख, चक्र, गदा और पद्म। मानव-जीवन की सफलता के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पूर्वापेक्षाएँ हैं। पहले तीन का प्रयोग चौथे के लिए किया जाता है। शंख, चक्र, गदा और पद्म जीवन की कठिनाइयों से लड़ने के शस्त्र हैं। शंख धर्म का प्रतीक है। इसके बिना मोक्ष संभव नहीं है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः', धर्म की रक्षा करना सबका धर्म है। जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है। चक्र से मनुष्य को इस बात की प्ररणा मिलती है कि वह हमेशा कर्मशील रहे। जो कर्मशील है, वही स्वस्थ और सुखी जीवन व्यतीत करता है। चक्र अधर्म से धर्म की, शत्रुओं से भक्तों की रक्षा करता है। 'गदा' कर्म का प्रतीक है। कर्म से ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। गदा मनुष्य को अहंकार से दूर रखता है। पद्म मोक्ष का प्रतीक है। जिस प्रकार कमल जल में रहकर भी जल से अलग रहता है, उसी प्रकार मानव भौतिक जीवन में रहकर भी उससे कलुषित नहीं होता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वैष्णव धर्म भक्ति-प्रधान योग-साधना है, जिसमें प्राणिमात्र के प्रति दया, नम्रता, शांतभाव, सांसारिक इच्छाओं से अनासक्ति और हृदय की पवित्रता पर बल दिया गया है। सच तो यह है कि भक्ति ही यथार्थ में मुक्ति है।

आर्य-समाज

आर्य-समाज का जन्म ७ अप्रैल, सन् १८७५ ई०, को बंबई में हुआ था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने इसकी स्थापना की थी। उन्होंने अपने गुरु स्वामी विरजानंद के आदेशों से अज्ञान के अंधकार में पड़े आर्यावर्त के निवासियों को ज्ञान से आलोकित करने का संकल्प किया था। स्वामी दयानंद का लक्ष्य

किसी नए धर्म का प्रवर्त्तन करना अथवा किसी पुरातन धर्म में मनुष्यों को दीक्षित करना नहीं था, वरन् उस समय भारतीय समाज में फैले प्रमाद, अज्ञान, अंधविश्वास आदि को समूल नष्ट कर उन्हें फिर से सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना था।

आर्य-समाज के संस्थापक, स्वामी दयानंद गुजरात के थे, लेकिन उनके अधिकांश अनुयायी पंजाब, हरियाणा और पश्चिम उत्तरप्रदेश में हुए। उन्होंने अपने जीवन (सन् १८२४—१८८३ ई०) के इक्कीस वर्ष अपने घर पर बिताए, उसके बाद पंद्रह वर्ष गुरु की खोज में बिताए, फिर तीन वर्ष गुरु के चरणों में रहे, और आगे तीन वर्ष अपने भावी कार्यक्रम को अंतिम रूप देने का प्रयास किया और बाकी सत्रह वर्ष लोगों तक अपने संदेश पहुँचाने में बिताए। दयानंद जन्म से ब्राह्मण थे, लेकिन उनके उपदेशों का अत्यधिक प्रभाव उन लोगों पर भी पड़ा, जो ब्राह्मण नहीं थे। उनकी मृत्यु, आर्य-समाज की स्थापना के आठ वर्ष बाद ही हो गई, इसलिए उन्हें इसे और अधिक विकसित करने का पर्याप्त समय नहीं मिला। लेकिन, जिस समय आर्य-समाज की स्थापना हुई, उस समय इसके उपदेशों की नवीनता का इतना प्रभाव पड़ा कि कुछ ही वर्षों में सारे उत्तर भारत में यह फैल गया।

जब दयानंद ने इक्कीस वर्ष की आयु में अपना घर छोड़ा, उस समय वे केवल जीवन से भाग रहे थे। उनके परिवार में एक के बाद एक-दो लोगों की मृत्यु हुई, जिससे वे काफी निरुत्साहित हो गए। उन्होंने तो उस समय जंगल की निर्जनता तथा एकांतता में शरण ली होती, लेकिन उनमें आत्मबल था, जिसके कारण वे ऐसा नहीं कर सके। श्रीअरविंद ने स्वामी दयानंद के बारे में ठीक ही कहा था कि "वे ईश्वर-जगत् में एक योद्धा थे, एक ज्योति-पुंज थे, मनुष्यों तथा संस्थाओं के निर्माता थे और व्यावहारिक (रहस्यात्म के विरुद्ध) अध्यात्मवाद प्रणेता थे।"

राममोहन राय के समान दयानंद को भी अल्पायु में ही मूर्त्तिपूजा से घृणा हो गई थी। राममोहन राय ऐसे स्थान के रहनेवाले थे, जहाँ अंग्रेजी-शिक्षा ने मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध विचार फैलाए थे, लेकिन दयानंद का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था, जहाँ मूर्त्तिपूजा के विरोधी नाममात्र के थे। उन्होंने शिव की मूर्त्ति पर चूहे को चढ़ते देखकर ही निश्चय कर लिया था कि जिस शिव ने जगत् की रचना की है, वह इस रूप में नहीं हो सकता। दयानंद काफी दिनों तक गुरु-

की खोज में गंगा के तट पर और हिमालय की कंदराओं में भटकते रहे। अंत में वे मथुरा में एक नेत्रहीन पंजाबी संन्यासी स्वामी विरजानंद के पास आए, जो संस्कृत व्याकरण और वैदिक साहित्य पढ़ाते थे। विरजानंद के विचार में केवल आर्ष ग्रंथ (मूल ग्रंथ) ही सत्य हैं, जिनका ज्ञान ऋषियों को हुआ, और पुराण जैसी सभी अन्य पुस्तकें मनुष्य द्वारा निर्मित हैं, इसलिए असत्य हैं। उनके इस विचार का दयानंद पर काफी प्रभाव पड़ा और यही कारण था कि दयानंद ने उन पुराणों को अस्वीकार किया, जो हिंदू-धर्म का मेरुदंड था।

दयानंद ने अंग्रेजी नहीं पढ़ी थी और वे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के साथ भी नहीं रहे थे। उन्होंने केवल वैदिक साहित्य का स्वाध्याय किया था और अपना अधिक समय योगाभ्यास में लगाया। वे अपने स्वाध्याय, गुरु के उपदेश तथा चिंतन-मनन से इस निष्कर्ष पर आए कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, अतः स्वतःप्रमाण है। उपनिषद् आदि वेद नहीं हैं, लेकिन वेदों के अनुकूल होने के कारण परतःप्रमाण हैं। मूर्त्तिपूजा पुराणों से विहित है और ये पुराण वेद-विरुद्ध हैं, अतः त्याज्य हैं। दयानंद के विचार में, हिंदू-धर्म में कई ऐसी बातें आ गई थीं, जो वेद-विरुद्ध हैं और उन्हें हटाना ही श्रेयस्कर है। दयानंद ने अवतारवाद को भी वेद-विरुद्ध माना।

राजा राममोहन राय की स्वाभाविक प्रवृत्ति हिंदूधर्म की ओर थी। वे वेदों को प्रामाणिक मानते थे, लेकिन अपने इस सिद्धांत को अपने जीवन में युक्तियों और प्रमाणों से इतना पुष्ट नहीं कर सके कि उनके भावी अनुयायी उसपर चल सकते। दूसरी ओर दयानंद ने मूर्त्तिपूजा के विहित या अविहित होने के प्रश्न से पूर्व वेदों की प्रामाणिकता का प्रश्न लिया था। वे वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। वेदों में ईश्वर का नाम ओम् (परम रक्षक), भूः (सबका प्राणाधार), भुवः (सर्वदुःखनाशक), स्वः (सर्वसुखदाता) एवं माता, पिता, बंधु, इंद्र आदि कई प्रकार से आया है। जिस प्रकार ईश्वर आँख बनाने से पूर्व ही उसकी सहायता के लिए सूर्य को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार बुद्धि देने से पूर्व ही उसकी सहायता के लिए वेद का प्रकाश करता है। उनके अनुसार वेद सृष्टि के आरंभ में हुए। उपनिषद् और ब्राह्मण-ग्रंथ बाद में आए, इसलिए इन्हें वेद मानना उचित नहीं।

दयानंद के अनुसार, संसार के भिन्न-भिन्न धर्म और भिन्न-भिन्न भाषाएँ,

चाहे एशियाई हों या यूरोपीय, मूल वैदिक धर्म के ही विकृत रूप हैं। वे कहते थे कि बौद्ध और पारसी धर्मों में वेदों की बातें पाई जाती हैं। ईसाई धर्म नकल है। मुसलमानी धर्म ईसाई और पारसी धर्म का मिश्रण है। दयानंद ने वैदिक धर्म अथवा हिंदू-धर्म के शुद्ध रूप को संसार के सभी धर्मों से उत्कृष्ट माना।

दयानंद ने कोई नया धर्म नहीं चलाया। वैदिक धर्म में पीछे से जो दोष आ गए थे, उन्हें छोड़ने और शुद्ध सनातन वैदिक धर्म ग्रहण करने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी, बौद्ध, जैन, हिंदू जो कोई वैदिक सिद्धांत को मानना चाहे, वह उनके धर्म में शामिल हो सकता है।

दयानंद ने हिंदी को अपने लेख तथा व्याख्यानों का साधन बनाया और प्रत्येक आर्य-सामाजिक के लिए आर्य-भाषा सीखना आवश्यक बताया। उन्हें 'हिंदू', 'हिंदी' और 'हिंदुस्तान' शब्दों से प्रेम नहीं था। उन्होंने इनको विदेशी समझकर अन्य विदेशी वस्तुओं के समान इनकी उपेक्षा की। वे 'हिंदू' के स्थान पर 'आर्य', 'हिंदी' के स्थान पर 'आर्यभाषा' और 'हिंदुस्तान' के स्थान पर 'आर्यावर्त्त' शब्द का प्रयोग किया। परंतु उनका तात्पर्य 'आर्य', 'आर्यभाषा' और 'आर्यावर्त्त' से वही था, जो आजकल प्रायः लोग 'हिंदू', 'हिंदी' और 'हिंदुस्तान' शब्दों से लिया करते हैं।

स्वामी दयानंद ने आर्य-समाज स्थापित करने से पूर्व सभी भारतीय नेताओं से परामर्श किया था। वे ब्रह्मसमाज या प्रार्थना-समाज को आर्य-समाज का रूप देना चाहते थे। राजा राममोहन रायजी की भी इच्छा थी, किन्तु केशव बाबू की इच्छा नहीं थी। प्रार्थना-समाज और ब्रह्म-समाज के लोगों से स्वामी दयानंद का मतभेद वेदों की प्रामाणिकता पर था। स्वामी दयानंद उन लोगों की तरह मर्यादा-रहित स्वतंत्रता नहीं चाहते थे। उन्होंने आर्य समाज के नीचे लिखे दस नियम बनाये :

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ-विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानंद-स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना योग्य है।

३. वेद सब सत्यविद्याओं की पुस्तक है; वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिए।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीति-पूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य बरतना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिए, किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक, सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र हैं।

स्वामी दयानंद ने अपने वृहद् ग्रंथ 'सत्यार्थप्रकाश' में ब्रह्मसमाज का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसके अनुयायी स्वदेश-प्रेम नहीं रखते और ऋषि-मुनियों के स्थान पर ईसा आदि की प्रशंसा करते हैं तथा अंग्रेजी पर ज्यादा बल देते हैं। वे विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। स्वामी दयानंद इन बातों के विरोधी थे। वे स्वदेशी ढंग से सुधार चाहते थे। उन्होंने मनु का एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है कि एक समय आर्यावर्त्त सब देशों का गुरु था। इससे लोग आचार-व्यवहार की शिक्षा लेते थे। आज यह ऐसा गिरा है कि अपने महान् आदर्शों को छोड़कर दूसरों के निकृष्ट आदर्शों के पीछे भागता है। इस प्रकार, स्वामी दयानंद ने वेद, हिंदी और स्वदेश-प्रेम की शिक्षा देकर आर्य-समाज को एक नया आयाम प्रदान किया।

स्वामी दयानंद ने वेदों की पुनः व्याख्या करके हिंदुओं के समक्ष एक युक्तिमूलक धर्म प्रस्तुत किया और उनके दिल में आत्मगौरव की एक नई भावना भरी। उन्होंने देखा कि भारतीयों में मिशन-स्कूल बहुत लोकप्रिय थे। इसके दो कारण थे। अंग्रेजी की शिक्षा जरूरी समझी गई; क्योंकि इसके बिना अच्छी सरकारी नौकरी पाना लगभग असंभव था। विज्ञान का अध्ययन करना भी जरूरी था; क्योंकि देश की प्रगति इसपर ही निर्भर करती थी।

लेकिन, भारतीय विद्यार्थियों के माँ-बाप इस प्रकार की शिक्षा से चिंतित भी थे; क्योंकि उन्होंने देखा कि ऐसी शिक्षा से अपने धर्म में उनकी आस्था नहीं रह पाएगी। इसीलिए, इस बात की जरूरत महसूस की गई कि ऐसी संस्थाएँ खोली जाएँ, जहाँ पाश्चात्य शिक्षा दी जाए, लेकिन अपने धर्म में उनकी आस्था बनी रहे। इसी, उद्देश्य से सन् १८८६ ई० में आर्य-समाज ने लाहौर में दयानंद आँग्ल-वैदिक कॉलेज की स्थापना की। इस प्रकार, सुधार की भावना, धर्म के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही। सामाजिक सुधार के क्षेत्र तक भी इसका विस्तार हुआ। बाल-विवाह, अनिवार्य वैधव्य, द्विविवाह, स्त्री-निरक्षरता, छूआछूत आदि की ओर आर्य-समाज का ध्यान गया तथा इसने सुधार लाने के बहुत प्रयत्न किए और इसे बहुत कुछ सफलता भी मिली। आर्य-समाज ने जाति-प्रथा को एक नया रूप दिया। इसने वर्ण व्यवस्था की व्याख्या जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि कार्यों के आधार पर की।

आर्य-समाज कोई अलग संप्रदाय नहीं है। आर्य का अर्थ श्रेष्ठ है। आर्य-समाज श्रेष्ठ, सदाचारी, आस्तिक, ईश्वर-विश्वासी और वैदिक-धर्मी जनों का संगठन है। उपर्युक्त गुण धारण करनेवाले सभी व्यक्ति श्रेष्ठ हैं और आर्य हैं, चाहे वे किसी संप्रदाय के हों। आर्य-समाज संप्रदायवाद को स्वीकार नहीं करता। वह ऐसा मानता है कि सांध्य प्रार्थना, अग्निहोत्र, यज्ञ, स्वाध्याय, पूजा-पाठ, नित्य-कर्म करते हुए यदि किसी व्यक्ति में सदाचार, दान, पुण्य, पवित्र, कमाई, शुद्ध आहार, सत्य व्यवहार नहीं, तो वे नित्य-कर्म सभी निरर्थक हैं। इसलिए, सभी लोग मन, वचन, कर्म से आर्य, अर्थात् श्रेष्ठ बनें। यही आर्य-समाज की मान्यता है और यही आर्य समाज का संदेश भी है।

ब्रह्मसमाज

राजा राममोहन राय ने सन् १८२८ ई० में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उन्होंने हिंदू-धर्म में सुधार किया। जो बात ईसाई-धर्म के संबंध में जॉन विकलिफ के लिए कही जाती है, वही हिंदू-धर्म के विषय में राममोहन राय के लिए कही जा सकती है। जिन्हें वे उपनिषदों के मूल उपदेश समझते थे, उन्हें दोबारा प्रचार करना चाहते थे। प्राचीन वैदिक धर्म का असली रूप नहीं रह गया था। कालांतर में कई ऐसी बातें उसमें घुस आईं, जिनके कारण

उसका केवल बाह्य रूप रह गया, जिसे हिंदू-धर्म कहा जाता था। लोगों ने मूल ब्रह्म की उपासना छोड़ दी और उसके स्थान पर राम, कृष्ण आदि महापुरुषों की उपासना करने लगे। शुद्ध वैदिक यज्ञ के स्थान पर पशुओं की बलि दी जाने लगी। प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था के स्थान पर जाति-पाँति का भेद-भाव शुरू हो गया। बाल-विवाह होता था। बहुत-सी लड़कियाँ, जो अपनी छोटी अवस्था में विधवा हो जाती थीं, काफी कष्ट पाती थीं। पुरोहित-वर्ग पति की मृत्यु पर, पत्नी को स्वर्ग के प्रलोभन तथा सामाजिक दण्ड का भय दिखाकर जबरदस्ती पति की लाश के साथ उसे जीवित जला देता था। इसे सती-धर्म कहा जाता था।

जब मुसलमानों और ईसाइयों का देश पर आधिपत्य हुआ, तब उन्होंने हिंदू-धर्म के इस रूप को देखा। उन्होंने हिंदुओं को हिंदू-धर्म के बाह्य आडंबरों से मुक्त होने का परामर्श दिया। उन्होंने बहुत से हिंदुओं का धर्म-परिवर्त्तन भी किया। बंगाल पर अंग्रेजी-संस्कृति का सबसे पहले प्रभाव पड़ा। बंगालियों ने ही सबसे पहले अंग्रेजी सीखी। बंगाल में ही ईसाई-धर्म सबसे पहले फैला।

राममोहन राय ने हिंदू-धर्म की गिरती हुई अवस्था देखी और फिर ईसाई धर्म का सिक्का जमते देखा। उन्होंने यह समझ लिया कि अगर हिंदू-धर्म का यही रूप रहा, तो देश की बड़ी हानि होगी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अगर हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कृति को जीवित रखना है, तो उनका सुधार करना बहुत ही आवश्यक है। वे अंग्रेजी-संस्कृति की अच्छी बातों को ग्रहण करना चाहते थे, लेकिन साथ ही वे हिंदू-धर्म में इस प्रकार सुधार करना चाहते थे कि उसका मौलिक रूप विकृत न होने पाए। उन्होंने पाश्चात्य आधार पर वैज्ञानिक शिक्षा का जोरदार समर्थन किया। उन्होंने लोगों को उपदेश दिया कि मूर्त्तिपूजा-संबंधी धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करने से निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलेगी।

उन्होंने अपने ब्रह्मसमाज के ट्रस्ट-डीड में लिखा :

'१ वेद और उपनिषदों को मानना चाहिए।

२. इनमें एक ईश्वर का प्रतिपादन है।

३. मूर्त्तिपूजा वेद-विरुद्ध है। इसलिए त्याज्य है।

४. बहु-विवाह, बाल-विवाह तथा वर्त्तमान सती-प्रथा वेद-विरुद्ध और त्याज्य हैं।

५. ईसाइयों में बहुत से अच्छे लोग हैं, परंतु ईसाई धर्म हिंदू-धर्म से किसी प्रकार अच्छा नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि शासकों के धार्मिक विचार भी अच्छे ही हों और उनकी यह बड़ी भूल है कि वे पराजित और शासित जातियों पर अपना दोषपूर्ण धर्म आरोपित करें।

इस प्रकार, राममोहन राय सर्वप्रथम आधुनिक भारतीय थे। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का वंगीय विचारधारा पर ही प्रभाव नहीं पड़ा, वरन् प्रेस, रेल आदि वैज्ञानिक आविष्कारों से परंपरागत रूढिग्रस्त सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था में भी परिवर्त्तन के लक्षण दिखलाई पड़ने लगे। ये परिवर्त्तनशील शक्तियाँ ब्रह्मसमाज में आकर केंद्रीभूत हुईं और राममोहन राय ने उसका नेतृत्व ग्रहण किया। उन्होंने ब्रह्मसमाज के माध्यम से हिंदूधर्म को बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान करना चाहा। उन्होंने शिथिल भारतवासियों को विशुद्ध हिंदू-धर्म का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया।

राममोहन राय एक प्रतिभाशाली पुरुष थे। उनकी बुद्धि में मौलिकता थी। उन्होंने १६ वर्ष की अल्पायु में मूर्त्ति-पूजा के विरोध में एक पुस्तक लिखी। वे हिंदू धर्म के विरोधी नहीं थे, वे इसके बिगड़े हुए रूप के विरोधी थे। उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों की मूर्त्तिपूजा उनके पूर्वजों की प्रथा के प्रतिकूल है और उन प्राचीन ग्रंथों और शास्त्रों के भी विरुद्ध है, जिनपर श्रद्धा रखने का वे दावा करते हैं।

उन्होंने अरबी और फारसी-ग्रंथों का अध्ययन किया था। संभवतः, उनपर मुसलमानी धर्म का प्रभाव रहा हो और इसलिए वे मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध हो गए हों; क्योंकि मुसलमानी ग्रंथों में बुतपरस्ती को बहुत ही बुरा बताया गया है। लेकिन, सच तो यह है कि बचपन से ही उनके भीतर यह भावना बैठ गई थी कि मूर्त्तिपूजा वेद-विरुद्ध है और देश तथा जाति के लिए घातक है। उनके अनुसार, परब्रह्म एक और अज्ञेय है और केवल उसीकी उपासना से निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। जगत् का नियंता केवल एक है, जो सर्वव्यापक और हमारी समझने की शक्तियों से परे है, जो बाह्य इंद्रियों से अगोचर है और जिसकी पूजा मनुष्य-जाति का परम कर्त्तव्य है। जो कुछ रूप और नाम है, वह कल्पना है। राममोहन राय ने बताया कि

मूर्त्तिपूजा के पोषक जो इसमें गूढ प्रयोजन बताया करते हैं, वह असत्य है। कोई कहता था कि मूर्त्तिपूजा मन को एकाग्र करने का साधन है, कोई कहता था कि यह साकार में निराकार का ध्यान करने का साधन है, और कोई कहता था कि मूर्त्ति में ईश्वर के सर्वव्यापक रूप का दर्शन संभव है। लेकिन, राममोहन राय ने बताया कि ये सब बातें दूसरों को धोखा देने के लिए हैं, मूर्त्तिपूजा का वास्तविक रूप वही है, जो मूर्त्तिपूजकों की चेष्टाओं से विदित होता है। मूर्त्तिपूजा का वैज्ञानिक या दार्शनिक स्वरूप जो प्रायः व्याख्यानों या शास्त्रार्थों से निरूपित होता है, मूर्त्तिपूजकों की चेष्टाओं से सर्वथा खंडित हो जाता है। वे इस बात से परिचित थे कि हिंदू कभी-कभी ऐसी मूर्त्तियों की पूजा करते थे, जिनकी आकृति बड़ी घृणित होती थी। अतः, उन्होंने कहा कि मूर्त्तिपूजा और पुराण-कथित गाथाओं से, जिनके आधार पर मूर्त्तिपूजा प्रचलित है, सदाचार-शिक्षा की आशा करना, रेत की नींव पर दीवार बनाना है।

राममोहन राय ने सती-प्रथा की निंदा करते हुए कहा कि जब कोई स्त्री विधवा हो जाती है, तब ब्राह्मण लोग उसे दुःख के समय सती होने की बात मनवा लेते हैं और जब उसके मुँह से यह बात निकल जाती है, तब उसे अपने पति की चिता से बाँध देते हैं। यह शास्त्रों के सर्वथा विरुद्ध है। उन्होंने बहुत कोशिशों के बाद सरकार द्वारा सती-प्रथा बंद कराई।

लेकिन, इन बातों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि राममोहन राय ईसाई-धर्म से प्रभावित थे। उन्हें हिंदू-धर्म, हिंदू-शास्त्र तथा हिंदू-जाति से प्रेम था। यद्यपि उन्होंने मूर्त्तिपूजा का विरोध किया, सती-प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई, लेकिन यह सब उन्होंने इसलिए किया कि वे हिंदू-धर्म को बिगड़ी दशा में देखना पसंद नहीं करते थे। उन्हें हिंदुओं की वर्त्तमान प्रथाएँ उनके शास्त्रों के विरुद्ध प्रतीत हुईं। उन्होंने ब्रह्मसमाज के माध्यम से हिंदुओं का ध्यान उनकी बुरी प्रथाओं की ओर आकृष्ट किया। वे इस बात को समझते थे कि ईसाई लोग हिंदू-धर्म की कुप्रथाओं का विरोध इसलिए नहीं करते थे कि उन्हें हिंदू-धर्म से प्रेम था। उन्होंने 'ब्राह्मणिकल मैगजिन' में न केवल हिंदू-शास्त्रों पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया, बल्कि ईसाई-सिद्धांतों का भी खंडन किया। उन्होंने कहा कि ईसाई लोग कुछ दिनों से हिंदू और मुसलमानों को ईसाई बनाने की धुन में लगे हैं। इसके लिए वे तीन

अपनाते हैं। पहला यह कि वे दोनों धर्मों के विरुद्ध पुस्तकें लिखते हैं और हिंदू-देवी-देवताओं तथा संतों का उपहास करते हैं। दूसरे यह कि हिंदुस्तानियों के घरों के सामने या सड़कों पर खड़े होकर अपने धर्म की श्रेष्ठता और दूसरे धर्मों की निकृष्टता पर व्याख्यान देते हैं। तीसरे यदि कोई नीच जाति का हिंदू धन के लालच से या अन्य कारण से ईसाई हो जाता है, तो उसको नौकर रखकर उसका पालन-पोषण करते हैं, जिससे दूसरे लोगों का भी साहस बढ़े। उन्होंने आगे कहा कि एक ओर तो ईसाई लोग हिंदू-अवतारों का खंडन करते हैं और दूसरी ओर स्वयं ईसा को मनुष्य के रूप में ईश्वर मानते हैं। यह तर्कसंगत नहीं है। उन्होंने मीमांसा, योग और सांख्य के आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहा कि सभी शास्त्र छोटी-छोटी बातों में मतभेद रखते हुए भी ईश्वर को निराकार, अकाम, अनादि और अनंत मानते हैं।

राममोहन राय ने पुनर्जन्म की चर्चा करते हुए कहा कि किसी भी हिंदू-शास्त्र में नहीं लिखा है कि मृत्यु के पश्चात् कुछ नहीं होता। यह केवल नास्तिकों का मत है। शास्त्र तो कहता है कि इसी संसार में पुण्य और पाप का फल मिलता है या ईश्वर पाप-पुण्य के कारण मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग और नरक देता है या पाप पुण्य के कारण भिन्न-भिन्न योनियाँ मिलती हैं।

राममोहन राय सन् १८३० ई० में इंगलैंड गये और वहीं सन् १८३३ ई० में उनका निधन हुआ। ब्रह्मसमाज उनके पीछे भी चलता रहा, परंतु इसकी चाल भिन्न-भिन्न थी। बंगाल की जनता ने इसका विरोध ही किया; क्योंकि पुरानी लकीर के फकीर ब्राह्मण मूर्त्तिपूजा को छोड़ना नहीं चाहते थे। कुलीनों को बहु विवाह द्वारा धन कमाने और मौज उड़ाने की आदत पड़ गई थी। अतः, उनके लिए ब्रह्मसमाज में प्रवेश करना कठिन था। परंतु, कुछ पढ़े-लिखे लोग इससे अवश्य प्रभावित हुए। कुछ दिनों के बाद महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर इसके प्रधान आचार्य हुए।

परंतु ब्रह्मसमाज संकट की अवस्था में था। उसका मार्ग एक तंग वाटिका थी, जिसके एक ओर बहुत ऊँचा पहाड़ और दूसरी ओर बहुत गहरी खाई थी। पंडित-वर्ग तुले हुए थे कि राममोहन राय के कार्यों पर पानी फेर दिया जाए। परंतु, यह तो मानना ही पड़ेगा कि बंगाल की शिक्षित जनता के विचारों में घोर परिवर्त्तन हो रहा था।

ऐसे समय कलकत्ता में बाबू केशवचंद्र सेन का प्रादुर्भाव हुआ। वे बड़े

भेद-निर्मूलन और शिक्षा-प्रसार में श्रीशिंदे का कार्य बहुत प्रसिद्ध है। इसी प्रकार के सुधार पंथ के कारण बाद में महाराष्ट्र में जो 'धर्म-निर्णय-मंडल' बना, उसके सदस्य प्रभावित हुए। बुद्धिवाद की कसौटी पर प्राचीन मान्यताओं और आस्थाओं को तर्कशः देखने की वैज्ञानिक दृष्टि बढ़ी। परंतु, मनुष्य और ईश्वर के अत्यंत कोमल संबंध उसके द्वारा खंडित नहीं हुए। यह एक प्रकार से प्राचीन आस्था और नवविज्ञानवाद के सम्मिलन का यत्न था।

राधास्वामी

अनंत काल से विभिन्न धर्म मुक्ति की खोज करते आए हैं। सबका लक्ष्य मनुष्य को शाश्वत आनंद दिलाना है। यह तभी संभव है, जब उसे आसक्ति से, जन्म-मरण से छुटकारा मिले। जो साधु होते हैं, उनका परम सत्ता से एकाकार होता है। उनकी वाणी में आध्यात्मिक सत्यता होती है। उनके वचन विश्वसनीय होते हैं; क्योंकि वे जो कुछ भी कहते हैं, अपने आंतरिक नेत्र से देखकर कहते हैं।

भारतवर्ष में राधास्वामी नामक एक मत चला। श्रीशिवदयाल इस मत के संस्थापक थे। उनका जन्म सन् १८१८ ई० में हुआ था। वे आगरा के एक बैंकर थे। उन्होंने 'सार-वचन' नामक एक पुस्तक लिखी, जिसमें राधास्वामी-मत की विस्तार से व्याख्या की गई है। उनके अनुसार ईश्वर, राधा और स्वामी के बीच संयुक्ति है। राधा आत्मा का प्रतीक है और स्वामी अधिपति का। शिवदयाल पर सिक्ख-गुरुओं का भी प्रभाव पड़ा था। उनके अनुयायी हिंदू और सिख दोनों थे। उनकी मृत्यु सन् १८७८ ई० में हुई।

शिवदयाल की मृत्यु के बाद यह संप्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया। दोनों के मुख्यालय आगरा ही रहे, लेकिन जयमलसिंह ने 'वियास' (व्यास) नदी के किनारे एक बहुत बड़े केंद्र की स्थापना की, जिसे आज डेराबाबा जयमलसिंह के नाम से जाना जाता है।

राधास्वामी-मत के अनुसार, मनुष्य ईश्वर की श्रेष्ठतम सृष्टि है। लेकिन, उसे दुःख है; क्योंकि वह उस पूर्णता को प्राप्त करने में असमर्थ है, जिसके वह योग्य है। यह पूर्णता वह तभी प्राप्त कर सकता है, जब कोई गुरु हो, जो उसका मार्ग-दर्शन करे और उसे दीक्षा दे।

युगों से संतों ने एक ही सत्य का उपदेश दिया है, चाहे उसका रूप भिन्न क्यों न हो। भक्ति उनके उपदेशों का केंद्र रही है। सद्गुरु उन सत्संगियों

को एकत्र करते हैं, जिन्हें एक परम संत गुरु का अनुसरण करना होता है। उन्हें भक्ति का मार्ग अपनाने के लिए कहा जाता है। गुरु जो आचरण करने के लिए कहता है, उन्हें करना होता है। उन्हें शारीरिक तथा मानसिक अनुशासन का उपदेश दिया जाता है। समाधि का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के अनुशासन जरूरी हैं। जब सत्संगी अपने को अनुशासित कर लेता है और अपने गुरु के आध्यात्मिक उपदेशों के अनुसार आचरण करता है, तब उसकी आत्मा, जिसका आनंदमय स्वरूप है, माया के अंधकार से निकलकर प्रकाश में आती है और उसे शाश्वत आनंद की प्राप्ति होती है।

मानव-शरीर दो अलग कक्षों में विभक्त है : नेत्र के ऊपर उच्चतर कक्ष, जिसमें आत्मा का निवास है और नेत्र के नीचे, निम्नतर कक्ष, जिसपर मन का नियंत्रण है। नेत्रों के बीच में, अर्थात् शिवनेत्र के स्थान पर, गुरु की प्रतिमा का प्रतिरूप बनाने और 'नाम' (स्वामी का नाम) दोहराने से ईश्वर की प्राप्ति होती है। इस साधना को 'सुरत शब्द-योग' कहा जाता है। सत्संगियों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी आध्यात्मिक साधना को बाह्य रूप न देकर, आभ्यंतर रूप दें।

राधास्वामी-मत के अनुयायियों के लिए आवश्यक है कि वे पूर्ण रूप से शाकाहारी हों। उनके लिए मद्यपान वर्जित है। उनमें चरित्र-बल होना चाहिए। उनके नैतिक आचरण की शुद्धता से उनके शरीर को ईश्वर का मंदिर बनने में सहायता मिलती है।

शिवदयाल के उत्तराधिकारी आगरा में राय शालिग्राम साहेब बहादुर हुए। उनका जन्म सन् १८२८ ई० में हुआ। राय शालिग्राम ने धार्मिक पदों की रचना की, जिनमें दो संग्रह—'प्रेम-वाणी' और 'प्रेम-पत्र'—विख्यात हैं। उन्होंने अँग्रेजी में 'एन एक्सपोजिसंस ऑव द राधास्वामी डॉक्ट्रिन' नामक पुस्तक भी लिखी। उनकी मृत्यु सन् १८९८ ई० में हुई।

आगरा-राधास्वामियों के तीसरे गुरु एक बंगाली ब्राह्मण हुए। उनका नाम ब्रह्मशंकर मिश्र था। उनका जन्म सन् १८६१ ई० में हुआ। उनकी मृत्यु सन् १९०७ ई० में हुई। उनके बाद, आगरा-राधास्वामी विभिन्न गुटों में बँट गए। आज तो आगरा में दयालबाग नाम से एक जागीर है, जिसका धार्मिक महत्त्व होने की अपेक्षा आर्थिक या व्यावसायिक महत्त्व अधिक है।

गाँधीवाद

गाँधीवाद का जन्म महात्मा गाँधी से हुआ। वे युगपुरुष थे। उनके विचारों का प्रभाव हमारे धार्मिक जीवन पर पड़ा। उनका जीवन मानव-जाति के लिए एक दृष्टांत है। इस सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता कि विदेशों में भी गाँधीवाद किसी-न-किसी रूप में समृद्ध हुआ है। आज विश्व को जिस अमोघ अस्त्र की अत्यंत आवश्यकता है, उसका मूलमंत्र गाँधीवादी विचारधारा में सन्निहित है। गाँधीजी के व्यक्तित्व में एक चुम्बकीय शक्ति रही है, जिसके कारण जो भी संपर्क में आया, प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। यहाँ तक कि विरोधी विचारधारा रखनेवाले भी गाँधीजी के प्रशंसक हैं। सी० ई० एम० जोड ने गाँधीजी को अनासक्त योगी एवं नैतिक बलयुक्त प्रतिभा कहा है।

महात्मा गाँधी भारत के मुक्तिदाता और विश्व के महान् चिंतक थे। उन्होंने किसी विशेष धार्मिक मत की स्थापना नही की, कोई धर्म नहीं चलाया, लेकिन जो कुछ उपदेश दिए, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे, उनसे एक ऐसे धर्म की स्थापना होती है, जो संकुचित घेरे में रूढ़िग्रस्त न होकर महान् है। उनके धर्म में उनकी अपनी एक दृष्टि है। उन्होंने किसी धर्ममत का खंडन नहीं किया। उन्होंने सभी धर्मों का समान रूप से आदर किया और सभी धर्मों की अच्छी बातें स्वीकार कीं। यही कारण है कि भारत में ही नहीं, बल्कि सारे विश्व में उनके अनुयायी हैं।

गाँधीजी के अनुसार, 'धर्म वह है, जो आत्मा को शुद्ध करता है, जो फल की आकांक्षा नहीं रखता, जिसे अटूट विश्वास है और जिसमें स्वार्थ का होना असंभव है। जो कार्य इस धर्म के अनुकूल है, वह धार्मिक है।' गाँधीजी का यह धर्म भौगोलिक सीमाओं से परे था। सत्य और प्रेम, करुणा और सेवा, संयम और सदाचार उस धर्म की नींव थे। वे मानते थे कि धर्म वही है, जो मानव को सत्यरूपी परमेश्वर की ओर उन्मुख करता है और अहिंसा उसका पाथेय है। त्याग और तपस्या, अस्तेय और अपरिग्रह, प्रार्थना और नाम-स्मरण उसके साधन हैं। उनका धर्म सार्वभौम था। उनका विश्वास था कि विश्व के सभी धर्म सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं।

गाँधीजी के अनुसार, उनकी विचारधारा सत्य और अहिंसा की साधना है।

व्यक्तिगत रूप से सत्य और अहिंसा की साधना से मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है और पूर्णता को पहुँच सकता है। गाँधी-दर्शन मनुष्य के कल्याण के लिए सांसारिक उन्नति को गौण और आध्यात्मिक उन्नति को मुख्य समझता है। गाँधीवाद आध्यात्मिक ज्ञान और प्रेरणा को सत्य, अहिंसा और न्याय का आधार मानता है। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य सांसारिकता से मुक्ति पाकर आध्यात्मिक सुख को प्राप्त करना है।

भारत की आध्यात्मिकता एवं धर्मपरायणता विश्वविख्यात है। अवतारवाद पर विश्वास होना भारतीयों की अपनी विशेषता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर अपने समय के अवतार माने गए। आज भी श्रद्धा से इनकी पूजा होती है। आज भी इनके आदर्श भारतीय जनजीवन के आदर्श बने हुए हैं। महात्मा गाँधी का जन्म अवतारवाद की इसी परंपरा में माना जाए, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

संभवतः, महात्मा गाँधी का जन्म इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए हुआ।

गाँधी-विचारधारा का मूलमंत्र सत्य है। गाँधीजी का संपूर्ण जीवन सत्य के प्रयोग से पूर्ण है। सत्य उनके लिए कल्पना-मात्र नहीं, बल्कि जीवित आदर्श है। वे सत्य को ही ईश्वर मानते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य के अभाव में ईश्वर का कोई अस्तित्व नहीं है। इसे ही वे आत्मसाक्षात्कार अथवा मोक्ष मानते हैं। इस सर्वव्यापी सत्य के साक्षात्कार के लिए अहिंसा की साधना अनिवार्य है।

दर्शन के क्षेत्र में गाँधीजी परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द से अत्यधिक प्रभावित थे। इन दोनों महान् विभूतियों ने धार्मिक क्षेत्र में सत्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। यही कारण है कि गाँधीजी के जीवन में भी इस सत्य ने सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। उनके लिए सत्य स्वयं ब्रह्म है।

गाँधीजी 'ईश्वर सत्य है' की अपेक्षा 'सत्य ही ईश्वर है' कहना अधिक पसंद करते थे; क्योंकि उनका कहना था कि ईश्वर का खण्डन किया जा सकता है, लेकिन सत्य का खंडन नहीं किया जा सकता। वास्तव में गाँधी-

विचारधारा सत्य की साधना है। सत्य ही उसका लक्ष्य है तथा सत्य की पूजा एवं आराधना के लिए वह संसार के समस्त दुःखों का आलिंगन करने को तत्पर है।

महात्मा गाँधी के अनुसार, धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार है। उन्होंने धर्म को सरल रूप में सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य बनाने का सफल प्रयास किया है। यद्यपि स्वामी रामतीर्थ परमहंस ने धर्म में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया था, तथापि वह शुद्ध आध्यात्मिक होने के कारण सर्वसाधारण के लिए उपयोगी नहीं हो सका। स्वामी विवेकानंद ने भी भारतीय तत्त्वज्ञान को वैज्ञानिक रूप में विश्व के सामने रखने का प्रयत्न किया, किंतु उनका चिंतन इतनी उच्च कोटि का था कि वे चाहते हुए भी धर्म को सरल नहीं बना सके। यह कार्य गाँधीजी ने किया। गाँधीजी का संबंध साधारण जनता के साथ था। इसलिए, उन्होंने धर्म की जटिल गुत्थियों को सुलझाकर उसे सरल रूप प्रदान किया। उनकी दृष्टि में धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करना या बड़े-बड़े धर्मग्रंथों का अध्ययन करना आवश्यक नहीं है। वास्तव में, धर्म बुद्धिग्राह्य नहीं, परंतु हृदयग्राह्य है।

गाँधीजी हिंदू-धर्म के अनुयायी थे, किंतु उनके हृदय में मानव-धर्म के प्रति विशेष अनुराग था। उनका विश्वास था कि विभिन्न धर्म एक ही सत्य की प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं। वे धर्म को अंतर्मुख विकास का रूप मानते थे। उनके अनुसार धर्म वह सेतु है, जो मनुष्य को पूर्ण सत्य तक पहुँचाता है। धार्मिक अंधविश्वास पर उनकी आस्था नहीं थी। उन्होंने हिंदू-धर्म के संबंध में इस प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं: 'हिंदू-धर्म में विश्वास करने का यह अर्थ नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द और प्रत्येक श्लोक को दिव्य मानकर उसका अंध-अनुसरण करूँ। कोई सिद्धांत कितनी बारीकी के साथ क्यों न समझाया गया हो, पर यदि वह बुद्धि और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध है, तो मैं उसे कभी नहीं मानूँगा। मैं एकमात्र वेदों की दिव्यता पर विश्वास नहीं करता। मैं बाइबिल, कुरान, अवेस्ता की दिव्यता पर भी एक समान विश्वास करता हूँ।' उन्होंने 'हरिजन' के ६ अक्तूबर, १९२१ ई० के अंक में लिखा: 'मैं वेद, पुराण और उपनिषदों पर विश्वास करता हूँ और अवतारवाद में मेरा विश्वास है। वर्णाश्रमधर्म की आधुनिक रूपरेखा से मैं संतुष्ट नहीं हूँ .... मैं मूर्ति में अविश्वास नहीं करता।'

विचारधारा सत्य की साधना है। सत्य ही उसका लक्ष्य है तथा सत्य की पूजा एवं आराधना के लिए वह संसार के समस्त दुःखों का आलिंगन करने को तत्पर है।

महात्मा गाँधी के अनुसार, धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति सदाचार है। उन्होंने धर्म को सरल रूप में सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य बनाने का सफल प्रयास किया है। यद्यपि स्वामी रामतीर्थ परमहंस ने धर्म में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया था, तथापि वह शुद्ध आध्यात्मिक होने के कारण सर्वसाधारण के लिए उपयोगी नहीं हो सका। स्वामी विवेकानंद ने भी भारतीय तत्त्वज्ञान को वैज्ञानिक रूप में विश्व के सामने रखने का प्रयत्न किया, किंतु उनका चिंतन इतनी उच्च कोटि का था कि वे चाहते हुए भी धर्म को सरल नहीं बना सके। यह कार्य गाँधीजी ने किया। गाँधीजी का संबंध साधारण जनता के साथ था। इसलिए, उन्होंने धर्म की जटिल गुत्थियों को सुलझाकर उसे सरल रूप प्रदान किया। उनकी दृष्टि में धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करना या बड़े-बड़े धर्मग्रंथों का अध्ययन करना आवश्यक नहीं है। वास्तव में, धर्म बुद्धिग्राह्य नहीं, परंतु हृदयग्राह्य है।

गाँधीजी हिंदू-धर्म के अनुयायी थे, किंतु उनके हृदय में मानव-धर्म के प्रति विशेष अनुराग था। उनका विश्वास था कि विभिन्न धर्म एक ही सत्य की प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं। वे धर्म को अंतर्मुख विकास का रूप मानते थे। उनके अनुसार धर्म वह सेतु है, जो मनुष्य को पूर्ण सत्य तक पहुँचाता है। धार्मिक अंधविश्वास पर उनकी आस्था नहीं थी। उन्होंने हिंदू-धर्म के संबंध में इस प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं: 'हिंदू-धर्म में विश्वास करने का यह अर्थ नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द और प्रत्येक श्लोक को दिव्य मानकर उसका अंध-अनुसरण करूँ। कोई सिद्धांत कितनी बारीकी के साथ क्यों न समझाया गया हो, पर यदि वह बुद्धि और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध है, तो मैं उसे कभी नहीं मानूँगा। मैं एकमात्र वेदों की दिव्यता पर विश्वास नहीं करता। मैं बाइबिल, कुरान, अवेस्ता की दिव्यता पर भी एक समान विश्वास करता हूँ।' उन्होंने 'हरिजन' के ६ अक्तूबर, १९२१ ई० के अंक में लिखा: 'मैं वेद, पुराण और उपनिषदों पर विश्वास करता हूँ और अवतारवाद में मेरा विश्वास है। वर्णाश्रमधर्म की आधुनिक रूपरेखा से मैं संतुष्ट नहीं हूँ ...... मैं मूर्त्ति में अविश्वास नहीं करता।'

गाँधीजी एक महान् समन्वयकारी युगपुरुष थे। उन्हें सभी धर्मों से प्रेम था। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में 'सर्वधर्म-समानता' की प्रतिष्ठा की। उनका ईश्वर विश्व में व्याप्त है, जिसे प्रत्येक धर्म ने अलग-अलग नाम दिए हैं। मुसलमानों का 'खुदा', ईसाइयों का 'गॉड' और हिंदुओं का 'राम' सब एक ही स्वरूप के भिन्न-भिन्न नाम हैं। वे कहते हैं : ईश्वरीय प्रकाश किसी एक-ही राष्ट्र या जाति की संपत्ति नहीं है। ईश्वर न काबे में है, न काशी में। ईश्वर प्रकाश है, अंधकार नही। वह प्रेम है, घृणा नहीं। वह सत्य है, महान् है और हम सब उसकी चरणरज हैं।

गाँधीजी पर गीता का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। गीता का आदर्श उनका आदर्श था। वे मानते थे कि शुभ-हेतु, शुभ साधन से पूर्ण होना चाहिए। कोई भी कार्य प्राप्ति की आसक्ति से न करना ही धर्म का मूल है। गीता के अतिरिक्त, गाँधीजी महात्मा कबीर, संत तुलसीदास और स्वामी विवेकानंद की धर्म-भावना से भी अत्यधिक प्रभावित थे। रामचरितमानस का अध्ययन उन्होंने बाल्यकाल से ही किया था।

गाँधीजी का प्रार्थना में अटूट विश्वास था। उनके अनुसार प्रार्थना याचना नहीं है, वह आत्मा की आकांक्षा का दूसरा नाम है। उनका संपूर्ण जीवन प्रार्थनामय था। चित्त को एकाग्र करने के लिए वे 'रामनाम' और प्रार्थना आवश्यक समझते थे। वे कहते हैं : "मेरे पास एक रामनाम के सिवा और कोई ताकत नहीं है। वही एक आसरा है। असह्य वेदना से दुःखित आदमी को मैं कहता हूँ, 'रामनाम' लो।" उनकी भाषा में यह राम संपूर्ण सत्य का पर्यायवाची है। उनके अनुसार इस राम का नाम लेने और नित्य प्रार्थना करने से भूला-भटका मनुष्य शांति प्राप्त कर सकता है और ईश्वर के अधिक निकट पहुँच सकता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि गाँधीवाद में ईश्वर की कल्पना, सर्वसाधारण की क्षमता को ध्यान में रखकर की गई है। गाँधीजी ने एक ऐसा मार्ग दिखाया, जिसपर चलकर मनुष्य ईश्वर तक पहुँच सकता है। आज न केवल भारत में, वल्कि सारे विश्व में गाँधीजी के भक्त हैं और एक ऐसा दिन भी आ सकता है, जब बुद्ध और महावीर की तरह उनकी पूजा हो। गाँधीवाद का भविष्य, निश्चय ही उज्ज्वल है।

४. सिख-धर्म में ईश्वर

सिख-धर्मशास्त्र का अन्य धर्मशास्त्रों से कई बातों में अंतर है। सिख-धर्म विश्वास करता है कि कोई भी धर्म-ग्रंथ या कोई भी मसीहा या ईश्वर-प्रेषित शक्ति अंतिम नहीं है। वह यह मानता है कि सत्य एक है, पर उस तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। प्रकृति के रहस्य मनुष्य को उसकी वास्तवता की खोज में मिल सकते हैं, यदि उसका मन और अनुभव उतना विकसित हो। इसीलिए गुरु नानक, जो कि सिख-धर्म के संस्थापक थे, किसी पवित्र पुस्तक या श्रुति, वेद, कुरान और तोरा जैसे ईश्वर-प्रदत्त धर्मग्रंथ की अंतिम आधिकारिकता नहीं मानते। वे मानते हैं, मनुष्य अनंत और शाश्वत खोज में सदा लगा रहा है। और, अलग-अलग धर्मग्रंथ उसी खोज के कई मुकाम हैं। उनमें से कोई भी ऐसी मंजिल नहीं है, जहाँ रुका जाए। इसीलिए वह सार-तत्त्व को पकड़ना चाहते हैं और शेष भूसा या ऊपरी बातों को छोड़ देना चाहते हैं। भाई गुरुदास, भाई मानीसिंह और भाई नंदलाल ने अपनी टीकाओं और भाष्यों में विविध बातें कही हैं। भाई गुरुदास अपनी 'वार' में बुद्धिवादी और दार्शनिक ढंग से सुचिंतित तर्क देते हैं, तो अपने 'कवित्त-सवैया' में रहस्यवादी की तरह बात करते हैं। भाई मानीसिंह की दृष्टि ऐतिहासिक है और भाई नंदलाल आदर्शवादी-रहस्यवादी की शब्दावली प्रयुक्त करते हैं, जिसमें वह सूफी शब्दावली का प्रयोग करते हैं।

आदिग्रंथ या गुरुग्रंथ साहेब में गुरु नानक आदि सिख-गुरु पुरानी शब्दावली को नये अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। इसलिए, कई बार सबद, शून्य, शिव और शक्ति के अर्थ सिख-धर्मशास्त्रों में अलग हो जाते हैं। षड्दर्शनों से, या संस्कृत अर्थों से यह भिन्न है। कई लोग हिंदू अर्थ लगाकर सिख-धर्म में उपशाखाएँ निर्माण करने का यत्न करते हैं। पर, इन सब कठिनाइयों के बावजूद सिख-धर्म में ईश्वर का विचार स्पष्ट है। उसके गुण बहुत अच्छी तरह समझाये गये हैं। मनुष्य पूरी तरह ईश्वर को नहीं जान सकता। पर, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ईश्वर को बिल्कुल जानता ही नहीं। मनुष्य ईश्वर को अंशतः जान सकता है। और, ईश्वर के अस्तित्व और भूयमानता में सच्चे और वास्तव ज्ञान से मनुष्य भाग ले सकता है। ईश्वर सच्चे सत्य-शोधक

को ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति में सहायता करता है। यह ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होता है। सच्चे गुरु और सच्चे प्रेषितों को ही ईश्वर का प्रकाश पूरी तरह दिखाई देता है। अन्य साधारण जन की अपेक्षा उनमें अधिक गहरी अंतर्दृष्टि होती है।

प्रार्थना, ध्यान और तपस्या द्वारा पुण्यमय जीवन बिताने से मनुष्य ईश्वर-ज्ञान के निकट पहुँच सकता है। फिर भी, मनुष्य के ईश्वर-ज्ञान की एक सीमा है। क्योंकि, मानव-स्वभाव ही अपूर्ण है और ईश्वर अज्ञेय है। कोई भी आदमी या रसूल मानवी ईश्वर के सारे रहस्य नहीं जान सकता। यद्यपि ईश्वर की महानता की प्राकृतिक घटनाएँ या चमत्कार दुर्बल अभिव्यंजनाएँ हैं, और वे भी मनुष्य की समझ से परे हैं। तो, स्वयं ईश्वर कितना अधिक ज्ञान से परे होगा, यह कल्पना की जा सकती है।

सिख-धर्मग्रंथों में ईश्वर के गुणों को १. मूल गुण और २. कर्म-गुण, इन दो विभागों में बाँटा गया है।

१. ईश्वर के मूल गुण

(क) ईश्वर एक है। यहूदी और इस्लाम-धर्मों की तरह सिख-धर्म भी ईश्वर की एकता पर विश्वास करता है। एक स्वयंभू, स्वयं अवलंबित ईश्वर ने यह संसार और विश्व बनाया और सब पर उसी का शासन है। एक दिन आएगा, जब सारे धर्म एकत्र हो जाएँगे और एक ही ईश्वर को मानने लगेंगे। "ईश्वर एक ही है। पर, हिंदू और मुसलमान सोचते हैं कि उनका ईश्वर अन्य धर्मों के ईश्वर से भिन्न है। जिस ईश्वर की मैं पूजा करता हूँ, वह अल्लाह भी है, राम भी है। मैं निराकार के आगे हृदय से नमन करता हूँ। इस तरह, मैंने हिंदू और मुस्लिम का झगड़ा समाप्त कर दिया है।"

(गुरु नानक : आदिग्रंथ, ५, भैरों)

एक ईश्वर सबका पिता है।
हम सब उसके बच्चे हैं।
ओ गुरु, ओ मित्र, मैं तेरे आगे हृदय अर्पित करता हूँ।
मुझे एक झलक ईश्वर की मिलने दे।"

(गुरु नानक : आदिग्रंथ, ५, सोरठ)

"एक ईश्वर सब कारणों का कारण है।
ज्ञान, विद्या, विवेक सब उसीके हमें मिले हुए उपहार हैं ;
वह दूर नहीं है, वह पास नहीं है, वह हम सबके साथ है,

नानक कहता है : ईश्वर की प्रशंसा करो सदा प्रेम से।"

(गुरु नानक, आदिग्रंथ, ५, गौड़ी)

सिख-ग्रंथों में एक ईश्वर का सिद्धांत बड़ी स्पष्टता से व्यक्त हुआ है। सबको उपासना का स्वातंत्र्य देते हुए गुरुओं ने मूर्त्ति-पूजा का मजाक उड़ाया है : "आप पैरों के नीचे एक पत्थर का टुकड़ा रौंदते हो। और फिर, उसी पत्थर से बनाये देवता की पूजा करते हो ! अगर यह मूर्त्ति ईश्वर है, तो वह दूसरा पत्थर भी ईश्वर क्यों नहीं है ? जो लोग पत्थर की मूर्तियों को देवता समझते हैं, उनकी पूजा व्यर्थ है। जो लोग पत्थर की मूरत के चरणों पर गिरते हैं, उनकी प्रार्थनाएँ और सेवाएँ व्यर्थ हैं। मेरा ईश्वर मुझसे बोलता है, मेरी प्रार्थनाएँ सुनता है। वह अपने भक्तों पर कृपा बरसाता है। पत्थर की मूरतें न तो बोलती हैं, न कुछ देती हैं। मूर्त्तियों की पूजा और प्रशंसा अंत में कहीं नहीं ले जाती।"

सिख-गुरु अवतारवाद और बहुदेववाद के विरोधी थे—"वह जिह्वा जल जाए, जो कहती है कि ईश्वर मनुष्य-रूप धारण कर पृथ्वी पर आया।" गुरु गोविंदसिंह कहते हैं, "जो मुझे ईश्वर कहता है, वह नरक में जाएगा।"

"हिंदुओं का, मुसलमानों का ईश्वर एक है। वही एक है। मुल्ला और शेख यदि उन्हें भिन्न भी बता दें, तो भी क्या कर सकेंगे ?"

(ख) ईश्वर स्वयंभू है। आदिग्रंथ और जपजी के प्रथम छंद में ईश्वर का वर्णन आता है 'स्वैवम्'। ईश्वर अकेला ऐसा है जो अपना कारण स्वयं है। उससे बाहर जो कुछ है, उसके पास ऐसी कोई स्वायंभुव शक्ति नहीं है। उन सब वस्तुओं या चराचरों के अस्तित्व का कोई बाह्य या भौतिक कारण है। परंतु, ईश्वर का ऐसा कोई कारण नहीं। चूँकि वही स्वयं आदिकारण है। सब चीजों का अस्तित्व उसी पर निर्भर है। कोई भी ऐसी वस्तु, या प्राणी नहीं, जो इतना संपूर्ण हो कि वह ईश्वर के अतिरिक्त कहीं अस्तित्व रखता हो या रख सकता हो। गुरु गोविंदसिंह 'जपुजी' में लिखते हैं :

"तुम स्वामी हो
चारों दिशाओं में तुम्हीं व्याप्त हो
चारों दिशाओं के तुम्हीं भोक्ता हो
तुम अपने वैभव में स्वयंभू और अमर हो।

सबसे मिले हुए हो।
जन्म और मृत्यु इन दो पुलों के तुम ही मार्गदर्शक हो।
तुम कृपा और अनुग्रह से भरे हो।
सदा सबके हृदय के निकट हो।
तुम मानवता से गहराई से जुड़े हो।
तुम्हारा खजाना और तुम्हरा ऐश्वर्य अमर है।

इस प्रकार से स्वयंभू होने से ईश्वर अन्य देवी-देवताओं या मूर्त्तियों से भिन्न हो जाता है। ईश्वर का यह अस्तित्व कोई मानसिक अमूर्त्त कल्पना नहीं, पर अत्यन्त व्यक्तिगत बात है। वह सारे जीवन का स्रोत है, स्रष्टा के नाते शारीरिक जीवन का आरंभिक और आध्यात्मिक जीवन का अंतिम उपहार है। चूंकि 'वह है', इसलिए ईश्वर सदास्थिर और परिवर्त्तनीय रहता है।

(ग) ईश्वर अनंत, अकाल और निरंकार है। वेदांत और उपनिषद् में 'नेति-नेति' की तरह 'अ' प्रत्यय से निषेध का बोध होता है। सामान्य भाषा में ससीम मर्यादित है, इसलिए वह ईश्वर-तत्त्व अ-सीम और अ-मर्यादित है। सिख-धर्म के अनुसार यह अनंतता एक गुण है। हेगेल ने इसे 'मिथ्या-गणना' कहा है। इस गुणात्मक अनंतता का कोई नैतिक या धार्मिक अर्थ नहीं। वह आत्मचेतना से भी संबद्ध नहीं, वह तो 'दिक्'-कल्पना से संबद्ध है। और, दिक्-गणना मानव-सीमित है। जो दिक्-कल्पना से अतीत है, उसे आध्यात्मिक तत्त्व पर लागू करना गलत होगा। इसी कारण से भारतीय दर्शन में द्वैतवाद का उदय हुआ। आध्यात्मिक अनंत का मानवी आत्मा के आध्यात्मिक विकास में क्या उपयोग ? इस शब्द के गुणात्मक और सकारात्मक उपयोग से ईश्वर की संपूर्णता और समग्रता व्यक्त होती है। इस अर्थ में ईश्वर आत्मपर्याप्त है। और, उसे कोई सीमा नहीं है। उसका 'हुकम' सब जगह व्याप्त है।

इसी प्रकार, 'अकाल' का अर्थ केवल यह नहीं है कि उस पर जरा-मरण जैसी समय-सीमित उपाधियाँ लागू नहीं हैं और वह उनसे परे है। सिख-धर्म के अनुसार, ईश्वर काल से अतीत है, यानी काल का निर्माता है। ईश्वर का परम आत्म समय नाम की भौतिक माया से अस्पृष्ट है। ईश्वर ही सर्वत्र भरा है। वह संपूर्ण है। इसलिए, 'अकाल पुरुख' की कल्पना का सापेक्ष समय से कोई संबंध नहीं। काल प्रक्रिया है। ईश्वर उस प्रक्रिया से अतीत है। उस प्रक्रिया का

कारण और आधार है। अतः, जो उसका कर्त्ता है, वह कर्म या क्रिया कैसे हो सकता है ?

वह अजर-अमर 'निरंकार' है, यानी वह आकार से बद्ध नहीं है। वह प्रकृति को परमात्मा माननेवालों की तरह भी नहीं है, न वह विश्व का पर्यायवाची है। विश्व उसकी रचना है। उसी पर निर्भर है। ईश्वर परम तत्त्व निरंकार है, जिसका अर्थ यह है कि सारे सीमित अस्तित्व का वह 'अवलंब' है, नींव है। वह निरंकार इसलिए है कि वह समतोल और संपूर्ण है।

(घ) ईश्वर 'आपै आप' है। वह 'ज्योति' है। वह परम पूर्ण है। उसकी तुलना उससे वाहर की किसी वस्तु से नहीं हो सकती। मनुष्य का मन पूरी तरह से उसे समझ ही नहीं सकता। गुरु गोविंदसिंह 'जपुजी' में कहते हैं :

"उसका नाम स्मरण करो
चौदहों भुवन में
वही आदिज्योति है, पूर्ण आत्मा है,
सारे संसारों का स्रष्टा है
उसका सौंदर्य सर्वश्रेष्ठ है।
उसका रूप शुद्ध है।
वह अनंत है, वह पूर्ण आत्मा है।" (८३)
उसके दर्शन अनाहत ध्वनि या संगीत को सुनने जैसा है।

(ङ) 'ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। उसकी शक्ति उसकी सृष्टि के आश्चर्यों में समाई है। मनुष्य और देवता, मसीहा और पूर्ण पुरुष एक उसी पर निर्भर हैं। 'वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव जैसे देवताओं की लीला देखता है। पर, वे उसे नहीं देख सकते। ये सब देवता उसके रहस्य और शक्ति को नहीं जानते।'

(जपुजी, ३०)

ईश्वर इसलिए सर्वशक्तिशाली है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्यक्ष वास्तव से जोड़ता है। सारी क्रियाएँ उसी के कारण हैं। ईश्वर में श्रद्धा या विश्वास पंगु हो जाएगा, यदि वह ईश्वर भी अवतार लेकर मनुष्यों की तरह चितायुक्त हो जाए या उन्हें केवल अंशतः पार कर सके। जो ईश्वर स्वेच्छाएँ-सीमाएँ अपने ऊपर लगा लेता है, वह उसके दोष नहीं हैं। अच्छा-बुरा, विद्या-मूर्खता, सच-झूठ यह सब उसी की सृष्टि है और ये उसके बनाये नियमों के अनुसार ही चलते हैं। उसी ने अच्छे के साथ बुरा, पुण्य के साथ पाप भी बनाया। पर,

समाज में उसके रहने, बढ़ने के लिए मनुष्य जिम्मेदार है, ईश्वर नहीं। मनुष्य चुनने के लिए स्वतंत्र है। गुरु गोविंदसिंह कहते हैं कि ईश्वर पापियों को अपनी साँस से उड़ा दे सकता है, इतनी उसमें सर्वशक्तिसंपन्नता है। पर, वह अपने ही ढंग से, जब वह समझता है कि समय आ गया है, वह काम करता है।

(च) ईश्वर सर्वव्यापी है। सिख-गुरुओं के अनुसार ईश्वर केवल स्वर्ग में नहीं है। वह तो दिक्-कालातीत है। वह विराट् है और सर्वव्यापी है। वह सारे ज्ञान और शक्ति में ही नहीं, वह स्वभाव से ही ऐसा है। उसकी अमर आत्मा सारे प्राणियों में समाई हुई है :

"पर्वत पर ईश्वर है
गुफाओं में ईश्वर है
पृथ्वी पर ईश्वर है
आकाश में ईश्वर है
यहाँ ईश्वर है
वहाँ ईश्वर है
संसार में ईश्वर है
स्वर्ग में ईश्वर है।"

(गुरु गोविंदसिंह : अकाल उस्तत, ५२-५३)

(छ) ईश्वर सर्वज्ञानी है। ईश्वर चूंकि सचेतन-शक्ति है और सर्व-अस्तित्व का आधार है, इसलिए वह सब तथ्यों और अर्थों का भी मूल है। जीवन और सृष्टि का अंतिम उद्देश्य उसे ज्ञात है, इसलिए वह सर्वज्ञानी है। उसका सर्वज्ञानी होना उसके सर्वशक्तिमान् होने का ही एक भाग है। हर चींटी से हाथी तक उसी की कृपा सब पर रहने का कारण है कि वह हरएक के मन और आत्मा के भीतर का विचार जानता है। वह सब लोगों के सुख-दुःख पहचानता है।

२. ईश्वर के कर्म-गुण

(क) स्रष्टा और संहारकर्त्ता, ईश्वर दोनों है। राहीरास (पद ७) में गुरु नानक कहते हैं :

"तुम्हीं स्रष्टा हो
सब कुछ तुम्हारी रचना है
तुम्हारे विना और कौन है

जो तुम निर्माण करते हो
वही तुम देखते और जानते हो
गुरु के द्वारा, नानक कहते हैं
तुम्हीं सत्य-रूप में प्रकट होते हो।"

ईश्वर स्रष्टा और संरक्षक भी है। वह संतों और रसूल-कवियों को संकटों से बचाता है। वह चाहता है कि संतों की कुर्बानी व्यर्थ न जाए। वही उन्हें अमरता देता है। नामदेव और कबीर के जो पद आदिग्रंथ में हैं, उनसे स्पष्ट है कि ईश्वर संकट में दौड़कर संतों-भक्तों की सहायता करता है। पुण्यात्माओं को बचाना ईश्वर का 'विरद' है। पापी यदि पश्चात्ताप करे, तो उसे क्षमा कर देना भी उसका गुण है: 'पतित-पावन हरि विरद तिहारो।' उसकी इच्छा सर्वोपरि है। वह निरंजन है।

(ख) ईश्वर परम न्यायी है। सिख-धर्म के अनुसार प्रत्येक को उसके विचारों, आचारों और उच्चारों के अनुसार यथायोग्य न्याय दिया जाता है। यानी, वे अच्छे हों चाहे बुरे, ईश्वर की दृष्टि में पापी और संत बराबर हैं। ईश्वर की दृष्टि में कोई पक्षपात नहीं। वह न तो मनुष्य का सामाजिक या राजनैतिक दर्जा देखता है, न आर्थिक। वह तो केवल उसकी नैतिक स्थिति देखता है। उसकी सर्वज्ञ दृष्टि सभी व्यक्तियों को एक साथ समदृष्टि से देखती है। वह जैसे-जैसे कोई कर्म करता है, वैसा-वैसा उसे कर्म-फल देता है और वह भी उसके कर्मों के गुणावगुण के अनुसार। गुरुनानक आदिग्रंथ में 'वारमज्झ' में कहते हैं:

"अंतिम न्याय मनुष्य के हाथ में नहीं है
न वह विश्व के किसी प्राणी के हाथ में है
परमात्मा की अकेले की ही न्यायदृष्टि है
तू अकेला है! तू ही अकेला है!!

सिख-धर्मग्रंथ में लिखा है—'कर्मा इपर हारो तपावस'। इस मामले में ऐसा कोई छोटा-से-छोटा 'घालना' (नैतिक प्रयत्न) नहीं है, जिसे ईश्वर उपहार नहीं देता। ईश्वर सत्य है, सर्वशक्तिमान् है—इसी में उसका न्याय भी समाहित है। मनुष्य तो बाहरी दबाव से, परिस्थितियों से प्रभावित भी हो जाता है, ईश्वर को किसी का डर नहीं। जब ईश्वर, न्यायी जज की तरह मिहरबानी दिखाता है, तब बहुत दया दिखाता है। वह प्रेम और कृपा का सागर है।

ईश्वर का प्रेम और दया

वह दैवी गुण, जिसके आधार पर मनुष्य का ईश्वर में विश्वास और निष्ठा रहती है, वह है ईश्वर का पुण्यवान् मनुष्य के प्रति प्रेम। 'यदि मनुष्य उस ईश्वर की ओर एक कदम बढ़ता है, तो ईश्वर मनुष्य की ओर हजार कदम से आता है,' ऐसा भाई गुरुदास कहते हैं। ईश्वर का प्रेम कोई कर्म नहीं है, पर कर्म के पीछे का सिद्धांत है। ईश्वर अपने बंदे के सामने उसे जो जीवन-प्राण देता है, उसी रूप में नहीं, परंतु हर दिल में जो प्रेम वह पैदा करता है, उस रूप में उपस्थित रहता है। इसी प्रेम के कारण, जो कि प्रत्येक व्यक्ति में एक रचनाशील तत्त्व के रूप में उपस्थित है, सारे विश्व में यह बड़ी इच्छा है, हलचल है, अपने प्रथम प्रिय के पास सबको खींचने का यह सारा कार्य-कलाप है। ईश्वर प्रेम ही शेष सब प्रेम का मूलाधार है। प्रेम की अंतिम शर्त यह है कि प्रेमियों को एक गहरी बंधु-भावना से जोड़ा जाए। और, जो ईश्वर से प्रेम करता है, वह तो हरएक के दिल में प्रिय-पात्र को देखता है। भाई नंदलाल गोया 'दीवान-इ-गोया' (२७-२८) में कहते हैं :

"प्रेम के पक्ष में
हजारों सिंहासनों का वैभव है
सत्य के खोजी चिंता नहीं करते
हीरे, जवाहरात, ताज या बादशाहत की ;
ये सब दुनियावी कीमती चीजें क्षणभंगुर हैं
उन्हें प्रेमी मत मानो
जो कि प्रेम का रहस्य नहीं जानते !
ईश्वर ने मूसा से कहा—तू मुझे देख नहीं सकता
फिर भी मूसा सनाई परवत पर चढ़ गया
उसका जलवा देखने के लिए, एक झलक पाने के लिए
मेरी आँसू-भरी आँखें सिर्फ आँखें नहीं हैं
वे तो प्रेम-मदिरा से छलछलाती प्यालियाँ हैं
वह प्रेमी मेरी आत्मा में समा गया है।"

ईश्वर का प्रेम अनुग्रह बनकर व्यक्त होता है। जब ईश्वर मनुष्य से उसकी योग्यता से अधिक प्रेम करता है, तब उसे अनुग्रह, अनुकंपा कहते हैं। मनुष्य की दृष्टि से ईश्वर के न्याय से भी अधिक उसका प्रेम अनंत, असीम है, इसलिए

गुरुओं ने वरावर ईश्वर-प्रेम की माता के प्रेम से तुलना की है। वच्चा कितना ही माँ को गुस्सा दिलाए, उससे दूर हो जाए, उसकी न माने, फिर भी माँ का प्रेम अक्षुण्ण, अव्याहत वना रहता है।

ईश्वर का क्रोध क्षणिक होता है। पर, प्रेम सदा के लिए रहता है। ईश्वर-प्रेम का कोई अंत नहीं है। उस प्रेम और दया को उसकी कमजोरी नहीं माननी चाहिए। उसके प्रेम के साथ-साथ उसका न्याय भी तो है। मनुष्य-प्रेम एक प्रवृत्ति है, एक आत्मिक क्रिया है। एक भावनात्मक नशा है। ईश्वर-प्रेम में ही मनुष्य अपनी सच्ची सार्थकता पाता है। आत्मत्याग में ही उसकी सच्ची आत्मोपलब्धि है। ईश्वर का प्रेम हम सवमें वसता है। उसको खोजना पड़ता है। वह हमारे अहंकार और अज्ञान के परदे के कारण छिपा रहता है। प्रेम न करना और उसकी इच्छा न मानना अपने अस्तित्व की पूर्णता को अस्वीकार करना है। हमारे अस्तित्व का झूठा अंश सदा ईश्वर-प्रेम के घेरे से वाहर वहुत-सी वुरी चीजों की ओर भागता है। ईश्वर-प्रेम के वीज हृदय में खोजना आध्यात्मिक पुनर्जन्म की राह है। ईश्वर और मनुष्य के वीच प्रेम ही सवसे वड़ा पुल है।

ईश्वर की सृष्टि-प्रक्रिया में सिख-धर्म 'एकंकार' और 'ओंकार' ये दो शव्द प्रयुक्त करता है। ये वस्तुतः परम-अस्तित्व और भूयमानता ('वीइंग' और 'विकमिंग') के ही प्रतीक हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण शव्द 'हुकम' या 'अमर' ईश्वर की इच्छा है। ये दोनों शव्द इस्लाम में आते हैं। वहाँ उसे 'रजा' कहते हैं, 'जलाल' और जमाल' 'कहते हैं। सिख-धर्म में उसे 'मान' कहा जाता है। ईश्वर ने ही प्रकृति या कुदरत को वनाया (दुइ कुदरत साज्या)। गुरु नानक 'सुही' में कहते हैं :

"जैसे कोई अभिनेता नाटक में अनेक रूपों में आता है
वैसे ही ईश्वर अपनी लीला समाप्त होने पर वेश छोड़ देता है
और एक अकेला प्रकट होता है।"

सिख-ग्रंथों में 'शिव' और 'शक्ति' शव्द 'योग' और 'सांख्य' के अर्थ में है। मूर्तिपूजावादी, दाक्षिणात्य शैवमत, शाक्तमत या तंत्रों के अर्थ में नहीं है। भक्ति के पंथों में तो राधा-कृष्ण, सीता-राम, उमा-महेश, लक्ष्मी-नारायण, दुर्गा-शंकर ये जोड़ियाँ पूजी जाती हैं, १००८ रूपों में। पर, सिख-धर्म में स्त्री-पुरुष रूप में ऐसी मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। वल्कि उसकी वड़ी निंदा है। सिख-ग्रंथों

में शिव प्रकाश का प्रतीक है और शक्ति या महामाया अँधेरे का। यानी, आत्मा और जड़ ये दो शब्द भौतिक द्रव्य के लिए प्रयुक्त हैं। सिख-धर्म में यहूदी 'आदम' के अनुसार आदमी शब्द प्रयुक्त होता है—इसमें मनुष्य-शरीर को संत फ्रांसिस की तरह 'गधा भाई' नहीं कहा जाता। 'शरीर ईश्वर का मंदिर है!' ऐसी गुरु नानक की मान्यता है। मनुष्य ईश्वर की सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ हीरा है। सिख-धर्म में 'आतम', बौद्ध 'अत्ता' और यहूदी 'रूह' की तरह 'आप्प' या 'खुदी' माना जाता है। सतगुरु ही इस आत्मा को परमात्मा से मिलाता है। गुरु निर्गुण, सगुण और शबद तीन रूपों में मिलता है। इसलिए, सिख-धर्म में 'नाम' का बड़ा माहात्म्य है। इस प्रकार, सिख-धर्म में हिंदू और अन्य (जैसे सूफी) धर्मों की अच्छी बातों को रखा गया, पर एक और श्रेष्ठतर पंथ के निर्माण करने का यत्न किया गया है।

●

५. पारसी-धर्म में ईश्वर

ईरानी लोग अपने नये देश में भारतीय-ईरानी देवमाला से कई देवता लाये थे। जरथुष्ट्र उनका उल्लेख अपनी प्रार्थनाओं में नहीं करता। यह संयोगवश हुआ हो, ऐसी बात नहीं; पर जान-बूझकर जरथुष्ट्र ने किया है। उसका एक नया धर्म था। वह कहता है कि अपने सुननेवालों को वह ऐसे शब्द सुनाता है, जो पहले कभी नहीं सुने गए थे। सारा सोचना और करना, मानवी या दैवी हो, मन के द्वारा ही होता है। ज्ञान या बुद्धि ही निर्माण करती है, गढ़ती है, मार्ग-दर्शन कराती है। इसलिए, वह अपनी दैवी कल्पना में बुद्धि को जोड़ देकर उसे 'आहूर मज्दा' कहता है। इसका अर्थ है 'स्वामी-बुद्धि' या 'बुद्धिमान् स्वामी'। पहला शब्द आहूर भारतीय-ईरानी भाषा का है और मज्दा ईरानी का। इससे पहले जितने देवता थे, वे प्रकृति-प्रतीक देवता थे। पर, आहूर-मज्दा प्रकृति-देवता नहीं था। सरगॉन के असुरियन शिलालेख में ७१५ ईसा-पूर्व मज़दका नामक एक नामवाचक संज्ञा मिलती है। अस्सुरबानीपाल के शिलालेख में 'असर मज़स' नामक शब्द मिलता है, जो आहूर-मज्दा का असुरिया की भाषा में रूप है।

जरथुष्ट्र अपने भजनों और प्रार्थनाओं में सब जगह 'आहूर-मज्दा' शब्द का ही प्रयोग करता है। दोनों शब्द सर्वोच्च सत्ता के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। गारोनमाना में जितने दैवी प्राणी हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ है आहूर-मज्दा। उसका जन्म नहीं हुआ है। वह अद्वितीय है। वह ऐसा है कि उससे परे, उसके बिना या उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वह सर्वोच्च प्राणी है, जिसमें से सब वस्तुओं का अस्तित्व संभव है। वह सबसे प्रकाशमान, सबसे ऊँचा और सबसे पुरातन है। वह सर्वश्रेष्ठ है। उससे बड़ा कोई नहीं। उसके बराबर और कोई नहीं। उसकी महानता को चुनौती देनेवाला कोई नहीं। वह सबसे प्रथम और सर्वोत्तम है। वह संपूर्ण है, सर्वशक्तिमान् है, सब चीजों पर उसीका अधिकार है। वह परम कल्याणमय है। वह अपरिवर्तनीय है। वह सदा एक-सा रहता है। वह सबको प्रेरित करेगा, चलायमान करेगा; पर वह स्वयं अचल है। वह शक्तिशाली है, इसलिए सारे परिवर्त्तनों के भीतर वह स्थायी

रहता है। अच्छे-बुरे की लड़ाई में वही निर्णय करेगा कि कौन जीतेगा। वह सब आनंद का स्रोत है, अतः वही सबकी प्रार्थना का विषय है। सब कुछ उसीके द्वारा होता है। वह सर्वस्वामी है। उसके अनेक गुण हैं। वे उसके प्रमुख तत्त्व हैं, यानी ये गुण उसमें संयोगवश नहीं हैं।

आहूर-मज्दा आत्मा-रूप है। वह अपने मूल रूप में परम मंगलकारी आत्मा है। जरथुष्ट्र पहली बार दुनिया में, धर्मों के इतिहास में, मनुष्य-जाति में ऐसे ईश्वर की कल्पना लाये, जो कि अपनी भव्यता में अतुल्य है और जो अपनी श्रेष्ठता में अपूर्व है। उनसे पहले जो भी सर्वोच्च शक्ति पूजी जाती रही, उससे वह श्रेष्ठतर है। आर्य और सभी देवताओं में जो भी मानव-समान लक्षण हैं, उनसे वह परे हैं। मनुष्य अमूर्त्त कल्पनाओं को शब्दों के सहारे जानता है। भौतिक कल्पनाचित्रों द्वारा जानता है। जरथुष्ट्र इसलिए मानव की उपमा देकर आहूर-मज्दा को समझाता है। वह उसकी 'दृष्टि' या उसके 'मुँह से शब्द' की बात करता है। वह अपने 'हाथों' से मनुष्यों में अच्छाई और बुराई बाँटता है। वह उच्च दिव्यलोक में अपने राजसी सिंहासन पर विराजता है। मनुष्य को पुण्य की ओर ले जानेवाले सीधे रास्ते में वह सदा उपस्थित रहता है। उसका वस्त्र आकाश है। ये सब वर्णन प्रतीक-रूप में लिए जाने चाहिए। गाथा के अनुसार, आहूर-मजदा केवल मन की आँखों से जाना जा सकता है। ससीम असीम का वर्णन ससीम उपमा और रूपकों द्वारा ही कर सकता है।

आहूर-मज्दा का घर ऊपर उच्चतम स्वर्ग में है, सारी पृथ्वी से ऊपर है और पुण्यात्माओं के हृदय में है। वह अत्यंत दैवी गुणयुक्त और अपनी प्रजा या प्राणियों से कहीं महान् है। फिर भी, वह इतना दूर और अनाकर्षणीय नहीं कि उस तक प्रार्थना न पहुँचे। वह मनुष्य के निकटतम प्रेममय संबंधों से बँधा है। मनुष्य उसे पिता, बंधु, मित्र मान सकता है। जो उससे मैत्री करना चाहें, उनका वह मित्र है; जो उससे प्रेम करें, उनसे वह प्रेम करता है। जरथुष्ट्र आहूर-मज्दा को अपना मित्र मानता है। वह जीवन का सबसे सुरक्षित आधार है। जरथुष्ट्र संकट के समय उसे पुकारता है और वह मित्र की तरह दौड़ा आता है। वही मनुष्यों को बुराइयों से बचाता है। आशा की मारफत जो मनुष्य उसकी सहायता चाहते हैं, उन्हें वह मिलती है। उसका हमारे लिए अनुग्रह असीम है। जो लोग मनसा वाचा कर्मणा उसकी प्रार्थना करते हैं

उन्हें अमरता, पवित्रता, शक्ति, पूर्णता आदि-गुण मिल सकते हैं। मनुष्य पुण्यकार्य से, अपने साथियों से प्रेम करके उसकी कृपा पा सकता है। मनुष्य उसका अनुकरण और अनुसरण कर सकता है।

आहूर-मज्दा स्रष्टा है। सृष्टि उसकी अच्छाई की मुक्त क्रिया है। वह जब अपने-आपमें संपूर्ण था, उसने आकाश को आलोक से भर दिया। उसने प्रकाश बनाया और अँधेरा भी वहाँ प्रकाश के साथ था। वह वोहू मानाह, आशा, ख्शथ्रा, आरमैती, हौरवातात और अमेरेतात का निर्माता है। उसीने गिउश-ताशान बनाया है। ये आनंद देनेवाले पशु, यह सारा संसार उसी की सृष्टि है। पृथ्वी और आकाश को गिरने से वही बचाता है। उसने चांद को छोटा बड़ा होनेवाला बनाया। उसने सूर्य और तारों का मार्ग निर्धारित किया। उसने हवा और बादलों को गति दी। उसने सबेरा, दोपहर और रात बनाई। उसी ने वनस्पति, पानी, पशु-पक्षी बनाये। उसी ने मनुष्य और सारी आत्माएँ बनाईं, उनके शरीर में प्राण फूंके और उन्हें संकल्प की स्वतंत्रता दी। उसने पुत्र और पिता में प्रेम पैदा किया। उसने नींद और जागृति निर्मित की। उसने मनुष्यता को वरदान दिया।

आहूर-मज्दा बुद्धि का अधिष्ठाता था। उसने बुद्धि द्वारा विश्व बनाया। बुद्धि से ही वह उसपर राज करता है। वह सर्वज्ञानी है, दूरदर्शी है, सर्वदर्शी है। वह त्रिकालदर्शी है। मनुष्य प्राणी सदा मुखौश लगाये चलते हैं। उनके दिल की बात कौन जानता है। आहूर-मज्दा की पैनी दृष्टि अंतर्यामी है। कोई उसे धोखा नहीं दे सकता; क्योंकि वह सर्वज्ञ है। वह उन सबको सिखानेवाला है, जो उसकी प्रार्थना करते हैं।

आहूर-मज्दा न्यायदाता और न्यायाधीश है। उसी ने मनुष्य के अच्छे व्यवहार के नियम बनाये हैं। मसीहा का काम यही नियम सबको समझाना है और यह देखना है कि मनुष्य सही रास्ते पर चले। वह सबको कहता है कि मेरी बात ठीक से सुनो और गुनो। विवेक का उपयोग करो। संकल्प की स्वतंत्रता का ठीक से उपयोग करो। आहूर-मज्दा ने जो उन्हें प्रतिभा दी है, उसका पूरा और सही उपयोग करो। जरथुष्ट्र कहते हैं कि प्रत्येक पुरुष और नारी को एक दिन अपने कर्मों का हिसाब देना होगा, और आहूर-मज्दा के बताए मार्ग पर आना होगा। वही सब-के-सब कर्मों का चिरंतन साक्षी और द्रष्टा है। वह मनुष्यों की नियति अपने हाथों में रखे हुए है और प्रत्येक

मनुष्य को उसके पाप-पुण्य के हिसाब से देता-लेता है। वह अच्छे काम करनेवालों को इनाम देता है, वह पश्चात्ताप करनेवालों पर दया दिखाता है और जो बुरे काम करते हैं, उन्हें दंडित करता है।

आहूर-मज्दा और मनुष्यों के बीच में, यानी अपरिवर्त्तनीय और परिवर्त्तनीय के बीच में 'स्पेंता मैन्यू' नामक एक और शक्ति पर पारसी-धर्म में विश्वास किया जाता है। जरथुष्ट्र के अनुसार, वह आधी दैविक और आधी भौतिक के बीच की कड़ी है। आहूर-मज्दा काल-गणना के आरंभ से, इतिहास से पूर्व की, स्वयंभू शक्ति है। वह अपनी अनंत कल्याणमयता में सृष्टि करता है। आकाश और धरती उसी के रचे हुए हैं। उसकी सर्जन-शक्ति और प्रतिभा का व्यंजित रूप है 'स्पेंता मैन्यू' (पवित्र आत्मा)। वह आहूर-मज्दा की तरह से प्राचीन, उसी के साथ और उसी में स्थित है। 'स्पेंता मैन्यू' आहूर-मज्दा का प्रतिरूप है, उसी की प्रतिकृति है।

आहूर-मज्दा द्वारा अपने विचारों में जो आदर्श और संपूर्ण अस्तित्व कल्पित किया जाता है, वही स्पेंता मैन्यू है। उसकी विरोधी छाया और वह—ये दोनों तत्त्व एक तरह से जुड़वाँ पैदा हुए। अच्छे तत्त्व पुण्य करते रहे, बुरे तत्त्व पाप। इन दोनों में हर बात में विरोध पाया जाता है—विचारों में, विश्वासों में, आचारों में। ये दोनों तत्त्व जब दुनिया में आए, तब उन्होंने जीवन और जीवन-विरोधी तत्त्व आपस में बाँट लिए। उन्होंने मनुष्य को उपहार और दंड देने का विधान भी आपस में बाँट लिया।

गाथाओं में 'स्पेंता मैन्यू' को कहीं आहूर मज्दा का गुण, या प्रतिनिधि, सहयोगी या उसी के समान बताया गया है। ये जो पशु, पानी और पौधे दिखाई देते हैं, वे स्पेंता मैन्यू के द्वारा ही आहूर मज्दा ने पैदा किए। उसी के द्वारा मनुष्य को पूर्णता और अमरता आहूर मज्दा दिलाता है। उसी के द्वारा वह अपने पवित्र प्रदेश को बढ़ाता है। आहूर-मज्दा से जरथुष्ट्र पूछता है कि विश्वास करनेवालों को क्या इनाम दिया जाए, तो वह उत्तर देता है कि 'स्पेंता मैन्यू' के सहारे वह उस निर्णय पर पहुँचेगा। वह अच्छे लोगों का मित्र है। बुरे लोगों को वह सजा देता है। उसे कभी-कभी सर्वोत्तम आत्मा, पवित्र आत्मा, सर्वश्रेष्ठ आत्मा भी कहा गया है। जरथुष्ट्र आहूर मज्दा से कहते हैं कि यह सर्वोत्तम पवित्र आत्मा वह अपने लिए सुरक्षित रखता है।

मज़्दा के जो प्रमुख देवदूत हैं, वे छह हैं :

१. वोहु मानाह (उत्तम मन)।
२. आशा (पुण्यकर्म)।
३. ख्शथ्र (दैवी राज्य)।
४. आरमैती (शक्ति)।
५. हौरवातात (पूर्णता)।
६. अमेरेतात (अमरता)।

ये सब मज़्दा के ही सद्‌गुण मूर्त्त रूप में व्यक्त हुए हैं। वे सूक्ष्म व्यक्तित्व ग्रहण करते हैं। 'मज़्द्र (सच्चा) अहूराओं घो' का अर्थ है आहूर मज़्दा और उसके साथी। जैसे, वैदिक देवताओं में वरुण और रुद्र बहुवचन में प्रयुक्त किए जाते हैं। 'आमेशा स्पेंता' (अमर पवित्र आत्माएँ) गाथाकाल के बाद निर्मित हुईं। ऐसा भी माना जाता है कि वैदिक आदित्यों के प्रभाव में ये पैदा हुए। आदित्य छह, सात, आठ और बारह भी बताये जाते हैं। पर, गाथा में ये छह और आहूर मज़्दा में सात ही नाम आते हैं। इनमें भी वोहु मानाह, आशा, ख्शथ्र आरंभ में नपुंसक संज्ञाएँ थीं, जो उत्तर आवेस्तन में पुरुषवाचक हो जाती हैं, और आरमैती, हौरवातात और अमेरेतात स्त्रीलिंगी हैं। उत्तर गाथाओं में 'सात अमर' आत्माओं का वर्णन है। 'आशा' का उल्लेख सर्वाधिक हुआ है, 'वोहु मानाह' पुराना होने पर भी दूसरे नंबर पर है। अब यह कहना कठिन है कि अमूर्त्त गुणों के ये मूर्त्त रूप हैं, या मनुष्य की अपेक्षा मज़्दा के ही दैवी गुण हैं।

ये दो तरह का काम करते हैं : एक ओर उनमें आध्यात्मिक गुण-विशेष है, तो दूसरी ओर हर शक्ति के साथ-साथ एक भौतिक वस्तु भी बाद में चिह्नित की गई है। जैसे 'वोहु मानाह' को जरथुष्ट्र मज़्दा का पुत्र मानते हैं। उसे 'वोहु मैन्यू' या 'वहिष्ट मैन्यू' भी कहा गया है। उत्तम विचार, उत्तम उच्चार, उत्तम आचार ये तीन रूप 'वोहु मैन्यू' के हैं।

गाथा में 'ख़्रतु' और 'चिस्ति' ये दो शब्द विवेक के लिए या सदसद्-भेद करनेवाली बुद्धि के लिए प्रयुक्त हैं। उत्तर गाथाओं में जन्मना बुद्धि और शिक्षा द्वारा उपलब्ध बुद्धि के दो रूप दिए गए हैं। मनुष्य का परम आदर्श है आहूर मज़्दा होना, जो वह 'वोहु मानाह' द्वारा प्राप्त कर सकता है। मज़्दा अच्छे मनुष्य पर 'वोहु मानाह' की कृपा बरसाने के लिए प्रेरित करता है।

वोहु मानाह् मनुष्य के मन को आलोकित करता है। पौरुचिस्ति को कहा गया है कि वह वोहु मानाह् की संगति करे। पापात्मा वेंद्वा इस वोहु मानाह् के आदेश नहीं मानते। वे उनसे दूर हो जाते हैं। इसलिए, पवित्र व्यक्तियों को वोहु मानाह् को नाराज नहीं करना चाहिए। वही समृद्धि देता है, सुव्यवस्थित मन देता है। वोहु मानाह् गरीबों की रक्षा करता है, स्वर्ग तक मनुष्य को ले जाता है। मृत्यु के बाद मज्दा और आशा के साथ वोहु जहाँ रहता है, वहाँ मनुष्य जा सकता है। वहाँ मज्दा के शक्तिशाली न्याय का साक्षात्कार मनुष्य को होगा। जब गिउश-उरवान, सब प्राणियों का प्रतिनिधि इस बात की शिकायत करता है कि पशु-जगत् पर क्रोध बरस रहा है, तो वोहु मानाह् यह आनंदमय समाचार देते हैं कि धरती पर जरथुष्ट्र को भेजा गया है। वह मनुष्यों को पशु और गौओं की रक्षा सिखाएगा। वोहु मानाह् की सलाह से धरती पर मज्दा ने चरागाह बनाए। इसी कारण से मनुष्य पशुपालन करने लगा।

आशा वैदिक 'ऋत' की तरह से है। ईरानी में उसे अर्त, अरेता कहते हैं। तब अर्तशुमारा, अर्ततमा ऐसे नाम भी शिलालेखों में मिलते हैं। जरथुष्ट्र आशा शब्द का प्रयोग करता है। पुराने फारसी आलेखों में 'अर्त' एक संज्ञा भी है। पहलवी लेखक भी 'आशा' के बदले 'अर्ता' लिखते हैं। यह शब्द मज्दा के पुण्यकार्य के लिए प्रयुक्त होता है। उसकी उत्पत्ति उसके विवेक से हुई। वह मज्दा को सलाह देनेवाला है। उसे वहिश्ट (श्रेष्ठ) भी कहा जाता है। 'आशा वहिश्टा' एक साथ कहा जाता है।

वैदिक कवि पूछता है, सूर्य आकाश से क्यों नहीं गिरता, नदियाँ समुद्र की ओर ही क्यों जाती हैं और फिर भी समुद्र छलकता क्यों नहीं, दिन में सितारे कहाँ चले जाते हैं ? इसी तरह से जरथुष्ट्र प्रश्न पूछते हैं आहूर मज्दा से, कि आशा का कौन पिता है ? उस आशा का, जिसने सूर्य, चंद्र और तारों की दिशा निश्चित की, जिसके कारण चंद्र छोटा-बड़ा होता है। आशा के ही सहारे धरती और आकाश टिके हैं। उसी से हवा चलती है, पौधे नियमित रूप से उगते हैं। आशा का एक विशेषण कांतिमान् भी है।

जरथुष्ट्र अपने-आपको जाओतार (वैदिक होतार) कहता है, जो होम करनेवाला पुरोहित था। उसने आशा से ही सब विधियाँ सीखीं, ऐसा भी उल्लेख आता है। यस्ना बलिदान में सर्वोत्तम कौन हैं, यह आशा ही बताता है। इस

प्रकार से आशा की उपासना होती है। जरथुष्ट्र स्वयं अपने जीवन में आशा की अच्छाई, पुण्यात्मा होने का प्रतिनिधि है। इसी पुण्य के आसपास जरथुष्ट्र की नैतिकता घूमती रहती है। आशा से जो शब्द 'आश्वान' बनता है, उसका अर्थ है संत, सर्वोत्तम गुणोंवाला पुण्यात्मा। यह गुण कुछ मुट्ठी-भर लोगों के लिए नहीं है। सभी जनसाधारण इन गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। जरथुष्ट्र आशा से मिलने के लिए व्याकुल है। वह आरमैती की भक्ति के साथ देखना चाहता है। वह अपनी पुत्री पौरुचिस्ति से कहता है कि वह आशा से मिले। ह्वोगा आशा को अपनाये। फ्रामन सरदारों के साथ आशा आरमैती के द्वारा कब आएगा, उस मुहूर्त्त की वह राह देखता है। वह सदा आशा का आशीर्वाद चाहता है। आशा के द्वारा ही संसार में अच्छाई फैलती है। आशा ही लंबा जीवन देता है।

वेदों में ऋत के पंथ की बात है। वैसे ही गाथा में आशा के पंथ की बात है। इस पथ से जानेवाले स्वर्ग पहुँचते हैं। अंतिम निर्णय के पुल पर बुरी आत्माएँ काँपती हैं; क्योंकि वे आशा के पथ से नहीं गईं। उस पथ से जो चूक जाते हैं, उनका नाश होता है। मनुष्य अच्छे या बुरे मार्ग को चुनने के लिए स्वतंत्र है। पर, उन कर्मों के परिणाम भी उसे ही भुगतने हैं। चाहे उसे उपहार मिले या दंड। इस कारण, से जरथुष्ट्र बार-बार अनुशासन-बद्धता की बात करते हैं। पक्का निश्चय, सशक्त संकल्प और अनवरत परिश्रम उस आशा के मार्ग के लिए आवश्यक हैं। आदर्श इतना सहज नहीं है। लेकिन, उसे पाने पर आनंद-ही-आनंद है। इसलिए, मनुष्य को मनसा वाचा कर्मणा शुद्ध रहना है। इसी पुण्य मार्ग से बुराई पर विजय पाई जा सकती है। अग्नि इस पुण्य या शुद्ध आत्मा का दृश्य प्रतीक है। यों, आहूर मज्दा की अग्निपूजा की पारसी-धर्म में प्रधानता है।

ख्शथ्रा मित्र, वरुण, इंद्र और आदित्य की शक्ति का भय है। क्षात्र उसी का बाद का रूप है। वोहु ख्शथ्रा का अर्थ है उत्तम शक्ति। ख्शथ्रा हस्तोहश का अर्थ है इच्छा का राज्य, ख्शथ्रा वैर्या का अर्थ है 'इच्छित साम्राज्य'। जरथुष्ट्र इस पृथ्वी पर आहूर मज्दा का राज्य स्थापित करने का आदेश मनुष्यों को देते हैं। उनका विश्वास है कि बुराई पर विजय पाई जाएगी और वह पुण्य-शक्ति अवश्य अवतरित होगी। आहूर मज्दा के राज्य की पृथ्वी पर अवतरण के लिए जरथुष्ट्र बार-बार कहते हैं। वह इसी ख्शथ्रा के द्वारा अवतरित

होगा। विविध खनिज द्रव्यों पर ख्शथ्रा का बड़ा प्रभाव है, यानी समृद्धि का वह अधिष्ठाता है।

आरमैती वैदिक आरमती के समान है, पवित्रता का स्त्री-प्रतीक। जरथुष्ट्र की आत्मा आहूर-मज्दा से जुड़ी है—आरमैती की भक्ति के कारण। वह आहूर-मज्दा के विविध उपदेश सिखाती है। जो उसे अपनाते हैं, पवित्र हो जाते हैं। जिनपर आरमैती की कृपा होती है, वे समृद्धि से पूर्ण होते हैं। जरथुष्ट्र फ्राशा ओष्ट्रा से कहता है कि वह आरमैती की भक्ति सबको दे। वेंद्वा दुष्ट है; क्योंकि वह आरमैती का अनुसरण नहीं करता। सायणाचार्य आरमती को भूमि का पर्यायवाची मानते हैं। वोहु मानाह ने आरमैती के द्वारा चरागाह बनाए, ऐसा गाथा कहती है।

हौरवातात और अमेरेतात पूर्णता और अमरता की अटूट जोड़ी हैं। हर धार्मिक प्रार्थना में दोनों की एक साथ पूजा की जाती है। पवित्र शब्दों के उच्चारण से इन दो देवताओं को प्रसन्न किया जाता है। पानी और पौधे इन दो दैवी शक्तियों के विशेष क्षेत्र हैं। वे दैवी भोजन और पेय अमृत के प्रतीक हैं।

स्त्रा ओशा धर्म की आज्ञा मानता है। बाद में स्त्रा ओशा मिथ्रा और राश्नु के इन दो भाइयों के साथ-साथ दैवी निर्णायक और न्यायदाता कहे गये हैं। गाथा में ये दोनों नाम नहीं हैं। स्त्रा ओशा भी दैवी गुण या दूत के रूप में नहीं, पर आज्ञार्थी शब्द गाथा में माना गया है।

अतर या 'अग्नि' उत्तर आवेस्ता में विस्तार से बताए गए हैं। ज़ोरो आष्ट्री राजाओं से पहले भी कई राजा अग्निपूजक थे। पहलवी बुंदहिश्न कहते हैं कि मिया और कवि हाओस्रवा ने फ्रोबा और गोशास्प की आग जलाई। जरथुष्ट्र का राजाश्रयदाता विष्टप ने 'बुरज़िन मिह्र' अग्नि जलाई। मुस्लिम-लेखक दसवीं शती में ज़ोरो आस्टर से पहले की दस अग्नियों का उल्लेख करते हैं। ईरान के धार्मिक मसीहा ने ऐसा अग्निपूजक पंथ पहले से प्रतिष्ठित किया था।

आहूर मज़्दा चिरंतन प्रकाश है। वह विविध प्रकार के प्रकाश में रहता है। वह पृथ्वी के पेट की आग, चूल्हे की आग, सूर्य के तेज और चंद्र की शीतल कांति के रूप में ही नहीं, सारी सृष्टि में जीवनदात्री ऊष्मा के रूप में है। अग्नि दिव्यता, भव्यता और शुद्धता का प्रतीक है।

प्रकार से आशा की उपासना होती है। जरथुष्ट्र स्वयं अपने जीवन में आशा की अच्छाई, पुण्यात्मा होने का प्रतिनिधि है। इसी पुण्य के आसपास जरथुष्ट्र की नैतिकता घूमती रहती है। आशा से जो शब्द 'आश्वान' बनता है, उसका अर्थ है संत, सर्वोत्तम गुणोंवाला पुण्यात्मा। यह गुण कुछ मुट्ठी-भर लोगों के लिए नहीं है। सभी जनसाधारण इन गुणों को प्राप्त कर सकते हैं। जरथुष्ट्र आशा से मिलने के लिए व्याकुल है। वह आरमैती की भक्ति के साथ देखना चाहता है। वह अपनी पुत्री पौरुचिस्ति से कहता है कि वह आशा से मिले। ह्वोगा आशा को अपनाये। फ्रामन सरदारों के साथ आशा आरमैती के द्वारा कब आएगा, उस मुहूर्त्त की वह राह देखता है। वह सदा आशा का आशीर्वाद चाहता है। आशा के द्वारा ही संसार में अच्छाई फैलती है। आशा ही लंबा जीवन देता है।

वेदों में ऋत के पंथ की बात है। वैसे ही गाथा में आशा के पंथ की बात है। इस पथ से जानेवाले स्वर्ग पहुँचते हैं। अंतिम निर्णय के पुल पर बुरी आत्माएँ काँपती हैं; क्योंकि वे आशा के पथ से नहीं गईं। उस पथ से जो चूक जाते हैं, उनका नाश होता है। मनुष्य अच्छे या बुरे मार्ग को चुनने के लिए स्वतंत्र है। पर, उन कर्मों के परिणाम भी उसे ही भुगतने हैं। चाहे उसे उपहार मिले या दंड। इस कारण, से जरथुष्ट्र बार-बार अनुशासन-बद्धता की बात करते हैं। पक्का निश्चय, सशक्त संकल्प और अनवरत परिश्रम उस आशा के मार्ग के लिए आवश्यक हैं। आदर्श इतना सहज नहीं है। लेकिन, उसे पाने पर आनंद-ही-आनंद है। इसलिए, मनुष्य को मनसा वाचा कर्मणा शुद्ध रहना है। इसी पुण्य मार्ग से बुराई पर विजय पाई जा सकती है। अग्नि इस पुण्य या शुद्ध आत्मा का दृश्य प्रतीक है। यों, आहूर मज्दा की अग्निपूजा की पारसी-धर्म में प्रधानता है।

ख्शथ्रा मित्र, वरुण, इंद्र और आदित्य की शक्ति का भय है। क्षात्र उसी का बाद का रूप है। वोहु ख्शथ्रा का अर्थ है उत्तम शक्ति। ख्शथ्रा हस्तोहश का अर्थ है इच्छा का राज्य, ख्शथ्रा वैर्या का अर्थ है 'इच्छित साम्राज्य'। जरथुष्ट्र इस पृथ्वी पर आहूर मज्दा का राज्य स्थापित करने का आदेश मनुष्यों को देते हैं। उनका विश्वास है कि बुराई पर विजय पाई जाएगी और वह पुण्य-शक्ति अवश्य अवतरित होगी। आहूर मज्दा के राज्य की पृथ्वी पर अवतरण के लिए जरथुष्ट्र बार-बार कहते हैं। वह इसी ख्शथ्रा के द्वारा अवतरित

होगा। विविध खनिज द्रव्यों पर ख्शथ्रा का बड़ा प्रभाव है, यानी समृद्धि का वह अधिष्ठाता है।

आरमैती वैदिक आरमती के समान है, पवित्रता का स्त्री-प्रतीक। जरथुष्ट्र की आत्मा आहूर-मज्दा से जुड़ी है—आरमैती की भक्ति के कारण। वह आहूर-मज्दा के विविध उपदेश सिखाती है। जो उसे अपनाते हैं, पवित्र हो जाते हैं। जिनपर आरमैती की कृपा होती है, वे समृद्धि से पूर्ण होते हैं। जरथुष्ट्र फ्राशा ओष्ट्रा से कहता है कि वह आरमैती की भक्ति सबको दे। वेंद्वा दुष्ट है; क्योंकि वह आरमैती का अनुसरण नहीं करता। सायणाचार्य आरमती को भूमि का पर्यायवाची मानते हैं। वोहु मानाह ने आरमैती के द्वारा चरागाह बनाए, ऐसा गाथा कहती है।

हौरवातात और अमेरेतात पूर्णता और अमरता की अटूट जोड़ी हैं। हर धार्मिक प्रार्थना में दोनों की एक साथ पूजा की जाती है। पवित्र शब्दों के उच्चारण से इन दो देवताओं को प्रसन्न किया जाता है। पानी और पौधे इन दो दैवी शक्तियों के विशेष क्षेत्र हैं। वे दैवी भोजन और पेय अमृत के प्रतीक हैं।

स्रा ओशा धर्म की आज्ञा मानता है। बाद में स्रा ओशा मिथ्रा और राश्नु के इन दो भाइयों के साथ-साथ दैवी निर्णायक और न्यायदाता कहे गये हैं। गाथा में ये दोनों नाम नहीं हैं। स्रा ओशा भी दैवी गुण या दूत के रूप में नहीं, पर आज्ञार्थी शब्द गाथा में माना गया है।

अतर या 'अग्नि' उत्तर आवेस्ता में विस्तार से बताए गए हैं। ज़ोरोआष्ट्री राजाओं से पहले भी कई राजा अग्निपूजक थे। पहलवी बुंदहिश्न कहते हैं कि मिथ्रा और कवि हाओस्रवा ने फ्रोबा और गोशास्प की आग जलाई। जरथुष्ट्र का राजाश्रयदाता विष्टप ने 'बुरजिन मिह्र' अग्नि जलाई। मुस्लिम-लेखक दसवीं शती में ज़ोरोआस्टर से पहले की दस अग्नियों का उल्लेख करते हैं। ईरान के धार्मिक मसीहा ने ऐसा अग्निपूजक पंथ पहले से प्रतिष्ठित किया था।

आहूर मज्दा चिरंतन प्रकाश है। वह विविध प्रकार के प्रकाश में रहता है। वह पृथ्वी के पेट की आग, चूल्हे की आग, सूर्य के तेज और चंद्र की शीतल कांति के रूप में ही नहीं, सारी सृष्टि में जीवनदात्री ऊष्मा के रूप में है। अग्नि दिव्यता, भव्यता और शुद्धता का प्रतीक है।

जब-जब ईश्वर के चुने हुए वंदों को 'द्रुज' या झूठ सताता है, तब-तब वें अतर की ओर भागते हैं। मज़्दा ने आशा के द्वारा यह कहा है कि सत्कर्म करनेवालों को उपहार मिलेगा। स्वर्ग का पिता अग्नि-परीक्षा के द्वारा अपना: अंतिम निर्णय देगा कि कौन अच्छा है, कौन बुरा। अग्नि ही ईश्वर का: वरदान है। उसी के द्वारा वह पापी को दंडित करेगा।

आशी नियति, स्वीकृति या उपहार की स्त्री-प्रतीक है। उसे 'वांगुही' (परमशिवा) भी कहा गया है। उत्तर अवेस्ता में उसे पवित्रता की मूर्त्ति माना गया है। जरथुष्ट्र आशा के साथ आशी को भी बुलाता है। उसी के सहारे झूठ से लड़ाई लड़ी जाती है। उत्तर आवेस्तन काल में आशी भौतिक उपहारों की प्रतीक मानी जाती रही है।

गिउश-ताशान और गिउश-उरवान प्राणी-जगत् या पशुलोक का स्वामी है। गिउश-ताशान वैल या गाय का निर्माता है, और गिउश-उरवान उसकी आत्मा। गाव और आज़ी (गौ या वैल, आज़ी) ये शब्द वार-वार गाथा में आते हैं। वैदिक द्यौसपृथ्वी में भी आकाश और धरती को वैल और गाय के रूप में चित्रित किया गया है। गो का अर्थ गौ और पृथ्वी दोनों है। वैविलोन में मर्डुक तैमात को मारता है, वैदिक मिथकों में पुरुष-मेध होता है। पह्लवी में अह्रिमान गया मारेतान को मारता है। इस वलिदान के विभिन्न अंगों से ही सृष्टि की उत्पत्ति वताई जाती है। गाय-वैल का यह महत्त्व आरंभ के कृषि-प्रधान समाज में समझ में आनेवाला है। मिथ्रा 'विस्तृत चरागाहों का स्वामी' है। मिथ्रा के आरंभिक शिल्प-रूपों में वह एक वैल पर वैठा है, उसके नथुने एक हाथ से उसने दवोचे हैं और दूसरे हाथ से एक शिकारी उस वैल की पीठ में चाकू भोंक रहा है। यह प्रथम गौ अपने दुःख की कथा सुनाती है, और जरथुष्ट्र उसे दुःख से मुक्त करता है। वाद की गाथाओं में ईश्वर एक देवदूत भेजता है, ऐसा भी उल्लेख है। जरथुष्ट्र जीवन में स्थायित्व और एक स्थान पर वसने की अच्छाई वताता है। यह घुमन्तू जातियों के गो-चारण के वाद कृषि-प्रधान समाज का प्रतीक है। जरथुष्ट्र पशुपालन का भी उपदेश देता है। जीवन में व्यवस्था और यम-नियमों का महत्त्व वताता है। पशुपालन और कृषि से समृद्धि आती है, यह इससे स्पष्ट है। धार्मिक जीवन को भौतिक जीवन से जोड़ा गया है।

६. ईसाई या मसीही धर्म में ईश्वर-भावना

आज विश्व में, सब धर्मों में ईसाई-धर्म सर्वाधिक प्रसृत धर्म है। आज दुनिया में हर तीसरा आदमी ईसामसीह के धर्म को मानता है। यानी, इस धर्म को माननेवाले करीब अस्सी करोड़ लोग दुनिया में हैं। गत दो हजार वर्षों से प्रचलित इस धर्म में आश्चर्यपूर्ण विविधता पाई जाती है। सेंट पीटर गिरजे में रंग-बिरंगे चमकीले कपड़े पहने पोप के 'हाइ मास' (उच्चतम उपासना) से लगाकर किसी क्वेकर पंथ की मौन सादा प्रार्थना-सभा तक ; टॉमस अॅक्वाइनस के आध्यात्मिक आत्मनिवेदन से लगाकर जार्जिया के नीग्रो लोगों के 'हे नाथ, हम मसीही बनना चाहते हैं !' जैसे भजनों तक ; ब्रिटिश-साम्राज्य के विशाल उपासना-गृहपीठ सेंट पाल्स से लगाकर जापान की गंदी बस्तियों में कागावा के खुले मंदिरों तक; ईसाई प्रभाव में संत-कवियों की भाँवरी वाणी से लगाकर बड़ी-बड़ी सभाओं में विली ग्रैहेम के प्रवचनों तक सब कहीं ईसाई मत फैला है। भारत में भी उसके विविधाकार हैं : केरल में सीरियन क्रिश्चियन हैं ; गोवा में जेसुइट का पंथ है, वौमजीसस है ; कलकत्ता के पास मिशनरियों का सबसे पुराना मुद्रणालय है ; बरेली में बाइबिल के हिंदी-अनुवाद का कार्यालय है ; रायपुर और राँची में आदिवासी गोंड और संतालों की बस्ती में मसीही मत का प्रचार करनेवाले त्यागी मिशनरी हैं। इन सब क्रिश्चियन पंथों में से तीन प्रमुख शाखाओं का विचार इस निबंध में होगा—रोमन कैथोलिक संप्रदाय, पूर्व के प्राचीन मसीही-मत (ऑर्थोडाक्स चर्च) और मार्टिन लूथर का प्रोटेस्टेंट पंथ—आधुनिक ईसाई-धर्म के अनुयायियों में अधिकतर इन तीन संप्रदायों में बँटे हुए हैं।

मसीही मत एक ऐतिहासिक मत है। यानी इसकी व्युत्पत्ति या आरंभ के विषय में कोई रहस्यमय या दैवी कारण नहीं है। जैसे कि इस धर्म के नाम से स्पष्ट है, क्रिश्चियनिटी क्राइस्ट के जीवन से संबद्ध है, ईसाई-मत ईसा का मत है या मसीही धर्म मसीहा ईसामसीह से जुड़ा हुआ है। इस ईसा के बारे में, उसके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं, प्रत्यक्ष रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। वह एक यहूदी बढ़ई था, जिसका जन्म एक अस्तबल में हुआ। तैंतीसवें वर्ष में उसे सूली पर चढ़ा दिया गया। उस समय

उसपर आरोप लगाकर, अपराधी बनाकर सलीब पर कीलें ठोंककर मार दिया गया। वह अपने जन्मस्थान से नब्बे मील की दूरी से परे कहीं यात्रा पर भी नहीं गया। उसके पास कोई धन वैभव, प्रासाद-ऐश्वर्य, भौतिक संपत्ति नहीं थी। वह किसी कॉलेज या युनिवर्सिटी में नहीं गया ; उसकी कोई सेना नहीं थी ; उसने कोई पुस्तक नहीं रची, बल्कि वह 'बालू पर लिखता' रहा। और ऐसे अज्ञात कुलशील साधारण मनुष्य का जन्मदिन सारी दुनिया में आज मनाया जाता है ; और मृत्यु के चिह्न तो सारे देशों में बिखरे पड़े हैं। ऐसा ईसामसीह कौन था ?

जब उसके जीवनचरित के विषय में निश्चित जानकारी हासिल करने की हम कोशिश करते हैं, तब और भी निराशा हाथ लगती है। ईसामसीह की हजारों-लाखों मूर्त्तियाँ और चित्र होने पर भी वे प्रत्यक्ष कैसे दिखते होंगे, इसका कोई वर्णन नहीं मिलता या उस समय की शबीह भी मौजूद नहीं है। कार्लाइल ने तो यहाँ तक कहा कि "मैं गरीब आदमी हूँ, पर मैं अपनी सारी संपत्ति का एक-तिहाई अंश उस आदमी को देने को तैयार हूँ, जो ईसामसीह का सही-सही शारीरिक वर्णन सप्रमाण दे सके। वह ऊँचाई में कितने थे, उनके नाक-नक्स कैसे थे, उनके बालों और आँखों का रंग कैसा था— कोई नहीं जानता। चित्रकारों और शिल्पकारों ने मुक्त भाव से, अपनी कल्पना से काम लिया है। कहीं ईसा का चित्र बच्चों और मेमनों से घिरा करुणामय, सौम्य, विनम्र संत की तरह है, तो कहीं ईसा गिरजाघर से पसों को अदलने-बदलने वाले व्यापारियों को चाबुक लेकर बाहर भगाने वाले संतप्त युवक की तरह दिखाए गए हैं, जिनकी लाल दाढ़ी है और जो फिलस्तीन की पहाड़ियों पर से आकाश में जा रहे हैं (शगाल का चित्र)। कहीं वह बहुत लंबे हैं (एल ग्रेको के चित्र) तो कहीं वह भारतीय साधुओं की तरह भगवा पहने हैं (जामिनी राय या अंजेला त्रिनिदाद के चित्र)। बाबाराव सावरकर ने मराठी-पुस्तक में उन्हें जनेऊ पहने हुए बताया है। 'उग्र' ने 'महात्मा ईसा' नाटक में उन्हें भारत में विचरण करते हुए दिखाया है।

शारीरिक रूप-रंग की बात छोड़ भी दें, तो उनके जीवन के संबंध में तथ्य भी बहुत थोड़े मिलते हैं। यहाँ तक कि बीसवीं सदी के आरंभ में यूरोप में एक संप्रदाय ऐसे लोगों का मिलता है, जो ईसामसीह नामक कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था ही नहीं, ऐसा मानते थे। पर, उनके तर्क विशेष अर्थ नहीं

रखते थे। फिलिस्तीन में राजा हेरोद के राज्यकाल में, शायद ईसापूर्व में उसका जन्म हुआ, इतनी बात सच है। वह नाज़ारेथ में पले-बढ़े, जैसे कि उस समय यहूदी अक्सर पलते-बढ़ते थे। जॉन ने उसे बपतिस्मा दिया। जॉन उस समय उस प्रदेश को जागरित करनेवाले त्यागी धर्म-प्रचारक थे। तीस वर्ष की आयु से पहले ही गैलिली में येशू ने अपने उपदेश दिये और रोगियों को अच्छा किया, आर्त्त-सेवा की। कालान्तर में उसके साथी उसके विरोधी हो गये। रोमवाले उसे संदेह से देखने लगे। अंत में येरूशलम में उसे सूली पर चढ़ाया गया। बस, इतनी ही घटनाएँ येशू मसीह के बारे में ऐसी हैं, जिनपर उनके सब शिष्य एक मत रखते हैं, परंतु उनके जीवन की इन थोड़ी-सी घटना-मात्र से उनकी महत्ता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

उनके शिष्यों द्वारा जो वर्णन 'नये करार' (न्यू टेस्टामेंट) में दिये गये हैं, उनसे पता चलता है कि येशू मसीह का व्यक्तित्व कितना चैतन्यमय था। वह सचमुच विलक्षण पुरुष थे। प्रथम शती के फिलस्तीन द्वारा वे निर्मित थे, पर उस समय की देशकाल-परिस्थिति का वर्णन उनका पूरा व्यक्तित्त्व या महत्त्व चित्रित नहीं कर सकता। जो उनके निकटतम थे, वे उन्हें देवता मानने लगे। ईश्वर द्वारा प्रेषित दूत या मसीहा मानने लगे। इसे समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि येशू मसीह ने क्या किया, क्या कहा, वे क्या थे।

ईसाई धर्म-ग्रंथों में ईसा द्वारा किये गये अनेक चमत्कारों का वर्णन है। अंधे को आँखें दीं, पंगु चलने लगे, कोढ़ी अच्छे हो गए। परन्तु, ईसा को एक जादूगर या बाजीगर, एक वैद्य या चमत्कारी पुरुष मानना काफी नहीं है। ईसा कहीं भी जनता पर अपने-आपको हावी नहीं होने देते। वे यह नहीं कहते कि मैं चकित करने के लिए या लोगों को जादू से जीतने के लिए आया हूँ। बल्कि ईसा के संबंध में यह जो कहानी है कि शैतान उन्हें ललचाने के लिए आया (जैसे बुद्ध को मार ने घेरा था), फिर भी ईसा अप्रभावित रहे, इस कथा के मूल में यही भावना है कि ईसा कोई सहज उपाय नहीं चाहते थे। वे यों ही जनसाधारण पर हावी हो जाना नहीं चाहते थे—किसी प्रकार की यक्ष-शक्ति के सहारे। दूसरी बात यह है कि ईसा ने सारे चमत्कार चुपचाप किये। उन्होंने मजमा इकट्ठा नहीं किया। अपनी रोगमुक्त करने की शक्ति का ढिंढोरा नहीं पीटा। और, उस समय के अन्य वर्णनों में भी

तत्कालीन सहज-विश्वासी जनता की चमत्कारों में आस्था बड़ी मात्रा में प्रकट होती है। हम चाहें इन चमत्कारों में विश्वास न करते हों, उस समय की जनता अवश्य विश्वास करती थी। किसी ने ईसा के बारे में यह बात कही, जो बहुत सच थी कि उन्होंने 'सबका भला किया'। इसी का परिणाम यह हुआ कि उन्हें मृत्यु भी सहनी पड़ी।

ईसा सहज भाव से समाज के सबसे निचले स्तर में—वेश्याओं और कर वसूलने वालों तक में घूमते थे। वे निराश जनता को आशा की किरणें बाँटते थे, उनके संकटों में सलाह देते थे। वे इस एकाग्रता और प्रभावशाली ढंग से यह कार्य करते थे कि धीरे-धीरे जनता में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि यदि ईश्वर परम और शुद्ध शिव है, अच्छाई का प्रतीक है, तो ईसा मानों उसीका मानवी रूप है।

वैसे एक दृष्टि यह भी है कि ईसा ने नया कुछ नहीं कहा। जो कुछ उन्होंने कहा, पहले से यहूदी ग्रंथों में, टॅलयुड में था। परंतु, जिस ढंग से और जिस हार्दिकता से उन्होंने वे बातें कहीं, वे बेमिसाल थीं। येशू मसीह की भाषा अपने-आपमें एक सरलता, समग्रता और सोद्देश्यता का उदाहरण थी। उनकी बातों में एक संतुलन था, एक निर्णायकता थी, एक प्रकार की भव्यता थी। उनके द्वारा प्रयुक्त दृष्टांत अचूक थे। 'एक ईंट सूई की नोक से चला जा सकता है, पर अमीर आदमी स्वर्ग के द्वार से नहीं जा सकता।' 'लोग अपने पेय से छोटे-छोटे कीड़े छानते हैं, जबकि उनके हलक से ईंट उतर जाते हैं।' 'अपनी आँख में का लट्ठा नहीं दिखाई देता, दूसरे की आँख का तिनका भी भारी लगता है।' 'कुछ लोगों का बाहरी जीवन बड़े-बड़े मकबरों की तरह भव्य दिखाई देता है, पर भीतर उनके प्राण सड़े हुए प्रेत की तरह दुर्गंध देते हैं।' यह सब वाक्य केवल अलंकारपूर्ण भाषा का प्रयोग नहीं, बोलने-वाले के मन की उत्कटता और शीघ्र सुधार की तीव्र भावना के प्रतीक हैं।

ईसा ने जो कुछ भी कहा, जो 'नये करार' में लिखा गया है, वह दो घंटे में बोला जा सकता है। फिर भी उनके सूत्र सारे विश्व में दुहराये जाते रहे हैं—'अपने पड़ोसी से अपनी ही भाँति प्रेम करो'; 'जो तुम चाहते हो कि और लोग तुम्हारे साथ करें, वैसा ही तुम औरों के साथ करो'; 'तुम सत्य जानोगे और सत्य तुम्हें मुक्त करेगा।' ईसा के वचनों में अधिकतर घरेलू उदाहरण हैं, कहानियाँ हैं, हर आदमी की सहज समझ में आनेवाली

दैनंदिन जीवन की बातें हैं। ईसा की बातों में उस समय के आत्मविश्वासों के विपरीत, उनके मतों को झकझोरनेवाली कई बातें थीं। उस सब 'आंख के बदले आँख', 'दाँत के बदले दांत' के रूप में बदला लेने की बात आम थी। हिंसा जनसाधारण का रवैया था। ऐसे समय ईसा ने अहिंसा की बात उठाई। कहा कि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मारे, तो दूसरा उसे दो। कोई तुमसे एक कमीज माँगे, तो उसे और कपड़े भी दो। पापी से घृणा मत करो, पाप से करो। सूर्य न्यायी-अन्यायी पर एक-सा उगता है। लोगों के लिए ये बातें नई थी। दुनिया पैसे को पूजती थी, सुरक्षा को पूजती थी। ईसा ने उस समय की दुनियावालों के मूल्यों में मूल्यांतरीकरण पैदा कर दिया। ईसा मसीह के वचनों में एक प्रकार की स्वतंत्रता और मुक्ति-प्रेम था, जिसने दुनिया में दहशत पैदा कर दी। एच० जी० वेल्स लिखते हैं कि या तो वह आदमी पागल था, या दुनिया उसे समझने के लिए तैयार नहीं थी। ईसा ने संक्षेप में दो बातों पर जोर दिया :

१. ईश्वर का मनुष्य पर अत्यधिक प्रेम है।

२. यह प्रेम मनुष्य को ग्रहण करने के लिए सन्नद्ध होना चाहिए। यह प्रेम उसे अपने पड़ोसी में बाँटना चाहिए।

येशू यहूदी धर्म में से निर्मित हुआ, अतः ईश्वर की अनंत दया-ममता में उसका विश्वास स्वाभाविक था। ईसा का और लोगों से अंतर इस बात में था कि इस ईश्वर के रूप को उसने अधिक गंभीरता से और प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करना चाहा। ईश्वर उस गड़रिये की तरह था, जो निन्यानवे भेंड़ चाहे चली जाए, पर एक भेड़ को गलत रास्ते पर नहीं जाने देगा। इसलिए, ईसा ने ईश्वर के प्रत्येक मानव के प्रति अनंत प्रेम को सिद्ध करने में अपना जीवन लगा दिया। चूँकि ईश्वर मनुष्य पर निरपेक्ष और अनन्य प्रेम व्यक्त करता है, इसलिए मानव को भी वही रास्ता अपनाना होगा। यदि कोई दो कदम साथ चलने को कहे, तो मनुष्य को उसके साथ एक मील तक जाना होगा। "क्योंकि तुम्हें अपने स्वर्ग के परम-पिता के पुत्र की तरह होना होगा। वह सभी लोगों को एक-सी वर्षा देता है, चाहे वे बुरे हों या अच्छे. . . . इसलिए तुम्हें संपूर्ण होना होगा, जैसे तुम्हारा स्वर्गीय पिता संपूर्ण है।" (मैथ्यू : ५ : ४४.४५, ४८) जैसे परमपिता सबके प्रति समभाव रखता है, मनुष्य को भी संपूर्ण रूप से समर्पित और सेवाभावी होना चाहिए।

ईसा की श्रेष्ठता इसमें है कि जैसा उसने कहा, वैसा ही किया। उसकी कथनी और करनी में पूरा मतैक्य था। उसका सारा जीवन विनम्रता का एक वस्तुपाठ है। कहीं भी ईसा अपने बारे में कुछ नहीं कहता। वह सदा ईश्वर की इच्छा की बात करता है। वह कहता है कि 'लोगों से ईश्वर क्या चाहता है'। ईसा को अहंकार कहीं छू भी नहीं गया था। सत्य उसके लिए साँस लेने के लिए जरूरी खुली हवा की तरह था और मिथ्या एक कब्र की तरह दमघोंट जीवन-विरोधी वस्तु।

ईसा कहीं भी संपूर्णता का दावा नहीं करता। वह जानता है कि जीवन-धारण की सीमाएँ क्या हैं। वह अपनी सीमा भी जानता है। वह जनता से प्रेम करता है। जनता उससे प्रेम करती है। गैलिली समुद्र के किनारे वह खड़ा है। लोग उसे प्रेम से घेर लेते हैं—यहाँ तक कि उसे नाव में जाकर खड़ा होना पड़ता है। उसके पीछे लोग चलने लगते हैं, इस तरह उसकी बातों में मगन हो जाते हैं कि भूख-प्यास भूल जाते हैं। ईसा के प्रति उनका प्रेम इतना अथाह इसलिए है कि स्वयं ईसा उस प्रेम को पहले बाँटता है। उसके लिए सब समान हैं: अमीर हों या गरीब, वृद्ध हों या नौजवान, पापी हों या संत। मेरी माग्दालिन के शरीर से प्रेम करनेवाले अनेक थे, चूँकि वह वेश्या थी, पर उसकी आत्मा को अन्य व्यक्तियों के समान माननेवाला एक ईसा ही था। इससे मेरी के जीवन में कितना परिवर्त्तन घटित हुआ। ईसा बच्चों से प्रेम करते थे। उनके साथ अन्याय सह नहीं सकते थे। वे ढोंग के खिलाफ थे। उसके कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच में दीवार खड़ी होती है। उनकी शहादत के बाद सारे लोग यह अच्छी तरह जान गये कि ईसा कैसे निरभिमान थे और उनका जीवन ईश्वरार्पित था। वे उसे ईश्वर का मानव-रूप मानने लगे। 'हमने उसे देखा, मानों वह ईश्वर का एकमात्र पुत्र हो, दया और सत्य से परिपूर्ण।'

ईसा का प्रभाव इतना व्यापक और चिर-कालिक कैसे हुआ? इतिहास में योजनाएँ बनानेवाले कम नहीं हुए, स्वप्नदर्शी कम नहीं हुए। उनके साथ उनके आदर्श सपने भी मर गये। पर, ईसा की मृत्यु मानों उनके मत के प्रचार का आरंभ-बिंदु था। उनके शिष्य उनके विचारों का प्रचार-प्रसार अधिक जोरों से करने लगे। 'न्यू-टेस्टामेंट' में ऐसा वर्णन है कि ईसा के सलीब पर कीलें ठोककर मरने के लिए छोड़ दिये जाने के तीसरे दिन मेरी वहाँ गई, तो उसने देखा कि कब्र पर का पत्थर हटा दिया गया है और कब्र खाली है। इसके बाद

उसे और अन्य अनुयायियों को ईसा के दर्शन कभी-कभी होते रहे। इस बात में ईसा मसीह के मानने वाले विश्वास करने लगे। भूमव्यसागर-क्षेत्र में यह बात फैल गई कि ईसा मृत्यु के बाद जाग गया है—पुनर्जागरित हुआ है। ईसा का संदेश 'अपने पड़ोसी से प्रेम करो !' इतना नहीं फैला, जितना इस चमत्कार का समाचार। सब यह मानने लगे कि येशु मसीह की तरह उसके अनुयायी भी मृत्यु और पाप पर विजय प्राप्त करेंगे। आरंभिक ईसा-मतानुयायी अक्षरशः मानते थे कि मृत ईसा का शव जीवित हो उठा है। इससे पहले भी मृतकों के, दुनिया में सजीव वापस आने की कहानियाँ प्रचलित हुई थीं। परंतु उन कहानियों से इतना बड़ा प्रभाव मानव-जाति पर नहीं पड़ा था। पहले के लोग ऐसी बातों को जादूई या प्राकृतिक चमत्कार कहकर टाल जाते। परंतु, येशू मसीह की इस कथा में केवल येशू का ही पुनर्जन्म नहीं हुआ, पूरे ईसाई-मत का पुनर्जन्म घटित हुआ। उसके शिष्य ईसा को संपूर्ण सत्य और अच्छाई का प्रतीक मानने लगे थे। अब इस कथा से उसकी मृत्युंजय शक्ति का भी साक्षात्कार हुआ। यदि गलगोथा पर क्रॉस या सलीब ही अंत होता, तो लोग उसे एक शोकांत कहानी मानकर रह जाते। सुकरात ने भी जहर का प्याला पिया था और कई संत-महात्माओं ने अपने सिद्धांतों के लिए जीवन की बाजी लगा दी थी, सर्वोच्च बलिदान दिया था। यदि केवल अच्छाई की बात करनी हो, तो इतिहास में अनंत उदाहरण उसके हैं—पर उनका प्रभाव समस्त मानव-जीवन पर कितना पड़ता है ? यहाँ ईसा को कहानी में सत्य की विजय, शक्ति और सामर्थ्य का प्रत्यय जनसाधारण ने अनुभव किया। सत्य मृत्यु पर भी जय प्राप्त करता है, वह कालजयी होता है। सावित्री और यम की कहानी का यह नया रूप था। यहाँ सत्यवान् मृत्यु के मुँह में जाने पर लौट आया था।

इस सबका संबंध ईश्वर-संबंधी आस्था से है। ईसा के जीवन के अनुयायी जन ईश्वर की अच्छाई और प्रेम-भावना पर अधिक निष्ठा रखने लगे। पर, ईसा की मृत्यु के बाद उनकी निष्ठा ईश्वर की शक्ति पर बढ़ गई। ईश्वर की इच्छा के रास्ते में मनुष्य की क्रूरता (सूली पर चढ़ाना) कुछ नहीं कर सकती, उसी प्रकार से मृत्यु भी उसमें बाधक नहीं हो सकती। अंततः, सारी शक्ति और शिवता (अच्छाई) उसी परम ईश्वर की है। यदि शिष्य केवल ईसा के उपदेश और जीवन की कहानी ही सुनते, तो ईश्वर-संबंधी उनकी

धारणा भी वही होती, जो और लोगों में पाई जाती थी। ईश्वर किसी की परवाह नहीं करता, या ईश्वर का कोई प्रभाव नहीं है। पर, इस अंतिम बलिदान के बाद येशू मसीह के अनुयायी न केवल उसे ईश्वर का एकमात्र श्रेष्ठ पुत्र मानने लगे, अपितु ईश्वर की अथाह करुणा और सर्वशक्तिसत्ता पर उनका विश्वास और बढ़ गया। येशु मसीह के अनुयायियों में एक आत्मविश्वास जाग पड़ा : यदि उनके स्वामी पर ईश्वर का इतना असीम अनुग्रह है, तो उनके हर काम के पीछे भी ईश्वर का पूरा बल है।

प्राय: सभी ईसाई ईसा के शारीरिक पुनर्जागरण में विश्वास करते हैं। जो नहीं भी करते हैं, वे उस कथा को प्रतीकात्मक मानते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि वाले ईसाई मृत्यु के बाद शरीर का पुनर्जागरण असंभव मानते हैं। पर वे भी, ईश्वर की असीम शक्ति से कुछ भी अघटित घटित हो सकता है, ऐसा मानते हैं। इसलिए, क्रिसमस का सप्ताह और ईस्टर तक का समय वे अत्यंत पवित्र मानते हैं। ईसा की अलौकिकता में उनका भी विश्वास होता ही है।

ईसा की मृत्यु के बाद उसके बारह शिष्यों ने उस बदनाम और दंडित प्रेषित पुत्र का संदेश सारी दुनिया में फैलाया। जो मूक और शब्दहीन थे, वे मुखर हो गये। वे सारी यूनानी रोमन दुनिया में उस पवित्र शब्द (गास्पेल) को लेकर गये, उसे उन्होंने 'सु-समाचार' कहा। येरुशलम के एक ऊपर के कमरे से शुरू हुई इस धर्म-धारा ने एक पीढ़ी के भीतर उस समय के सारे नगरों को आप्लावित कर दिया। ईसा-पूर्व और ईसा के बाद एक नयी कालगणना आरंभ हो गई। क्या ईसा के उपदेशों में कोई ऐसी मौलिक विचारधारा थी? सुवर्ण-नियम, गिरि-प्रवचन आदि में वैसा कोई नया नैतिक पाठ नहीं है, जो पहले से नहीं मिलता। पॉल के पत्र आरंभिक साक्ष्य हैं। उनमें कोई ऐसी बात नहीं लिखी गई।

असल में ईसा-मत के प्रचार में प्रतीकों ने बड़ा काम किया। भूमध्य-सागर के पूर्व में उन दिनों के मकानों और दीवारों पर मछली के चित्र बहुत मिलते हैं। ये मछलियाँ बहुत स्पष्ट नहीं हैं। समुद्र-किनारे के गाँव थे, बंदरगाह थे, तो उसमें योंही लोगों ने मछली के आकार बना दिये होंगे। पर, यदि ईसा के माननेवाले हम हों, तो इन मछलियों को सुसमाचार के प्रतीक मानेंगे। इनके सिर उस स्थान की ओर होते थे, जहाँ ईसाई लोग भूमिगत रूप से, गुप्त रूप से मिलते थे। वे 'कैटे कौम्ब' और 'अरीना' के दिन थे। यदि किसी क्रूर

राजा को पता चलता कि आप ईसाई हैं, तो आपको जिंदा भूखे शेरों के आगे फेंक दिया जाता, या आप पर कपड़ा लपेटकर जिंदा मशाल की तरह काम में लाया जाता। मछली के लिए जो यूनानी शब्द है, उसके प्रथमाक्षर 'जीसस क्राइस्ट, सन ऑव गॉड, सेवियर' (येशू मसीह, ईश्वर-पुत्र, उद्धारक) के भी प्रथमाक्षर थे। यह था वह 'सु-समाचार!'

आज तो ये शब्द हर रविवार को हर गिरजाघर में सामान्य रूढ़ि-मात्र हो गए हैं। पर, प्रारंभिक ईसानुयायियों के लिए ये बहुत मानी रखते थे। वहाँ के जन-साधारण जब यह 'सु-समाचार' सुनते कि ईसा जाग गया है और वह फिर दुनिया में आ गया है, तब उन लोगों के चेहरों पर सुकून और शांति, आनंद और सरलता छा जाती। वे जीवन को सफल और संतुष्ट मानने लगते। उन लोगों में परस्पर प्रेम और सद्भावना बढ़ जाती। ये लोग सबको ईश्वर की दृष्टि में समान मानते। जो नस्ल, रंग और सामाजिक स्तर के भेद थे, वे मिट-से गए थे। ईसा की दृष्टि में 'न कोई यहूदी है, न गैर-यहूदी, न कोई यूनानी है, न जंगली, न कोई गुलाम है, न आजाद।' यह प्रार्थना के शब्द उन्हें जीवन में सचाई के, समता के प्रतीक लगे।

सूली पर चढ़ाए जाने से पहले ईसा ने अपने शिष्यों से कहा था: 'मैं अपना आनंद तुम्हारे साथ छोड़े जाता हूँ।' यह आनंद आरंभिक ईसाइयों में मिलता है। उन पर अत्याचार करनेवाले लोगों की समझ में यह नहीं आता था कि इन मुट्ठी-भर लोगों में, जिनके पास कोई सत्ता या संपत्ति नहीं, ऐसा आनंद क्यों है? इनके भीतर से कैसी दैवी शांति इन्हें व्यापे हुए है। संत पॉल ने लिखा है कि पवित्र आत्मा का प्रभाव एक नशे की तरह है। वे सचमुच आलोक-पूर्ण हो उठे थे। पॉल स्वयं नगर-नगर भटकता, डूबे हुए जहाज से बचा, बंदी बनाया गया, जिसकी पीठ पर कोड़ों के निशान थे। इतना दंडित, होने पर भी उसके शब्द यही थे—'अनिर्वचनीय आनंद और वैभव से हम भरे हैं!' 'सब चीजों में हम विजेताओं से भी बड़े हैं।' 'ईश्वर अँधेरे में प्रकाश देता है। हमारे हृदयों को प्रकाशित करता है।' एफेसियन्स के पाँचवें अध्याय में लिखा है कि ईसा के अनुयायी आनंदोन्माद से गाते थे। ईसा के अनुयायी निर्भय हो गए। मृत्यु का दंश उनके लिए अर्थशून्य हो गया। दूसरी सबसे बड़ी मुक्ति न केवल भय से, पर अपराध-भावना से हो गई। आधुनिक मानव अपराध-भावना से पीड़ित है। प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने ढंग से अच्छे-

बुरे के बीच अंतर करना चाहता है। वह भविष्य के जीवन के विषय में अपनी धारणा बनाता है और जब वह पूरी नहीं होती, तब निराशा से पीड़ित होता है। उसीमें से अपनी कमजोरी की अपराध-भावना उसमें जागती है। संत पॉल ने लिखा, 'मैं एक शापित मनुष्य हूँ। दुखियारा हूँ। मुझे इस मृत्यु के शिकंजे से कौन मुक्त करेगा ?'

तीसरी चीज, जिससे ईसाई-धर्म ने अपने अनुयायियों को मुक्ति दी, वह अहंकार थी। ईसा के आविर्भाव से पहले लोग अपनी-अपनी अहंता से जर्जर थे। इस धर्म ने आकर उनमें प्रेम का प्रचार किया। प्रेम में ही त्याग, बलिदान और आत्मार्पण की भावना है। प्रेम और अहंकार साथ-साथ नहीं जा सकते। एक आधुनिक कवि ने कहा है, "मनुष्य प्रेम करने के लिए अभिशप्त है। वह कभी-कभी अच्छी तरह प्रेम करता है, पर कभी तृप्त नहीं हो पाता। उसे न पर्याप्त प्रेम मिलता है, न वह पर्याप्त प्रेम कर पाता है।"

इस प्रकार से भय, अपराध-भावना और अहंकार से मुक्ति ने इस धर्म के अनुयायियों में नवजीवन संचारित किया। इस सदी में आकर हमने देखा कि अणु के भीतर इतनी बड़ी शक्ति आबद्ध है, जो 'दिवि सूर्यसहस्रस्य...' है। इसी प्रकार, प्रत्येक मानव के भीतर प्रेम और आनंद की ईश्वरीय शक्ति छिपी हुई है। परंतु, यह शक्ति बाह्य दबाव, बाह्य बमबारी से ही मुक्त हो पाती है। माता-पिता के प्रेम से बच्चा जो काम कर गुजरता है, वह बाह्य प्रलोभनों या दंड-भय से नहीं कर पाता। मानसिक चिकित्सा में अब प्रेम का महत्त्व बहुत बड़ा माना जाता है। इस प्रकार का विशेष प्रेम जब स्वयं ईश्वर एक जाति या संप्रदाय में दिखाता है, तब कल्पना की जा सकती है कि आरंभिक मसीही मतावलंबियों में कितनी बड़ी शक्ति निर्मित हुई होगी। उनमें आत्मविश्वास किस प्रकार से शतगुणित हुआ होगा। कीर्किगार्द ने लिखा है : यदि प्रतिक्षण यह अनुभूति हो कि ईश्वर के प्रेम से मुझे कोई शक्ति जुदा नहीं कर सकती, तो मनुष्य का आनंद कितना अधिक होगा—उसे किसी भी आपदा का भय नहीं रहेगा।

'प्रथम कॉरिंथियन्स' के तेरहवें अध्याय में संत पॉल ने इस प्रेम की व्याख्या इन शब्दों में की है :

"प्रेम धैर्यवान् और दयालु है ; प्रेम मत्सर-भरा या डींग हाँकनेवाला नहीं है ; वह हठी या दुर्धर्ष नहीं है। प्रेम अपने ही रास्ते पर चलने के लिए

चाह्य नहीं करता। वह चिड़चिड़ा या क्रोधी नहीं है ; वह बुराई पर आनंद नहीं मनाता। वह अच्छाई से ही आनंदित होता है। वह सब कुछ सहन करता है। वह सब चीजों में विश्वास करता है, सब चीजों की आशा करता है। वह सब बातें चुपचाप पी जाता है। प्रेम कभी समाप्त नहीं होता···।" (१३ : ४—८)।

भूमध्यसागर के आसपास जब यह सु-समाचार फैलाया गया, तब वे आरंभिक धर्मप्रचारक अकेले नहीं थे। बाइबिल में लिखा है : "मेरे नाम पर जब दो या तीन लोग जुटते हैं, तब वहाँ मैं ही बसता हूँ।" उनके समकालीनों ने उन्हें एक तरह से बदनाम करने के लिए पुकारना शुरू किया 'क्राइस्टवाले' (क्रिस्ट=इअन=क्रिश्चन) या 'मसीही लोग'। 'चर्च' या गिरजा शब्द भी यूनानी शब्द 'इक्लेसिया' से आया, जिसका शब्दशः अर्थ है—'बाहर बुलाए गए या जो अलग से बुलाये जाएँ। इससे पता चलता है कि ईसा ने अपने बारे में जो कहा, वह चर्च के रूप में, सत्य रूप में, प्रकट हुआ—'मैं द्राक्षा, तुम शाखाएँ हो।' इस वचन का अर्थ था कि ईसा अपने धर्म-संघ और स्वयं अपने बीच में कैसा घनिष्ठ संबंध मानते थे। संत पॉल ने इसकी उपमा शरीर और उसके अंगों से दी है। जैसे दोनों का अंगांगी संबंध है, वैसे ही ईसा और चर्च का संबंध है। ईसा शीर्षस्थान पर है ; 'होली गोस्ट' आत्मा है, चर्च शरीर।

अमरीकन दार्शनिक थौरो से मृत्यु के समय पूछा गया—"आपने ईश्वर के साथ सुलह कर ली है ?" तो उसने उत्तर दिया—"उससे मेरी लड़ाई कब हुई थी ?" ईसाई धर्म ने मनुष्य के तीन रहस्य-प्रेमी स्थानों को उचित सम्मान दिया। प्रकृति में, ऐतिहासिक पुरुष या विभूति में और अपनी अन्तरात्मा में मनुष्य धार्मिक अनुभव ग्रहण करता है। इन तीनों को इस धर्म ने ईश्वर, ईसामसीह और 'पवित्र आत्मा' ये तीन संज्ञाएँ दीं। इन तीनों को ईसाई एक साथ, एक ही मानकर पूजते हैं।

ईसाई-मत ऐसा उलझा हुआ है कि उसके भीतर भी कई संप्रदाय हैं। सभी लोग ऊपर लिखी सब बातों पर एकमत नहीं हैं, जो वे सब अपने-आपको ईसाई ही कहते हैं। रोमन कैथोलिक मत रोम के वैटिकन में केंद्रित हुआ। उसके मुख्य धर्माध्यक्ष पोप हैं। वहीं से वह केंद्रीय और दक्षिण यूरोप, आयरलैंड तथा दक्षिण अमेरिका में फैला। प्रोटेस्टेंट पंथ मार्टिन लूथर के सुधारवाद

के बाद उत्तर यूरोप, जर्मनी, इंगलैंड, स्काटलैंड और उत्तर अमेरिका में फैला। तीसरा बड़ा संप्रदाय पूर्वीय प्राचीन पंथ है, जिसका प्रभाव यूनान और पूर्व के स्लाव देशों में, विशेषतः क्रांतिपूर्व रूस में रहा।

सन् ३१३ ईसवी तक ईसाई-मत रोमन अत्याचारों का शिकार बना रहा। उस वर्ष में उसे वैध मान्यता मिली और उसे साम्राज्य के अन्य धर्मों के साथ समान दर्जा दिया गया। सन् ३८० ई० में वह रोमन-साम्राज्य का सरकारी धर्म बन गया। नेस्टोरियन जैसे थोड़े उप-पंथियों को छोड़कर सन् १०५४ ई० तक वह बराबर एक धर्म बना रहा। इस वर्ष धर्म में पूर्व के प्राचीनतावादी और पश्चिम के रोमन कैथोलिकों में बड़ा विभेद निर्मित हुआ। सोलहवीं शती में प्रोटेस्टेंट धर्म का अलग संप्रदाय बना, जिसकी चार शाखाएँ हुईं—बैप्टिस्ट, लूथरन, कैल्विनिस्ट और अंग्लिकन। आज अकेले अमेरिका में ईसाई धर्म के २५० उपपंथ हैं।

रोमन कैथोलिक धर्म में चर्च सबसे बड़ा पढ़ानेवाला केंद्र है। इसके अनुसार ईश्वर ईसा के रूप में पृथ्वी पर जनसाधारण को मुक्ति का मार्ग 'सिखाने' के लिए आया। ईसा ने यह कार्य केवल अपनी पीढ़ी या अपने जीवनकाल तक सीमित नहीं रखा था। वह अपने कार्य को सतत बढ़ाये रखना चाहता था। कोई कहेगा—पढ़ाने के लिए बाइबिल तो है ही। यहीं पर बाइबिल के अर्थ और टीका का प्रश्न उठता है। माना कि किसी देश का संविधान पुस्तकबद्ध होता है। पर, उसका सही अर्थ बताने के लिए सुप्रीम कोर्ट (मुख्य न्यायालय) भी तो होता ही है। अतः, रोमन कैथोलिक चर्च ही उस एकमात्र धर्म-ग्रंथ का सही अर्थ बतानेवाली संस्था है।

उदाहरण के लिए, विवाह-विच्छेद नैतिक है या नहीं? ऐसे विषय में एक ही मत होना चाहिए। मार्क (१० : ११) में लिखा है, "जो कोई अपनी पत्नी को एक तरफ कर देगा और दूसरी से विवाह करेगा, वह उसके विरोध में व्यभिचार करेगा।" लूक (१६ : १८) भी यही कहता है। मैथ्यू (५ : ३०) उसमें एक और वाक्य या शर्त जोड़ता है—"व्यभिचार करेगा, यदि वह दूसरी स्त्री के साथ संभोग करे।" कहीं मैथ्यू के वचन बाद में किसीने उलट-पुलट तो नहीं दिये? बेचारा सचमुच पीड़ित व्यक्ति क्या करे? ऐसे कई प्रश्न बाइबिल से उठते थे : ईसा का जन्म कुमारी से हुआ या नहीं? उसका शरीर मृत्यु के बाद उठा या नहीं? जो पश्चात्ताप नहीं करते, वे पापी नरक में दंडित

होते हैं या नहीं ? इसलिए, रोमन कैथोलिक पंथ ने कहा कि चर्च पृथ्वी पर सच्चा प्रतिनिधि है। वह जो कहेगा, वही सच्चा अर्थ होगा। यानी, पोप महाशय कभी गलती नहीं कर सकते। पोप संटपीटर का वंशज है, जिसे ईसा ने स्वयं चर्च की चाभी दी थी। यानी पोप जब भी कुछ कहे, तब ईश्वर उन्हें गलती से बचाता रहता है। उनका वाक्य परम प्रमाण है। आप्त वाक्य है। वह धार्मिक मामलों में जो निर्णय दें, वह अंतिम, ईश्वर द्वारा दिया गया निर्णय है।

कैथोलिक चर्च का प्रमुख पवित्र अनुबंध है 'मास' नामक विधि। उसे 'होली यूखेरिस्ट', 'होली कम्युनियन' या 'लॉर्ड्स सपर' भी कहते हैं। मास शब्द लातीनी 'मिसा' से आया है, जिसका अर्थ है 'भेजना'। इस विधि में ईसा के अंतिम रात्रि-भोजन का पुनः नाटकीय रूप से अभिनय किया जाता है। उसने रोटी और शराब दिखाकर अपने शिष्यों से कहा था—"यह मेरा शरीर है, जिसके टुकड़े हम बाँट रहे हैं। यह मेरा रक्त है, जो तुम्हारे लिए दिया गया है।" अब कैथोलिक लोग इन शब्दों को सांकेतिक या प्रतीकात्मक नहीं मानते, बल्कि प्रत्यक्ष सत्य समझते हैं। इसी कारण से इस 'मास' या प्रार्थना-विधि में सामूहिक रूप से रोटी और शराब का सेवन कराया जाता है। और, उस समय भगवान् ईसा स्वयं उपस्थित हैं, ऐसा अनुयायी मानते हैं।

पूर्वी प्राचीनतावादी चर्च के अनुयायी दुनिया में करीब बीस करोड़ हैं। वे सन् १०५४ ई० में एक-दूसरे पर टूटने का कारण बनाने का आरोप लगाकर रोमन कैथोलिकों से अलग हो गए। इसमें अलबानिया, बलगारिया, जार्जिया, ग्रीस, पोलैंड, रूमानिया, रूस, सर्बिया और सिनाई के गिरजाघर आते हैं। यह पंथ रोमन कैथोलिकों के समान ही है। एक छोटा-सा भेद है। 'मास' में रोमन कैथोलिक 'कप' (शराब का जाम) अपने पास रखते हैं, यहाँ अनुयायियों में वह रोटी के साथ-साथ घुमाया जाता है। दूसरा भेद यह है कि रोमन कैथोलिक धर्म में पोप का माहात्म्य है। पूर्वी प्राचीनतावादी ईसाई-मत पोप की आवश्यकता नहीं मानता। बल्कि उसके बदले एक्यूमेनिकल काउंसिल (बिशपों की परिषद्) को धर्म का जमीर मानता है। रोमन कैथोलिक मत की अपेक्षा पूर्वी प्राचीनतावादी चर्च को अधिक महत्त्व देते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की नियति चर्च से बँधी है। इतना ही नहीं, सारी प्रकृति और इतिहास की गति व्यक्ति की

धार्मिकता पर निर्भर है। इस कारण से पूर्वी प्राचीनतावादी ईसाई-मत में रहस्यवाद अधिक मात्रा में है।

पूर्वी प्राचीनतावादी ईसाई-मत एक दृष्टि से रोमन कैथोलिक अनुशासन (जहाँ भिक्षु-भिक्षुणियाँ आजीवन ब्रह्मचारी रहने पर बाध्य हैं) और प्रोटेस्टेंट स्वतंत्रता के बीच में कहीं है। इस पंथ में पादरी विवाह कर सकते हैं। उनका चुनाव सामान्य जनता करती है, कोई पोप उन्हें निर्वाचित नहीं करता।

प्रोटेस्टेंट पंथ कैथोलिक मत से क्यों अलग हुआ, इसके अनेक कारण हैं: राजनैतिक, आर्थिक स्थिति, राष्ट्रीयतावाद, पुनर्जागरण का व्यक्तिवाद, गिरजाघर की संस्था में कई तरह की बुराइयों का घुस आना आदि। लूथर, कैल्विन, पिच्यानवे थीसीज, डायट ऑव वर्म्स, हेनरी अष्टम, ऑग्सबर्ग की संधि आदि ऐतिहासिक व्यक्ति और घटनाएँ तो थी हीं, पर यह मुख्यतः चर्चों का आंदोलन था।

प्रोटेस्टेंट पंथ में विश्वास या धार्मिक निष्ठा पूरे व्यक्तित्व की बात है। वह केवल भावना या बुद्धि का प्रश्न नहीं। उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का संश्लिष्ट प्रयोग होता है। विश्वास एक व्यक्तिगत वस्तु है। "प्रत्येक व्यक्ति को अपना विश्वास उसी तरह अर्जित करना पड़ता है, जैसे प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग मरना पड़ता है।"—लूथर का यह वचन महत्त्वपूर्ण है। लूथर यह मानता था कि ईश्वर-भक्ति पूरे मानवी अस्तित्व के द्वारा की जाती है। अतः, वह पोप द्वारा या किसी भी धर्माध्यक्ष द्वारा मुक्ति या स्वर्ग का प्रवेश-पत्र बेचे-खरीदे जाने के विरुद्ध था। केवल कुछ धार्मिक विधियों का पालन करना काफी नहीं है। विश्वास करनेवाले का संपूर्ण हृदय-परिवर्त्तन मुख्य बात है। सत्कर्म पर्याप्त नहीं हैं, सद्‌भक्ति उनके पीछे होनी चाहिए। जैसे प्रेम और वात्सल्य बच्चों के विकास में सहायक होता है, ईश्वर की दृष्टि में हम सब मानव बच्चे ही हैं। ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम ही हममें अच्छाई की प्रेरणा पैदा कर सकता है।

प्रोटेस्टेंट संप्रदाय मूर्त्तिपूजा-विरोधी है। मनुष्य की एकांत निष्ठा ईश्वर-तत्त्व में है, जो प्रकृति और इतिहास से परे है। ईश्वर प्रकृति नहीं है, केवल इतिहास नहीं है। ईश्वर असीम है—ये दोनों ससीम हैं। बार-बार मनुष्य यह गलती करता है कि वह ईश्वर के इस सर्वव्यापी अमूर्त्त तत्त्व को अपनी कल्पना से

बाँधने का यत्न करता है। इसलिए वह मूर्त्ति, प्रतिमा, ईश्वर के दूत आदि की पूजा करता है। प्रोटेस्टेंट पंथ यह सब नहीं मानता। धार्मिक विधियाँ, गिरजाघर की इमारत, बाइबिल पुस्तक आदि अच्छे आधार-मात्र हैं। वे ईश्वर नहीं हैं। ये सब ईश्वर और मानव के मिश्रण हैं। मानव अपूर्ण है। अतः, उसके द्वारा निर्मित ये सब चीजे भी अपूर्ण हैं। ये सब सापेक्ष हैं, अंतिम नहीं। इन्हें ईश्वर का स्थान लेने देना एक तरह से शैतान का काम करना है—वह भी तो ईश्वर का स्थान छीनकर स्वयं ईश्वर बनना चाहता था, इसलिए यह मानना कि पोप कभी गलती नहीं कर सकता, असत्य है। प्रोटेस्टेंट अपने धर्म में निरंतर आत्मालोचना और सुधार का स्थान मानते हैं। पुस्तक पूजा से क्या होता है, हृदय की शुद्धि आवश्यक है। ईश्वर का आदेश यह था—"तुम अपने सामने और कोई देवता न रखो!"

प्रोटेस्टेंट के दो अर्थ हैं: एक नकारात्मक, जो 'प्रोटेस्ट' या विरोध-निषेध करता है; दूसरा सकारात्मक जो प्रो-टेस्टेंट है, यानी जो साक्ष्य को मानता है, जीवन में ईश्वर का स्थान सर्वोपरि और निरंतर मानता है। यों प्रोटेस्टेंटों के लिए बाइबिल के वचन बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। वह वचन जीवित हैं। उन्हीं के द्वारा ईश्वर मनुष्य से संवाद करता है। ईसा ने स्वयं कहा था: "मुझे तुमसे कई चीजें कहनी हैं, पर उन्हें अभी तुम नहीं समझोगे। जब सत्य की आत्मा तुम जान लोगे, वही तुम्हें दिशा दिखाएगी।" (जॉन १६ : १२-१३) प्रोटेस्टेंटों के प्रमुख १२ आम्नाय हैं, जिनमें ८५ प्रतिशत लोग आ जाते हैं। कुछ आम्नाय देशों के अनुसार हैं। एक बार मार्टिन लूथर से पूछा गया कि "तुम्हें गिरजाघर से निकाल देंगे, तो तुम कहाँ रहोगे?" उसने उत्तर दिया—"आकाश के नीचे!" यही स्वतंत्रता प्रोटेस्टेंट पंथ को अन्य पंथों से अलग करती है।

ईश्वर के संबंध में ईसाई धर्म में निम्नांकित धारणाएँ हैं:

१. ईश्वर स्रष्टा है और उद्धारक है:

बाइबिल में और ईसाई धर्मेतिहास में ईश्वर इस संसार के स्रष्टा और उद्धारकर्त्ता है। ईश्वर अकेले स्रष्टा है। शेष सब सृष्टि है। स्रष्टा के नाते वह उद्धारक भी है। इन दो शब्दों का मसीही-मत में विशेष अर्थ है। स्रष्टा होने से ईश्वर देशकाल की सीमाओं से परे है। वह असीम है। संसार की अपनी कोई सत्ता या वजूद नहीं। वह केवल ईश्वर के बनाये और

टिकाये रखने के कारण हैं। यह संसार कब और कैसे निर्मित हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता। न तो बाइबिल में, न ईसाई धर्मेतिहास-ग्रंथों में इसके बारे में कोई निश्चित बात कही गई है। बाइबिल में पहले दो अध्यायों में जो सृष्टि-उत्पत्ति-कथा (जेनेसिस) दी गई है, उससे भी पूरा उत्तर उक्त प्रश्न का नहीं मिलता। वह सिर्फ कहती है कि आरंभ में ईश्वर ने संसार बनाया। यानी, ईसा के मतानुयायी संसार को, जैसा वह है, ज्यों का त्यों, ईश्वर-निर्मित मानते हैं। ईश्वर केवल निर्माता है।

इसके साथ ही ईसाई-मत यह भी कहता है कि ईश्वर इस संसार में बराबर काम करता रहता है। वह अनवरत, अविश्रांत भाव से कर्मरत है। वह भाग्य, संयोग, नवनिर्माण के आधार पर संसार को बनाता और सुधारता रहता है। यानी निर्माण की हुई वस्तु की रक्षा और विकास भी उसी के हाथों में है। ईश्वर ने केवल संसार बनाया ही नहीं, वह उसे बचाये रखता है, उसके विकास की दिशा देता है। इस प्रकार से ईश्वर इस संसार की नींव है। ईसाई व्यक्ति यह मानता है कि ईश्वर यदि अपना हाथ हटा ले, तो यह संसार रहेगा ही नहीं।

ईसाई मत दुनिया या संसार को किसी घड़ी या मशीन की तरह यंत्रवत् नहीं मानता—यानी संसार अपने निर्माता की पूर्वनिश्चित योजना के हिसाब से चल रहा हो, यह भी सही नहीं। इससे उलटे संसार चैतन्यमय है, गतिशील है। वह विकसनशील और प्रगतिशील है। ईश्वर की रचनात्मक प्रेरणा से भी संसार में विकास हो सकता है। मनुष्य को ईश्वर की इच्छा का पता संसार में प्रगति से संभव है।

ईसाई-मत यह भी मानता है कि ईश्वर की इच्छा संसार को चलाती है। इस संसार का सुनिश्चित उद्देश्य है। और, अंततः वह उसी ईश्वर-निर्मित आदर्श की ओर जा रहा है।

ईश्वर सृष्टि का निर्माता है, यह कहानी का सिर्फ एक पहलू है। दूसरा पहलू यह भी है कि वह सृष्टि का 'उद्धारकर्त्ता' है। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार अबाध गति से अपने उद्देश्य की ओर बढ़नेवाली चीज नहीं। उसके मार्ग में बाधाएँ भी हैं, बुराइयाँ हैं, पाप हैं, जिन्हें दूर किये बिना विकास संभव नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि संसार के सच्चे और अबाधित विकास के

लिए उन बुराइयों को मार्ग से दूर करने का कार्य भी सतत होते रहना चाहिए। ईश्वर सदा इन बुराइयों के नाश में व्यस्त रहता है।

अब यह बुराई दुनिया में है तो, पर वह ईश्वर की बनाई हुई नहीं है। कुछ ईसाई यह मानते हैं कि सृष्टि से पहले देवदूतों ने पाप किया। उनका पतन हुआ। जन्म से ही यह मूल बुराइयाँ मनुष्य के साथ, एक शाप की तरह लगी हुई हैं। यह भी कहा गया है कि मनुष्य ने ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह किया, उसके कारण बुराइयाँ जीवन में आई। यानी, ईश्वर मनुष्य का उद्धार उसकी अनास्था, विश्वास-शून्यता, ईश्वर के प्रति बगावत आदि बुराइयों से करता है।

ईश्वर सृष्टि का स्वामी है। वह उसे निरंतर बनाता रहता है। उसे बुराइयों से बचाता है। वह संसार की गति को उसकी अंतिम पूर्णता तक ले जाने का मार्ग दिखाता है।

२. ईश्वर स्वभाव से प्रेम-स्वरूप है :

स्रष्टा और उद्धारक के नाते ईश्वर प्रेम-स्वरूप है। यहाँ 'प्रेम' शब्द व्यापक अर्थ में है। ईश्वर सचराचर सृष्टि के सब अपने निर्मित प्राणियों के प्रति सदा साज-सभाल, भरण-पोषण, संरक्षण और चिंता-वहन करता है। वह इस बात का विचार नहीं करता कि ये प्राणी इस प्रेम के योग्य हैं या नहीं। वह कौओं-चिड़ियों को दाना चुगाता है, वह फूलों में रंग भरता है और सबसे बड़ी बात उसने यह की कि इस संसार के प्राणी उसी के मार्ग का अनुसरण करें, इस इरादे से उसने अपने एकमात्र बेटे जीसस को इस पृथ्वी पर भेजा।

यह प्रेममय भगवान् बाइबिल और ईसाई धर्मेतिहास में 'पिता' कहलाता है। वह सब प्राणियों का पिता है, विशेष रूप से मनुष्यों का। वह मनुष्य-मात्र का पोषण करता है, उन्हें जो वस्तुएँ आवश्यक हैं, देता है। ईश्वर का प्रेम इतना व्यापक और सीमातीत—भेदातीत है कि वह अच्छे-बुरे का अंतर नहीं देखता। ईश्वर सारे संसार का कर्त्ता ही नहीं, भर्त्ता भी है।

ईश्वर न केवल पिता है, वह पुत्र भी है। वह पवित्र आत्मा भी है। वह तीनों है : 'फादर, सन, स्पिरिट'। इस प्रकार से ईश्वर प्रेम की पूर्णता है। वह वस्तुमात्र की उत्पत्ति, स्थिति, लय और मुक्ति में उनके प्रति स्नेह-वर्षा

उपयोग करता रहता है। वह मनुष्यों की योजनाओं से परे है, इसीलिए वह संसार की सब प्रक्रियाओं का नियंत्रक है। वह सब चीजों का मार्गदर्शक है, अंतिम नियति है। क्योंकि, इसी प्रकार से वह संसार और मनुष्य-जाति के उद्देश्य पूरा करता है।

४. ईश्वर तीन में एक है :

ईश्वर एक है। संपूर्ण है। जो कुछ उसने बनाया वह, उसी में स्थित है। व्यक्तिशः, समूहशः सब कुछ वही है। ईसाई-मत का ईश्वर संख्या की दृष्टि से एक नहीं है। न वह एकाकी उस अर्थ में है कि उसका कोई साथी नहीं। वह सबको अपने-आप में समानेवाली इकाई है। यानी वह एकात्म है। तीन पवित्र परमतत्त्वों का सिद्धांत उसमें एकाकार हो गया है। इस प्रकार से ईसाइयों के लिए ईश्वर एक है और तीन भी है। वह सब चीजों में समाया है और सबसे ऊपर भी है। वह देश, काल और बाह्य सीमाओं से परे है। वह सर्व-विश्व का स्वामी है। वह स्वयंभू है और सबका निर्माता है। वह चिर-स्वतंत्र है, स्वयं-पूर्ण है। उसमें अनंत ज्ञान और सत् समाया हुआ है।

वह एक साथ पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा है। यानी, वह एक साथ सर्वांतर्यामी है और सबसे ऊपर और परे है। वह सबसे पहले है और सबसे बाद में भी है। वह तीनों मिलकर एक है, चूंकि तीनों में वही ईश्वर अपनी संपूर्णता में है और प्रत्येक में और प्रत्येक द्वारा जो घटित होता है, वह पूर्णता में उसी के कारण और उसीकी शक्ति से होना है। वही सबकी नींव और सबका शिखर है।

५. ईश्वर का अवतार, उसका पुत्र :

ईश्वर का पुत्र धरती पर आता है। उसे ईश्वर ने ही बनाया है। ईश्वर ने ही भेजा है। यहाँ अवतार ईश्वर का ही एक प्रमुख आदेश है। वह मानवी माता के उदर से धरती पर मनुष्य के रूप में जन्म लेता है। इस प्रकार, येशू मसीह ईश्वर का पुत्र और प्रेषित है।

येशू की माँ कुमारी थी। इसका तात्पर्य धर्म-ग्रंथों का अर्थ बतानेवाले दो तरह से बताते हैं। येशू मनुष्य था, मानवी माता से उसकी उत्पत्ति है। दूसरी दृष्टि से वह केवल मनुष्य नहीं था। अन्य मनुष्यों की तरह वह धरती पर नहीं आया। उसका जन्म अमानवी दैवी चमत्कार से संभव हुआ। ईश्वर ही येशू

करता है। यह प्रेममय ईश्वर अनंत कल्याणमय, मंगलमय, परमशिव (अच्छा) है। उसे किसी तरह की बुराई या पाप की छाया भी छू नहीं गई है।

इसी प्रेम के कारण ईश्वर ने यह सृष्टि निर्मित की। इसी प्रेम से वह उसका उद्धार करता है। उसे अंतिम मंजिल तक रास्ता दिखाता है। वह इस बात का कोई सोच-विचार किये बगैर कि कौन छोटा है, कौन बड़ा; कौन पापी है, कौन धर्मात्मा; बराबर सबका कल्याण करता रहता है। सबको बचाता रहता है। हर पीढ़ी के स्त्री-पुरुषों को प्रेरणा देता रहता है कि विश्वोद्धार के महत्कार्य में वे सब उसकी मदद करते रहें।

३. ईश्वर सर्वोपरि है, सर्वस्वामी है :

ईसाई-मत के अनुसार, इस सृष्टि और हर जीवित वस्तु का सर्वोच्च स्वामी ईश्वर है। ईश्वर स्वामी है, इसका अर्थ यह नहीं कि संसार में बुराई नही है। ईश्वर सर्वसत्तावान् है, पर संसार भी अपनी जगह है। संसार ईश्वर के विरुद्ध हो जाता है—ऐसी सृष्टि के निर्माण से ईश्वर अपनी सीमा स्वयं बनाता है और स्वीकार करता है। यानी, संसार में एक प्रकार की सीमित स्वायत्तता भी है। ईश्वर ने संसार को बनाया और उसे एक निश्चित घेरे में उसने स्वतंत्रता भी दी है। इसी सीमित घेरे में प्राणी-मात्र जीते हैं, मनुष्य भी अपनी योजनाएँ बनाता है, अपने अस्तित्व के लिए प्रयत्न करता है। इस सीमित क्षेत्र में मनुष्य ईश्वर का विरोध करता है, अपने साथियों की उपेक्षा करता है। यों, बुराई निर्मित होती रहती है। पर, ईश्वर सदा कार्य करता रहता है, और बुराई से मनुष्य का उद्धार करता जाता है।

जब ईसाई यह कहता है कि ईश्वर सर्वसाक्षी, सर्वस्वामी है, तो उसका अर्थ है कि सीमित क्षेत्र भी अंततः उसीके हाथों में है। वही अंततः सब बुराइयों पर विजय पाएगा। और इस प्रकार, वह विश्व का नित्य उद्धार करता रहेगा। ईश्वर मनुष्य के दैनंदिन जीवन में बाधा नहीं देता; न मनुष्य की बुराइयों को और न इतनी विविध प्रकार की परस्पर-विरोधी शक्तियों को वह रोकता रहता है, बल्कि वह उन सबको अपना-अपना कार्य करने देता है। वह चुप नहीं रहता। इन घटनाओं के प्रति वह उदासीन भी नहीं होता। परंतु, वह इन सब बातों का अंततः अपनी सृष्टि की परम मुक्ति के लिए

उपयोग करता रहता है। वह मनुष्यों की योजनाओं से परे है, इसीलिए वह संसार की सब प्रक्रियाओं का नियंत्रक है। वह सब चीजों का मार्गदर्शक है, अंतिम नियति है। क्योंकि, इसी प्रकार से वह संसार और मनुष्य-जाति के उद्देश्य पूरा करता है।

४. ईश्वर तीन में एक है :

ईश्वर एक है। संपूर्ण है। जो कुछ उसने बनाया वह, उसी में स्थित है। व्यक्तिशः, समूहशः सब कुछ वही है। ईसाई-मत का ईश्वर संख्या की दृष्टि से एक नहीं है। न वह एकाकी उस अर्थ में है कि उसका कोई साथी नहीं। वह सबको अपने-आप में समानेवाली इकाई है। यानी वह एकात्म है। तीन पवित्र परमतत्त्वों का सिद्धांत उसमें एकाकार हो गया है। इस प्रकार से ईसाइयों के लिए ईश्वर एक है और तीन भी है। वह सब चीजों में समाया है और सबसे ऊपर भी है। वह देश, काल और बाह्य सीमाओं से परे है। वह सर्व-विश्व का स्वामी है। वह स्वयंभू है और सबका निर्माता है। वह चिर-स्वतंत्र है, स्वयं-पूर्ण है। उसमें अनंत ज्ञान और सत् समाया हुआ है।

वह एक साथ पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा है। यानी, वह एक साथ सर्वातर्यामी है और सबसे ऊपर और परे है। वह सबसे पहले है और सबसे बाद में भी है। वह तीनों मिलकर एक है, चूंकि तीनों में वही ईश्वर अपनी संपूर्णता में है और प्रत्येक में और प्रत्येक द्वारा जो घटित होता है, वह पूर्णता में उसी के कारण और उसीकी शक्ति से होता है। वही सबकी नींव और सबका शिखर है।

५. ईश्वर का अवतार, उसका पुत्र :

ईश्वर का पुत्र धरती पर आता है। उसे ईश्वर ने ही बनाया है। ईश्वर ने ही भेजा है। यहाँ अवतार ईश्वर का ही एक प्रमुख आदेश है। वह मानवी माता के उदर से धरती पर मनुष्य के रूप में जन्म लेता है। इस प्रकार, येशू मसीह ईश्वर का पुत्र और प्रेषित है।

येशू की माँ कुमारी थी। इसका तात्पर्य धर्म-ग्रंथों का अर्थ बतानेवाले दो तरह से बताते हैं। येशू मनुष्य था, मानवी माता से उसकी उत्पत्ति है। दूसरी दृष्टि से वह केवल मनुष्य नहीं था। अन्य मनुष्यों की तरह वह धरती पर नहीं आया। उसका जन्म अमानवी दैवी चमत्कार से संभव हुआ। ईश्वर ही येशू के

रूप में पृथ्वी पर आया। ईश्वर जो देशातीत, कालातीत है, उसने अपने-आपको देश-काल से आबद्ध कर लिया। वह मनुष्य की तरह जिया, मनुष्यों के लिए जिया और सदा उसने ईश्वर से अपना संबंध कायम रखा। एक साथ उसने ईश्वर-सत्य की उपलब्धि और अपने साथी अन्य मानवों के प्रति उत्तरदायित्व को निबाहने का यत्न किया। ईश्वर और मनुष्य को उसने प्रेम के बंधन से एक सूत्र में बाँधा। इस प्रकार, उस समय के प्रचलित धर्म-पंथों और सामाजिक विश्वासों को उसने चुनौती दी। उस समय प्रचलित यहूदी मान्यताओं का उसे विरोध करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि येशू को मृत्यु-दंड दिया गया, जो उसने सहज स्वीकार किया। उसके मन में यहूदी जाति के प्रति कोई दुर्भावना या द्वेष या तिरस्कार नहीं था। उसकी मृत्यु ईसाइयों की दृष्टि में ईश्वर द्वारा बुराई के साथ नित्य संघर्ष का एक प्रतीक है। मनुष्य के नाते उसे वह सब सहना पड़ा, जो मानव-मात्र को सहना होता है। चूँकि येशू ने कोई पाप नहीं किया था, कोई बुराई नहीं की थी, अतः यह दंड एक प्रकार से एक भोले-भाले व्यक्ति को दंड था। सारे भोले और निष्पाप व्यक्ति इसी प्रकार संसार में दुख और पीड़ा सहते हैं—ईसा की कहानी उसीकी प्रतीक-कथा है। सारे दुःखियों का पाप उसने अपने ऊपर लिया।

ईसा की मृत्यु ही अंत नहीं है। उसका पुनर्जागरण देश और काल के बंधनों में ईश्वर-तत्त्व की विजय का चिह्न है। बुराई और पाप पर पुण्यात्मा की विजयगाथा है। इतिहास में ईसा का सूली पर चढ़ना बुराई के तात्कालिक और थोड़े समय के लिए विजय का प्रतीक है, तो ईश्वर तत्त्व के दुर्दम्य विजय का प्रतीक ईसा का कब्र से जागना है। ईश्वर के उद्धार-कार्य के ये दोनों पहलू हैं। अंततः ईसा का जागरण उसी दिशा की ओर इंगित करता है, जिधर मानव-जाति जाना चाहती है।

ईसामसीह का जन्म, मृत्यु और पुनर्जागरण ऐसी घटनाएँ हैं, जो इतिहास में घटित हुई। ईसा का स्वर्गारोहण इस कथा का अंतिम विजयी अध्याय है। उस आरोहण से ईसा के दिव्य और अलौकिक रूप की पुष्टि होती है। बुराई पर क्षमा और करुणा की विजय अंततः ईश्वरार्पित हो जाती है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन ईश्वर के ही कृतित्व का एक उदाहरण है। ईश्वर इतिहास में

प्रत्येक व्यक्ति द्वारा कार्य कराता है। वह इसी प्रकार से मनुष्य-जाति के द्वारा जगदुद्धार कराता है। यही पवित्र आत्मा का कार्य है।

६. **पवित्र आत्मा का कार्य :**

पवित्र आत्मा की दुहरी कर्म-भूमिका है : एक ओर ईश्वर और मनुष्य के बीच में एक नया संबंध वह संपन्न कराती है, दूसरी ओर मनुष्य और मनुष्य के बीच वह नये संबंध बनाती है। जैसे, बुद्ध और धर्म के साथ संघ प्रधान था, वैसे ही ईसाई-धर्म में येशू मसीह, ईश्वर और 'पवित्र आत्मा' यह तीन एक-से महत्व के हैं। येशू का उद्धार-कार्य 'पवित्र आत्मा' (होली स्पिरिट) के द्वारा संसार में घटित होता है। इसका कार्य मुख्यतः गिरजाघरों के द्वारा 'कम्युनिटी' या संघ के रूप में होता है। गिरजाघर ईसाई-इतिहास में संपूर्ण गुणवाली संस्था नहीं हैं। वे चिर-विकासशील हैं। परंतु उनके द्वारा येशू मानव-मात्र को मुक्ति दिलाता है। गिरजाघरों को अन्य धर्म-संस्थाओं की तरह नहीं मानना चाहिए। वे वस्तुतः 'पवित्र आत्मा' की चिरंतन उपस्थिति के केंद्र हैं। ईसा-मतानुयायियों की दृष्टि में सलीब पर चढ़े ईसा और बाद में कब्र से जागे हुए ईसा इसी धर्म-स्थान में सदा विराजते हैं।

ईसाई-मत यह भी मानता है कि स्वर्गारोहण के बाद ईसा सारी प्रकृति में और मानव-जाति में उपस्थित है। वह इतिहास का स्वामी है ; इसलिए सारे विश्व में उसकी व्याप्ति है। चाहे सारी दुनिया उसे मानती हो या न मानती हो, दुनिया में जो कुछ भी अच्छा और भव्य है, वह उसी ईश्वर-तत्त्व के कारण है। उसी की प्रेरणा का वह परिणाम है। गिरजाघर केवल उसके विशेष प्रतिनिधि स्थान हैं।

इस प्रकार, ईसाई-मत में यह संसार ईश्वर की सृष्टि है। उसका उद्धार भी ईश्वर के ही हाथों में है। ईश्वर की सृष्टि शुभ, मंगलमय और कल्याणमय है। फिर, दुनिया में बुराई, पाप, दुष्टता क्यों है। इसका एक कारण तो 'जेनेसिस' के तीसरे अध्याय में प्रथम स्त्री-पुरुष द्वारा ईश्वर की आज्ञा न मानना, और शैतान द्वारा दिये गये लालच का शिकार बनना है। वहीं से दुःख शुरू हुआ। आदम का गुनाह उसे आजतक सता रहा है। इस कहानी से सारी बुराइयों का उत्तर तो नहीं पाया जा सकता। पर, ईसाई दृष्टि से यह दुनिया अच्छाई और बुराई का मिश्रण है। बुराई का मूल कारण ईसाई-मत

उसी तरह नहीं दे पाता, जिस तरह वेदांत 'माया' की उत्पत्ति नहीं समझा पाता। बुराई के भी दो रूप हैं : नैतिक, प्राकृतिक। जहाँ मनुष्य अपने समानधर्मियों को भुलाता है, अ-नैतिकता पैदा होती है। इसी कारण, संसार में हिंसा, समाघात, युद्ध आदि होते हैं। यह पाप है। मनुष्य इस प्रकार से ईश्वर की सत्ता को अस्वीकृत करता है। इसलिए, प्रत्येक पाप एक प्रकार से ईश्वर को नकारना है। अब कुछ विपदाएँ और आपत्तियाँ नैसर्गिक होती हैं : भूचाल, बाढ़, सूखा, अशनिपात, रोग आदि। इसका कारण प्रकृति है। प्रकृति अच्छे-बुरे तत्त्वों से मिली हुई है। इस तरह के दुःख का कोई उपाय नहीं। आधि, व्याधि, उपाधियों में जो सामाजिक कारणों से मनुष्य द्वारा निर्मित या वर्धित हैं, उनका इलाज हो सकता है।

इस प्रकार से ईसाई-मत में मनुष्य ईश्वर का प्रतिरूप है। ईश्वर ने मनुष्य को अपने प्रतिनिधि के रूप में संसार में भेजा है। इसीलिए उसीसे ईश्वर को सबसे अधिक आशा भी है। मनुष्य प्राणी है, तो देश-काल-परिस्थिति से सीमित है। परंतु उसमें असीम संभावनाएँ भी हैं। मनुष्य, जड़, चेतन, सारी सृष्टि के सब स्तर एक साथ मौजूद हैं। मनुष्य का शरीर और आत्मा एक द्वंद्वमय द्वैत है ; तो शरीर-आत्मा का अद्वैत भी उसकी ईश्वरीय विशेषता है। इसी अद्वैत में ईश्वरीय पूर्णता की संभावना है।

प्रत्येक मनुष्य एक समाज या जमात की इकाई है। इसलिए, उसे एक विशेष भाषा पढ़नी पड़ती है, विशेष प्रकार की तर्क-पद्धति वह अपनाता है। यह व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र है। ईश्वर ने उसे इस प्रकार की स्वतंत्रता दी है, यानी वह अच्छा या बुरा दोनों कर सकने की क्षमता रखता है। परंतु उसकी यह स्वतंत्र संकल्पना सीमित है। स्वतंत्रता यहाँ सापेक्ष है। मनुष्य अपनी स्वतंत्रता का स्वयं वरण करता है। व्यक्तिशः और समाज के अंग के नाते, पुनः मनुष्य ईश्वर के प्रति जिम्मेदार है। चूँकि वह जन्म से ही एक अधःपतित प्राणी है, इसलिए उसका उद्धार येशू के और ईश्वर के ही हाथों है। मनुष्य को सही मानी में मनुष्य ईसाई-धर्म ही बनाता है, ऐसा इस मत के अनुयायियों का विश्वास है। इसी से इस धर्म की विशिष्टता और श्रेष्ठता के प्रति अनुयायियों में आत्मविश्वास निर्मित होता है।

अब प्रयत्न चल रहे हैं कि ईसाई-धर्म के विभिन्न मत-संप्रदाय अपने मतभेद भुलाकर एक 'क्रिश्चियन विश्व-संघ' स्थापित करें। भारत में भी इसी

तरह से नेशनल क्रिश्चियन काउंसिल कार्य कर रहा है। तीन बड़े संप्रदाय—रोमन कैथोलिक, आल्ड ऑर्थोडाक्स और प्रोटेस्टेंट एक हो जायेंगे या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर, युनिटेरियन पंथ के सिद्धांत भारत के वेदांत से और क्वेकरों की शांतिप्रियता और युद्ध-विरोध जैनधर्म से बहुत मिलते-जुलते हैं। अफ्रीका आदि देशों में मेथौडिस्ट चर्च ने बड़ा कार्य किया है। अमरीका के नीग्रो लोगों में भी ईसाई-धर्म के प्रचार-प्रसार ने उस धर्म की व्यापकता बढ़ाई है। इस्लामी देशों में, लेबनान में सर्वाधिक ईसाई हैं। कम्युनिस्ट देशों में तो धर्म की अ-मान्यता है। पर, साम्यवादी शासन से पहले चीन में प्रोटेस्टेंट ईसाई-धर्म का प्रचार विशेष रूप से था। आशा करें कि इस सदी के अंत तक विविध विचारधाराएँ एकाकार हो जाएँगी और इस धर्म का प्रसार एक-तिहाई दुनिया के अधिक क्षेत्रों में भी होगा।

७. इस्लाम-धर्म में ईश्वर

इस्लाम पूर्व अरव देश में ईश्वर-संबंधी विश्वास क्या थे, यह जानने का कोई साधन नहीं है। यहूदी और ईसाई स्रोतों से इस्लाम के बारे में सही तस्वीर नहीं मिल सकती। पर, कुछ तो उत्तर और दक्षिण ओविया में शिलालेख मिले हैं और कुछ यूनानी लेखकों के प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए, उरेनियस नामक यूनानी लेखक की रचनाओं के कुछ अंश स्टेफानस वाइजैंटियम में सुरक्षित हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि जौव के 'एलोआह' की भांति 'इलाह' नाम का शब्द कई अरवी कवीलों के लेखों में मिलता है। कुरआन में यही शब्द सामान्य संज्ञा की तरह प्रयुक्त है, जैसे 'मूसा का इलाह' (४०·३९) या 'मैं अपने सिवा तुम्हारा और कोई इलाह नहीं जानता' (२८·३८); एक कवि वैदावी ने 'लाह' शब्द भी प्रयुक्त किया है, पर वह अल्-लाह का ही एक रूप रहा होगा। 'इलाह' आरंभ में वहुवचन था, हिब्रू-भाषा में 'इल', 'एल' की तरह। इसी 'इलाह' का वाइविल में 'एलोहेम नाम का और एक वहुवचन वना। ऐसा ही शब्द अरवी भाषा में 'अल्लाह' से 'इल्लाहुम' के रूप में मिलता है। 'तआल्लतु इलइया' के रूप में 'इलाह' से क्रियापद वन जाता है, जिसका अर्थ है ईश्वर की शरण लेना। कुछ लोग इस क्रिया का अर्थ 'सेवा करना' मानते हैं। 'इलाह' का स्त्रीलिंग है 'इलाहह', जिसका अर्थ है सूर्य। यूनानी हेरोडोटस सूर्य को ईश्वर-पर्यायवाची मानता है।

कुरआन में एक दूसरा शब्द 'रव्व' मिलता है, जिसका अर्थ है 'महान्' या 'स्वामी' (मालिक)। वैसे तो 'मेरा रव्व', 'तेरा रव्व' में वह एकवचन है। पर, 'अरवाव' के रूप में वहुवचन भी मिलता है। यहूदी परंपरा में 'रिव्वोनो शेल ओलम' आता है, जिसका अर्थ है 'जगत्-स्वामी'। वैसे ही, अरवी में 'रव्व-उल-आलमीन' है। यों, 'अल्लाह' या 'अल-रव्व' का प्रयोग इस्लाम-पूर्व हो सकता है। सीरियाई ईसाई 'अल्लाहा' शब्द अपने परम पूज्य के लिए प्रयुक्त करते हैं। संत पॉल मानते हैं कि पैगंवर 'अब्दल्लाह' (यानी अल्लाह का पुत्र) और मक्का-निवासी अल्लाह का परिवार माने जाते थे। 'या अल्लाह' संवोधन से लगता है कि अल्लाह कभी नाम रहा होगा। हिब्रू-भाषा में आलाह और

अरबी में अला एक तरह का अव्यय है, जिसे प्रतिज्ञाओं में 'से' के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। पुराना शब्द 'इल्ल' इकरारनामे के लिए भी आता है।

सफाहत-शिलालेखों में पाँच वार 'ह' के साथ अल्लाह आता है—'सो, ओ अल्लाह' के अर्थ में। स्त्रीलिंग में वही 'सो, ओ, अल्लात' के रूप में मिलता है। यहाँ ऐसा लगता है कि किसी देवता-विशेष के लिए यह शब्द प्रयुक्त है। ईश्वर-मात्र के लिए नहीं। 'इलाइह' सूर्यवाचक शब्द से 'लाह' शब्द चमकने के अर्थ में आता है। दक्षिण अरब के शिलालेखों में 'शय्यिम' (आश्रयदाता) शब्द आता है। कुरआन में ईश्वर को वकील (विश्वस्त, ट्रस्टी) भी कहा गया है।

कुरआन में एक और शब्द 'अल्-रहमान' मिलता है, जिसका अर्थ है 'दयालु' या 'रहम करनेवाला'। कई झूठे लोगों ने मसीहा के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया, अतः इसे छोड़ दिया गया। मूर्त्तिपूजक आरमेनियाई शिलालेखों में यह शब्द देवतावाचक है। 'विस्मिल्लाह' शब्द को 'अल्लाह' और 'अल्-रहीम' के वीच में प्रयुक्त किया जाता है, ताकि शब्द का दुरुपयोग कोई न कर सके। पूजाविधि में पुरानी अरवी के इबादह का अर्थ था 'गुलाम का स्वामी के प्रति दास्य-भाव।' अवफा भी इसी सेवादारी के अर्थ में है। स्वामी की सेवा को 'हज्र' भी कहा गया है—हुजूर, महजूर उसी के रूप हैं। ईश्वर के प्रति जो वस्तुएँ चढ़ाई जाती थीं, उनमें अन्न और कपड़ा प्रधान था। 'अल्लाह के घर' पर अब भी चादर चढ़ाई जाती है। मक्का में बलि चढ़ाई जाती थी। अल्-उज्जा को रक्त से लिंपित (मुखश्शाश) करते थे। परंपरा के अनुसार सोना, जवाहरात आदि भी चढ़ाए जाते थे। 'सादिन' (अच्छे कपड़े की चादर) और खजाने चढ़ाए जाते थे।

अरवी में एक ओर 'इस्म अध-धात्' ईश्वर के सार का नाम 'अल्लाह' और दूसरी ओर 'अस्म अस्-सिफात' (ईश्वर के गुण) इनके लिए अलग-अलग नाम हैं। जब मुहम्मद पैगंबर ने ईश्वर को 'अर्-रहमान' कहा, तब अबू जहल ने पूछा— 'जब ईश्वर को एक नाम से पुकारना है, तब फिर यह दूसरा नाम क्यों ?' इस पर कुरआन में (७·१७९) यह आयत है—'ईश्वर की कई उत्तम पदवियाँ हैं, उनसे तुम उसे पुकारो, और उनसे दूर रहो, जो ईश्वर के नाम को विगाड़ते हैं।' यह विगाड़नेवाले वे लोग थे, जो 'अल्लाह' से 'अल्लात' और 'अल्-अजीज से अल् उज्जा' वना देते हैं। कुरआन (५३·१९) के अनुसार, ऐसा

नाम बिगाड़ना बड़ा पाप है। कई नामों के बारे में 'अबू हुरैरा' ने ऐसा कहीं लिखा है कि मुहम्मद ने कहा है कि 'ईश्वर के निन्यानब्बे नाम हैं, जो कोई एक भी नाम लेगा, स्वर्ग में प्रवेश करेगा।' अल्-रहमान, अल्-खालिक, अल्-हलीम, अल् जलील, अल्-हादी इत्यादि। प्रार्थना करनेवाले की आवश्यकता के अनुसार ये नाम थे। कोई पापी उसे 'अल्-गफ्फार' कहकर पुकारता, तो कोई, जो रक्षा चाहता, अल्-रज्जाक। कोई मार्गदर्शन चाहता, तो 'अर्-रशीद' कहता। यों, ईश्वर को 'अश्श-शफी' (रोग दूर करनेवाला) तो कह सकते थे, पर अल् तबीब (वैद्य या चिकित्सक) नहीं।

यों, ईश्वर को जिस भी नाम से पुकारना हो, उसे 'कुर-आन-सम्मत' (तौकीफी) होना चाहिए। जो अधिक कट्टरपंथी हैं, वे इस बात को अक्षरशः मानते हैं। और लोग ईश्वर को 'मुसब्बीब-अल्-असबाब' (कारणों का कारण) कहते हैं। तो, कुछ लोगों को 'खुदा' इस फारसी शब्द पर आपत्ति है। वह अपने-आप में स्वयं पूर्ण अर्थ में है। ऐसा ही अरबी में 'वाजिब अल्-वुजूद' शब्द ईश्वरार्थी है। आईशा के अनुसार, सूफी और दरवेश चाहे जिस नाम से ईश्वर को याद करते हैं, ये विशेषण तो पैगंबरों और संतों के लिए हैं। इस प्रकार से ईश्वर-नामचर्चा पूरी हुई।

अब ईश्वर-संबंधी गुणों और सिद्धांतों पर विचार करें। ईश्वर जड़ द्रव्य या पदार्थ से परे, अदृश्य, असंवेद्य है। रेगिस्तान के निवासी होने के कारण वे बड़े-बड़े आँधी-तूफानों के पीछे, मृगतृष्णाओं के आभासों के पीछे किसी अदृश्य शक्ति को मानते थे। कुरआन ने अरबों की इस सहज विश्वासी प्रवृत्ति को एक परम तत्त्व की ओर केंद्रित कर दिया। वह एक अनन्य, संगठित, वैयक्तिक संकल्प था, जो सारे विश्व पर अपनी शक्ति और कृपा से छाया हुआ है। यही एकेश्वरवाद इस्लाम की सबसे बड़ी देन है। मुस्लिम के अनुसार, यह देन मानव-जाति के लिए है। मुस्लिम के अनुसार, हिंदू बहुदेववादी हैं, यहूदी धर्म में एकेश्वरवाद का विधान है, पर वे बाद में घर-घर में छोटे-छोटे परिवार-इष्टों की, सुनहरे बछड़ों की पूजा में लग गए। ईसाइयों का अपराध यह है कि उन्होंने ईसा को ही खुदा बना डाला। कुरआन (३.७८; १९.९३) में कहा गया है: 'वे कहते हैं कि ईश्वर की कृपा से उसे एक पुत्र हुआ। अब यह बड़ी पापभरी बात कही गई। .....ईश्वर के लिए उसके पुत्र का होना उचित नहीं।' बार-

बार कुरआन में आता है : 'तुम्हारा ईश्वर एक ईश्वर है......उसके सिवा और कोई ईश्वर नहीं।' (२.१५८,२५५)।

अल्लाह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञानवान्, सर्वसृष्टिनिर्माता, नियंता और सर्वसाक्षी है। कुरआन में कहा गया है : 'तुम्हारे गले की नस से भी नजदीक 'वह' नहीं है क्या ? तुम्हें अपनी आवाज उठाने की जरूरत नहीं; क्योंकि तुम्हारी गुप्त फुसफुसाहट भी वह अच्छी तरह जानता है। वह तो तुम्हारे अन्दर की सारी बातें जानता है, सब छिपी हुई बातें भी...उसे पता है कि जमीन पर क्या है, समुद्र में क्या है; कोई पत्ता भी ऐसा नहीं गिरता, जिसे वह नहीं जानता है; अँधेरे में जमीन के नीचे ऐसा एक कण भी नहीं है, कोई ऐसी हरी या सूखी चीज नहीं है, जिसका पूरा पता उसे नहीं (६ : १२.५९)।

इतना होने पर भी कुरआन में आज्ञा है कि 'जो भी पाप करता है, वह अपनी जिम्मेदारी पर' (४ : १११); 'जो भी भटक जाता है, उसे भटकने की जिम्मेदारी लेनी चाहिए'। (१० : १०३)

डॉ० अब्दुल हक़ अन्सारी के अनुसार, 'अल्-लाह' का ही अर्थ है पूजा, प्रेम और आज्ञा-पालन का विषय, जो सारे विश्व पर राज्य करता है, प्रार्थना का उत्तर देता है, बुराइयों से बचाता है, जरूरतें पूरी करता है, जो आँखों से ओझल है और ज्ञान से परे है। अल्लाह ने ही जन्नत और जहान को बनाया। वह अकेला, स्वाश्रित, स्वयंभू है। अन्य सब पदार्थ खल्क हैं। अल्लाह 'अल्-बरी' (न-कुछ में से निर्माण करनेवाला) और अल्-बदी (आरंभकर्त्ता) है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस्लाम के अनुसार, स्रष्टा और सृष्टि में अंतर है। कोई भी निर्मित वस्तु निर्माता का स्थान नहीं ले सकती। जो कुछ यहाँ निर्मित है, वह उसी एक अल्लाह पर आलंबित है। सब अस्तित्व उसीके कारण है, चाहे स्थावर हो या जंगम। उस एक निर्माता के अलावा और कोई निर्माता नहीं है। वही सबका बनानेवाला है। वही सबका नियंता है।

अल्-फाराबी (मृ० ९५० ईसवी) और इब्न सिना (मृ० १०३६ ईसवी) मानते हैं कि यद्यपि सृष्टि का निर्माण यों हुआ हो, फिर भी यह निर्मित सृष्टि अनंत काल तक चल सकती है। ईश्वर इस सृष्टि की निर्मिति अनंत काल से करता आ रहा है। वह अनादि है। अल्-किंदी (मृ० ८७३ ईसवी) और मिस्क वैह (मृ० १०३२ ई०) रूढ धर्मशास्त्रियों के अनुसार यह मत है कि सृष्टि

'काल' के अंतर्गत हुई ही नहीं। काल स्वयं सृष्टि के साथ निर्मित हुआ। सूफियों में इन दोनों तरह की धारणाएँ पाई जाती हैं।

यह भी कहा जाता है कि सृष्टि ईश्वरेच्छा पर आश्रित है। कुरआन 'इराद' (इच्छा) और 'इख्तियार' (मर्जी या चुनाव) दोनों शब्द ईश्वर के संबंध में प्रयुक्त करता है। इसपर से कई धर्मशास्त्रियों और मर्मियों ने यह अर्थ लगाया कि ईश्वर का सृष्टि-कार्य स्वतंत्र और स्वेच्छा-प्रेरित है। अतः, इस्लाम कार्य-कारण-संबंध के जडवादी या भौतिकवादी विचार को नहीं मानता।

ईश्वर एक ऐसी शक्ति है, जो प्रथमपुरुष एकवचन में आदेश देती है, अभिव्यंजना करती है। जैसे ईश्वर कहता है—'मैंने तुम्हें चुना है;' या 'मेरे सिवा और कोई ईश्वर नहीं है' इत्यादि। परंतु, मुस्लिम-धर्मशास्त्र के अनुसार, ईश्वर से व्यक्तिगत संबंध स्थापित किया जा सकता है। ईश्वर 'ज्ञान' का का विषय नहीं। वह ज्ञान से परे है।

कुरआन के अनुसार, ईश्वर के अनेक नामों में अल् वदूद (प्रेम करनेवाला), अल्-रदूफ़ (दयालु), अल्-तव्वाव (कृपालु), अल्-हादी (मार्गदर्शक), अल-मोमिन (संरक्षक), अल्-मुहैमिन (आश्रयदाता), अल् सलाम (शांतिदाता) आदि आते हैं। ईश्वर अल्-रहमान और अल्-रहीम दोनों हैं। उसकी रहम का उदाहरण यह है कि वह पैगंबर दुनिया में भेजता है, जो कि अल्-दीन और शरिया अपने साथ लाते हैं। उसकी रहम का एक दूसरा रूप है 'अदल'। वह पुण्यात्माओं और भक्तों को इनाम देता है; पापियों को दंडित करता है। ईश्वर की अच्छाई के बारे में मुस्लिम-धर्मशास्त्रज्ञों में दो मत हैं। एक के अनुसार, ईश्वर से परे कोई नैतिक मापदंड है, जिस से उसकी अच्छाई मापी जा सकती है। दूसरे के अनुसार, ईश्वर स्वयं परिभाषा के अनुकूल 'शिव' यानी अच्छाई है। वही अच्छाई का सबसे बड़ा मापदंड है। पहला मत मोतजलियों का, दूसरा आशारियों का है। पहले मत को प्रतिपादित करनेवाले थे इब्न तैम्या (मृ० १३२८ ई०), अबू हनीफा (मृ० ७६७ ई०) के अनुयायी, मतुरीदी आदि हैं। दूसरा मत तो पहले मत की प्रतिक्रिया से निर्मित हुआ। एक तीसरा मत भी हो सकता है कि अच्छाई या बुराई, शिव या अशिव सापेक्ष हैं। इन्सान जब ईश्वर को अच्छा कहता है, तब वह अपनी नजर से जो सबसे बड़ी अच्छाई है, उसी को उसमें पाता है। ईश्वर का क्रोध (गजब अल्लाह) भी

उसी पर गिरता है, जो ईश्वरनिर्मित नैतिक नियमों का पालन नहीं करता या उसके विरुद्ध आचरण करता है।

कुरआन में ईश्वर को अल्-कवीर (महान्), अल् जलील (परम कांतिमान्, राजसी), अल्-मजीद (ऐश्वर्ययुक्त), अल्-जव्वार (पहुँच से परे), अल्-अली (उदात्त), अल् कुदूस (परम पवित्र), अल्-अजीम (दिव्य) आदि कहा है। कुरआन में कई स्थल हैं, जिसके अनुसार ईश्वर मनुष्य और सृष्टि से बढ़कर है। वह परमपूर्णता-युक्त है।

ईश्वर के सिवा अन्य कोई नहीं, यह विश्वास 'कलमा' (निष्ठा के मंत्र) में है। मुस्लिम यह विश्वास व्यक्त करता है कि ईश्वर एक है। यह 'तौहीद' है। यह केवल 'इमाम' (विश्वास) ही नहीं, 'इस्लाम' (जीवन-पद्धति) भी है। तौहीद से उलटे 'शिर्क' (ईश्वर से संपर्क) है, जो विश्वास और आचरण का विषय है। 'शिर्क' चार तरह की है—ईश्वर के अस्तित्व में, गुणों में, शक्तियों में और अधिकारों में। जो यह मानता हो कि अल्लाह के अतिरिक्त और ईश्वर है, वह अस्तित्व में 'शिर्क' है। ऐसे विश्वास इस्लाम-पूर्व मूर्त्तिपूजक अरबों में और ईसाइयों में पाये जाते हैं। जब ईश्वर के अतिरिक्त किसी और में ईश्वर के गुण आरोपित हों, तो वह गुणों में शिर्क' है। और इसी तरह अन्य दोनों 'शिर्क' होते हैं।

बाद में, ईश्वर की एकता को उसके गुणों की अनेकता में समझने का यत्न किया गया। ईश्वर की 'धात' (मूल स्वरूप) और 'सिफात' (गुण दि) में एकरूपता है या यह दो भिन्न परिकल्पनाएँ हैं ? यदि सार और गुण दो तत्त्व माने जाएँ, तो ईश्वर की एकता की कल्पना खंडित होती है। यदि उसके गुण, जैसे ज्ञान, शक्ति, वाणी को एक मान लें, तो उसका सार समानधर्मी होगा। इस प्रश्न के कई समाधान धर्मशास्त्री, दानिशमंद, सूफी आदि देते हैं। हर समाधान की अपनी कठिनाइयाँ हैं। इब्न तैम्या ने कहा है कि मूल स्वभाव या 'धात' और गुण या 'सफात' में एक विशेष संबंध है। इसलिए, तार्किक दृष्टि से जो दोनों में अंतर बताया जाता है, वह सच्चा अंतर नहीं है। इसलिए, गुणों की अनेकता से ईश्वरत्व की अनेकता सिद्ध नहीं होती। ईश्वर-तत्त्व की 'एक'-मयता कोई गणित की या तर्क की बौद्धिक एकता-मात्र नहीं है। वह तो एक ऐसी एकात्मता है, जो अपने में अनेकता को समोती है और उनसे परे की अनन्यता है।

ईश्वर का एक प्रमुख गुण यह है कि वह अदृश्य है। अदृश्य को केवल

मानकर चलना चाहिए। वह तर्क द्वारा सिद्ध प्रमेय नहीं। वह तो स्वयम्भू मौलिक सत्य है, अतः उसे और क्या सिद्ध किया जा सकता है। वह ऐसा है कि उसे कुरआन कभी प्रमाण द्वारा उपलब्ध नहीं मानता। मनुष्य में उस अदृश्य की केवल भावना स्वतः सिद्ध होती है। इसलिए, ईश्वर के अस्तित्व के विषय में, उसके साक्षात्कार और इस भौतिक जीवन से परे उसके 'होने' में शुद्ध तर्कानुमान से काम नहीं लिया जा सकता। कुरआन उन वचनों को 'आयत', अर्थात् अदृश्य के चिह्न मानता है। उनका कार्य है—एक ज्ञात सत्य की कल्पना की पुनः याद दिला देना। वैसे धर्मशास्त्रियों ने यूनानी विवेकवाद से प्रेरित होकर ईश्वर के अस्तित्व के विषय में कई तरह के तर्क प्रस्तुत किए हैं। ये तर्क 'साक्षात्कार' पर आधारित हैं। साक्षात्कार न तो तर्क द्वारा सिद्ध होता है, न वह स्वतः प्रमाण है। सूफियों ने अपने 'कश्फ' (प्रमा या परम अनुभव) को उस परम तत्त्व की प्राप्ति का सीधा अनुभव-मार्ग माना है। मुस्लिम सामान्यतः अल्-गज़ाली (मृ० ११११ ईसवी) की बात मानते हैं कि विवेक या बुद्धि से अलग भी ज्ञान के कोई और साधन हैं। 'साक्षात्कार' और रहस्यवादियों की 'प्रमा' या परमानुभव एक हैं। ये अन्य मार्ग सदा सीमित हैं और इनमें गलत हो जाने की संभावना भी है। अंतिम ज्ञान का एकमात्र स्रोत है 'अल्-इल्म' और 'अल्-हुदा' (परमपूर्ण निर्देश)।

इस्लाम के अनुसार, ईश्वर मनुष्य या अन्य किसी वस्तु, जड या जीवित, के रूप में व्यक्त नहीं होता। इस्लाम के अनुसार, ईश्वर का कोई भी सीमाबद्ध अवतार असंभव है। जो स्रष्टा है, वह सृष्टि कभी बन ही नहीं सकता। ईश्वर का साक्षात्कार उसकी वाणी के रूप में, उसके शब्दों के रूप में, मनुष्य को मिलता रहता है। या तो देवदूतों के द्वारा या दैवी ध्वनि से या सीधे मनुष्य के हृदय पर अंकित होता है। कुरआन में साफ लिखा है कि कोई भी मनुष्य ईश्वर की आवाज सीधे नहीं सुन सकता। वह तो अपने चुने हुए प्रेषित या पैगंबर की मारफत ही अपनी बात आदमी तक पहुँचाता है। यह नबी या रसूल कहता है—'वैसे तो मैं और इन्सानों की तरह हूँ। पर, मेरे मालिक ने मुझे प्रेरणा दी है कि मैं कहूँ कि आपका ईश्वर केवल एकमात्र ईश्वर है।'

इस्लाम में 'इमाम' या पूर्ण श्रद्धा पर बहुत जोर है। जहाँ एकांत निष्ठा है, वहाँ शंका के लिए कोई स्थान नहीं है। वह केवल 'हाँ' कहता है। आत्मस्वीकृति है, उसमें संभावनाओं को निश्चय में परिवर्तित करने की

शक्ति है। यह श्रद्धा संकल्प का फल है; केवल सैद्धांतिक या बौद्धिक वस्तु नहीं।

मुहम्मद के अनुसार, अल्लाह एक है और ईसाइयों के 'त्रि-तत्त्व' (ईश्वर, मेरी और यीशु) में मुस्लिम का विश्वास नहीं है। पवित्र आत्मा जिबरील्द है और वह 'त्रि-तत्त्व' का भाग नहीं। मुस्लिम-धर्म के अनुसार, किसी भी वस्तु का अस्तित्व कारण के विना नहीं है। अतः, सब कारणों का कोई मूल कारण अवश्य होगा और वह अपने-आप में संपूर्ण होगा। वह एक और केवल एक हो सकता है। यह एकता या 'तौहीद' है, जो या तो 'तौहीद अर्-रुब्बूबीया या तौहीद अल्-उलूहीया' है। पहले का अर्थ है ईश्वर ने सब चीजों को बनाया और वही सबका संरक्षक है। पर, इसमें विश्वास रखने-मात्र से मनुष्य सच्चा 'मुस्लिम' नहीं होता। विश्वास दूसरी बात में भी रखना है कि 'ईश्वर' एकमात्र और अनन्य है: 'ला इलाहि इल्लिल्लाह'। उसके विना दूसरा कोई नहीं।

ईश्वर की परिभाषा में मुस्लिम-धर्मशास्त्री सात गुण आवश्यक मानते हैं:

१. हयाह (जीवन)
२. इल्म (ज्ञान)
३. कुद्र (शक्ति)
४. इरादा (इच्छा)
५. सम (श्रुति)
६. बशर (दृष्टि)
७. कलाम (वाणी)

जीवन: ईश्वर का कोई समानधर्मा नहीं, सहयोगी नहीं। ईश्वर जैसा और कोई नहीं। यदि होता स्वर्ग में या पृथ्वी पर, तो दोनों नष्ट हो जाते (२१ : २२)। वह अननुकरणीय, अद्वितीय, अदृश्य, अनाकृति, अरूप, अरंग, अविभाजित, अनंश, अव्याकृत और एकमेवाद्वितीयम् है। वह अनादि, अनंत है। वह अनेक तत्त्वों का केवल जोड़ नहीं। वह किसी शरीर में या स्थान में रहने-वाला केवल एक संयोग या चमत्कार नहीं।

ज्ञान: ईश्वर वर्त्तमान, भूत और भविष्यत् का सर्वज्ञ है। उसके लिए कोई भी बात गुह्य या अगम्य नहीं। सारे ब्रह्मांड में, स्वर्ग से पाताल तक सब बातों को वह जानता है। वह प्रत्येक मनुष्य के हृदय की बात, उसके

विचार-उच्चार का ज्ञाता है। ईश्वर न कभी भूल कर सकता है, न वह भूलता है। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा का शिकार नहीं होता। वह चिर-जागरूक है। 'उसके पास सब गुप्त बातों की चाभी है। जमीन और समुद्र पर सब बातों को वह जानता है।' (६ ५९)

शक्ति : ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह मृतों को जीवित कर सकता है। वह पत्थरों को मुखर बना सकता है, वृक्षों को चला सकता है, स्वर्ग और पृथ्वी को नष्ट कर सकता है और उन्हें फिर से निर्मित कर दे सकता है। 'क्या वह मुर्दों को जिलाने की ताकत नहीं रखता ?' (७५·३५) : 'ईश्वर की शक्ति सब वस्तुओं पर है'। (३·१५९)

संकल्प : ईश्वरेच्छा बलीयसी ! ईश्वर जो चाहता है, कर सकता है। सब अच्छी-बुरी, संभव-असंभव बातें वह सहज कर सकता है। उसी की इच्छा से विश्वास करनेवाले का विश्वास है, और काफिर का कुफ्र या नास्तिक का अविश्वास। उसकी इच्छा या संकल्पशक्ति चिरंतन है। 'ईश्वर अपनी मर्जी से सब कुछ करता है।' 'ईश्वर जिसे चाहे, गुमराह करे, जिसे चाहे रास्ता बताए' (१४·४·३२)।

श्रुति : ईश्वर के कान नहीं हैं। पर, वह सब ध्वनियाँ सुन सकता है। क्योंकि, उसके गुण आदमियों की तरह नहीं। 'वह सचमुच में सब कुछ सुनता है और सब कुछ जानता है।' (४४·५)

दृष्टि : ईश्वर सब कुछ देखता है। छोटी-सी छोटी चीज भी वह देखता है, यद्यपि उसे मनुष्य की तरह आँख नहीं है। 'कोई भी दृष्टि उसे देख नहीं सकती, पर वह सब दृष्टियों को अपने-आप में समा लेता है। (६ १०३)

वाक् : ईश्वर बोलता है, पर आदमी की तरह मुँह या जबान से नहीं। वह 'कलाम', जो ईश्वर की पवित्र वाणी है, एक है। उसकी कई शैलियाँ हैं : आज्ञा, निषेध, आश्वासन, धमकी। कुछ सेवकों से वह सीधे बात करता है, जैसे मूसा से वह पर्वत पर बोला था या मुहम्मद से स्वर्गारोहण की रात को। औरों से वह जिबरील की मारफत बोलता है। इस तरह से वह पैगंबरों से बोलता है। कुरआन ईश्वर की वाणी (कलाम) है, इसलिए वह अमर है।

ईश्वर के गुणों के संबंध में तो एकवाक्यता है। पर, उन्हें मनुष्य कहाँ तक जान सकता है, इसके बारे में ऐकमत्य नहीं है। प्राचीन 'सिफात' वादी मानते हैं कि ईश्वर के गुण चिरंतन हैं और वे ईश्वर की 'धात' का मूलाधार या सार सर्वस्व हैं। मोतजला-वादी कहते हैं कि ये गुण चिरंतन नहीं हैं। आशारिया-वादी मानते हैं कि वे हैं तो चिरंतन, पर ईश्वर के सार से भिन्न हैं। पहले चार गुण तो 'मौलिक' माने जाते है। उनके विना अंतिम और गुण नहीं रह सकते।

इस प्रकार से ईश्वर में कोई विरोधी तत्त्व हो ही नहीं सकता। 'जीवन' यदि उसका लक्षण है, तो 'मृत्यु' उसमें हो नहीं सकती। ये तत्त्व 'सिफात अत्-तुवूतीया' कहलाते हैं, यानो स्वीकारात्मक गुण। फिर, कुछ गुण ऐसे हैं, जो 'सिफात अस्सलवीया' कहलाते हैं, यानी निपेधात्मक गुण : जैसे ईश्वर के कोई आकार नहीं, कोई उसके समान नहीं, कोई उसका स्थान-विशेष नहीं आदि।

अव 'कुरआन' में कई क्रियाएँ, जैसे 'वैठना', 'उठना', 'उतरना' और चेहरा, हाथ, आँखें आदि शब्द भी ईश्वर के सिलसिले में प्रयुक्त हुए हैं। ये सब तो आकृतिमूलक हैं, शरीर-संबंधी हैं। यदि ये सच हैं, तो ईश्वर मनुष्य के समान हो जाएगा या अपूर्ण माना जाएगा। ये बातें 'तंजीह' के खिलाफ हो जाएंगी। अवू हनीफा, अश-शफी, अहमद विन हंवल और मलिक विन अनस ने इसके वारे में कहा है कि कुरआन में जो लिखा है, उसे मान लेना चाहिए और उसके वारे में कोई तर्क अपेक्षित नहीं है। जो कोई शंका करता है या इस मामले में कोई ऐसा अर्थ लेता है कि 'ईश्वर के सचमुच हाथ हैं, तो उसके हाथ काट डालने चाहिए।'

अल्-तिरमिजी ने कहा है कि 'ईश्वर उतर कर सातवें आसमान के नीचे तक आया', इसमें 'उतरना' सही है। पर वह कैसे उतरा, यह पूछना गलत है। उसकी चर्चा या उसके बारे में तर्क व्यर्थ है। अल् वैदावी का कहना था : 'सिंहासन पर वैठना ईश्वर का एक गुण अवश्य है ; पर वह कैसे वैठता है, यह हमें नहीं मालूम।' इब्न हंवल का कथन है 'कि ईश्वर अपने जैसा अकेला है, उसके जैसा और कोई नहीं। (११२·४) यह प्रश्न पूछना ही व्यर्थ है कि वह कैसे वैठता है। उसका वैठना केवल स्वयं वही जानता है। एक वार मुहम्मद पैगंवर के सामने एक दासी लाई गई। मुहम्मद ने पूछा—'ईश्वर

कहाँ है ?' वह बोली—'स्वर्ग में'। मुहम्मद ने कहा—'इसे स्वतंत्र कर दो।' मुहम्मद उससे प्रसन्न हुए; क्योंकि शब्दों को उस दासी ने ज्यों-का-त्यों लिया था।

इस प्रकार से इस्लाम के कट्टरपंथी ईश्वर के गुणों को अपरिभाषेय, अव्याख्येय और अज्ञेय मानते हैं। इसलिए, इस्लाम के अनुयायी को ईश्वर के गुणों में केवल विश्वास करना है। उन्हें जानने का प्रयत्न व्यर्थ है; क्योंकि उसे जानने के साधन मनुष्य के पास नहीं हैं। इब्न खाल्दून कहता है कि इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य की तर्कशक्ति व्यर्थ है ; पर उसका उपयोग दैवी मामलों में नहीं किया जा सकता। उसने यह किताब तुम्हें दी। उसमें कुछ संकेत 'मुहकम' हैं, कुछ 'मुतशाबीह'। सिवा ईश्वर के और कोई उसके पूरे अर्थ नहीं जानता। जो अपनी निष्ठा में स्थिर हैं, वे प्रश्न नहीं करते। (३ ५) अतः, ईश्वर द्वारा कहे गए वचनों में कुछ भी अस्पष्ट या 'समझने के लिए शेष' हो ही नहीं सकता। आईशा ने कहा : 'एक दिन पैगंबर ने पाँचवीं आयत पढ़ी और कहा, जो इसमें अस्पष्टता देखें या कहें, उनसे दूर रहो।' मुशब्बिही और मुजस्सिमी विचार इस्लाम-विरोधी माने जाते थे।

कभी भविष्य में ईश्वर इन्सानी आँखों से देखा जा सकेगा या नहीं, यह भी बड़े विवाद का विषय रहा है। पुराणपंथी मूसा के शब्दों को उद्धृत करते हैं : 'पर्वत की ओर देखो। अगर वह अचल है, स्थाणु है, तो तुम मुझे देख सकते हो' (७.१३९)। इसका अर्थ यह हुआ कि पर्वत का एक स्थान पर स्थिर रहना जैसे संभव है, वैसे ही ईश्वर-दर्शन भी संभव है। एक बार एक आदमी खलीफ अल-वाशिक के सामने लाया गया। वह आदमी कहता था कि उसे कयामत के दिन अल्लाह के दर्शन होंगे। अल्-बुखारी की कहानी उसने सुनाई। माह की चौदहवीं रात का हम बैठे थे पैगंबर के पास, तो उसने कहा—'जैसे तुम्हें चाँद दिखाई देता है, वैसे तुम उसे देखोगे' (शहीद अल्-बुखारी सूराकाफ पर अध्याय)। खलीफा ने उस आदमी को झूठा कहा और गुस्से में उसे मृत्युदंड सुनाया। मोतजलियों ने इस मृत्युदंड की पुष्टि की। उनके अनुसार मुहम्मद पैगंबर ने ईश्वर-दर्शन के संबंध में नहीं कहा था। पर, मनुष्य को जैसे चंद्र स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही मर्मियों को परमतत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है, यह उपमा-मात्र दी थी। इसमें यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर अदृश्य या दृष्टि से परे है।

अल्-सुयूती (मृ० १५०५ ईसवी) ने ईश्वर के गुणों का विभाजन यों किया है :

१. वे गुण, जो कि ईश्वर के होने ही चाहिए ; अस्तित्व, पूर्वकालीन चिरंतनता, भविष्यकालीन चिरंतनता, स्वयंभवता, एकता आदि।

२. वे गुण, जो 'सिफात अल्-म'आनी' हैं : शक्ति, संकल्प, ज्ञान, जीवन, श्रुति, दृष्टि, कलाम आदि। ये सब 'वाजिब' गुण हैं।

३. वे गुण, जो ईश्वर पर लागू नहीं हो सकते : अनस्तित्व, तिरोहित हो जाना, सिरजी हुई वस्तुओं से समानता, निर्भरता, द्वैतभाव, अनेकता, शक्ति या संकल्प का अभाव, अज्ञान, बहरापन, अंधापन और मृत्यु का लक्ष्य होना।

४. वे गुण, जो ईश्वर के कहे जा सकते हैं। इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि ईश्वर किसी भी चीज को संभव या असंभव बना सकता है।

मुहम्मद इब्न अश-शाफी अल्-फज़ली इसी बात को अलग तरह से कहता है। ईश्वर के बीस आवश्यक गुण हैं। 'बुफ्द' या अस्तित्व तो ईश्वर-गुण है ही, अन्यथा यह सृष्टि कैसे होती ? 'क़िदम्' का मतलब 'जब कुछ न था, तब भी खुदा था'; 'बक़ा', यानी निरंतरता, अनंतता, अमर-अक्षय नित्यता; 'मुखालफ', यानी जिन वस्तुओं का निर्माण किया गया, उनसे निर्माता की भिन्नता; 'क़ियाम बिन-नफ्त', यानी स्वायंभुव स्वतंत्रता, एकता, शक्ति, संकल्प, ज्ञान, श्रुति, दृष्टि, वाणी, सर्वशक्तिमत्ता (यह 'शक्ति' से यों भिन्न है—जब शक्ति मूल या सार रूप में होती है, तब वही शक्तिमत्ता है; वह 'हाल' है। पर, जब शक्ति संकल्प, ज्ञान इत्यादि के गुण होती है, जो वह मूल 'शक्ति' पर अवलंबित तो है, पर दोनों में परस्परावलंब होता है)।

ईश्वर रहमतगार, बंदापरवर, दैनिक रोटी देनेवाला, अपने लोगों को जिलानेवाला और मुक्त करनेवाला परम कृपालु है। इस तरह से अल्लाह के निन्यानब्वे नाम हैं। पर, उनमें कहीं भी उसे अपने अनुयायियों का 'पिता' नहीं माना गया है। इस्लाम की नजर में इस तरह का संबंध मनुष्य और ईश्वर में माना नहीं जा सकता। ईश्वर के प्रति मनुष्य का भाव केवल दास्य-भाव हो सकता है। उसमें पुत्रवाली स्वतंत्रता नहीं।

ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करने से पैगंबर का सभी धर्मों के स्रोत से आना सिद्ध होता है। अल्लाह प्रकृति और मनुष्य का एकमात्र शासक है।

उसका डर या दहशत सबमें व्याप्त है। इसलिए, उसके नाम पर जो कुछ भी कर्म किया जाय, वह पवित्र है। ईश्वर का आदेश पुण्य है। उसमें शंका या पाप का प्रश्न ही नहीं उठता। 'वहाबी' और अन्य मत ईश्वर की इस परम प्रबल सत्ता में विश्वास करते हैं। उसमें पूर्ण निष्ठा ही अपेक्षित है। ईश्वर या बल के सर्वोत्तम स्रोत के प्रति कोई भी आशंका या संदेह रखनेवाले को दंडित किया जाना चाहिए।

'कर्त्तुम् अकर्त्तुम् सर्वथाकर्त्तुम्', अल्लाह या ईश्वर होने पर यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा या सत्ता का क्या स्थान रह जाता है? मुस्लिम-धर्मशास्त्र के अधिकारी टीकाकारों में चार मत ऐसे हैं, जिन्हें सामान्यतः परंपरावादी मत कहा जाता है। यही सर्वसाधारण मुस्लिम-बहुमत का विश्वास भी है।

अबू हनीफा (मृ० ७६७ ई०) के 'वसिया' में पहला मत मिलता है, यही 'हनफ़ी' न्याय-शाखा का मूल भाष्यकार कहा जाता है :

"हम यह कबूल करते हैं कि सारे काम तीन तरह के हैं : आवश्यक कर्त्तव्य, पुण्यकार्य, पापकार्य। जो अनिवार्य कर्तव्य हैं, वे तो अल्लाह के आदेश है और वे उस अल्लाह की इच्छा, पसंद, आज्ञा पूर्व-निर्णय, सृष्टि, निर्णय, ज्ञान, सहायता और सुरक्षित तख्ती पर लेख के अनुसार हैं। पुण्यकार्य वे हैं, जो अल्लाह की आज्ञा के रूप में नहीं, परंतु उसकी इच्छा आदि के अनुसार हैं। पापकार्य वे हैं, जो न अल्लाह की आज्ञा के या उसकी इच्छा आदि के अनुसार हैं।"

दूसरा कथन अल्-अशअरी (मृ० ९३५ ई०) के मत का है, जो दार्शनिक विचारों के संघर्ष से निर्मित हुआ :

'पृथ्वी पर ऐसा कुछ भी नहीं होता, न अच्छा, न बुरा, जिसे अल्लाह नहीं चाहता, सब चीजें अल्लाह के 'मशिया' से होती हैं। ईश्वर के करने से पहले कोई कुछ नहीं कर सकता। कोई भी ईश्वर से अलग और स्वतंत्र नहीं। कोई भी ईश्वर के ज्ञान से अपने को हटा नहीं सकता। ईश्वर के अतिरिक्त कोई स्रष्टा नहीं। मनुष्यों के और सब निर्मित वस्तुओं के 'अ-मल' (काम) ईश्वर द्वारा पूर्व निर्णीत हैं, जैसा कि उसने कहा है, 'ईश्वर ने तुम्हें पैदा किया और जो कुछ तुम करते हो, उसे पैदा किया' (कुरआन, ३७.९४) या 'क्या ईश्वर के अतिरिक्त और कोई निर्माता है ?" (३५.३१)

इमाम गज़ाली के अनुसार :

"हमने देखा कि जो भी वस्तुएँ हैं, उन्हें चाहनेवाला वही है। वही वस्तुएँ जैसे घटित होती हैं, उन्हें वैसे संचालित करनेवाला है। इस दुनिया में कुछ भी दृश्य या अदृश्य, छोटा या बड़ा, कम या अधिक, अच्छा या बुरा, लाभ या हानि, विश्वास या अविश्वास, ज्ञान या अज्ञान, सफलता या असफलता, वृद्धि या संकोच, आज्ञापालन या अवज्ञा का विषय है, वह उसकी इच्छा के बिना नहीं। अल्लाह की मर्ज़ी से ही सब कुछ है या नहीं है। देखनेवाले की एक भी नजर या सोचनेवाले की एक भी गलती उसकी मर्जी के बगैर नहीं है। वही स्रष्टा, वापस लानेवाला, सब कुछ करनेवाला कर्त्ता है। उसकी आज्ञा का कोई विरोधी नहीं। उसकी नियति का कोई पुनरावृत्ति करनेवाला नहीं। जो उसे नहीं मानता, उसे कोई स्थान नहीं। वही सबका सहायक और वही सर्वकरुणावान् है। सारी कायनात, सब इन्सान और जिन्न और देवदूत और शैतान सब मिलकर इस दुनिया से एक दाना भी हटाना चाहें या उसकी मर्जी के खिलाफ फिर बैठाना चाहें, तो वे इस काम में अपने-आपको कमजोर पाएँगे।'

चौथा विचार अल्-नसफी के 'अकायद' में इस प्रकार है :

"और, ईश्वर सारी कायनात के प्राणियों के कार्यों का निर्माता है, चाहे वे विश्वास के हों या अविश्वास के, आज्ञा के हों या अवज्ञा के। यह सब कर्म उसी की इच्छा, आज्ञा और निष्कर्ष से हैं।

"ईश्वर के बंदे के 'अख्तियार' में है कि वह ऐसे सत्कर्म करे या दुष्कर्म, जो वह चाहता है। उनमें अच्छे कर्मों के लिए इनाम देना ईश्वर की 'रजा' पर निर्भर है और उनके बुरे कर्मों की जिम्मेदारी बन्दों की ही है।

" 'इस्तिता' या कर्म करने की शक्ति उसी कर्म के साथ जुड़ी है, वह कर्म के मूलभूत 'क्द्र' का सार है, और यह शब्द 'योग्यता', कारण की प्रामाणिकता और अवयवों की कार्यक्षमता पर निर्भर है। जो कर्त्तव्य दिया गया है, जिसे 'तकलीफ' कहते हैं, उसके दिए जाने की सचाई उसकी योग्यता पर निर्भर है; किसी भी बंदे को ऐसा कर्त्तव्य नहीं दिया जाता, जो कि उसकी ताकत में नहीं है।"

इस मामले में शिया-मत में और अन्य पंथों की राय अलग है। पर, मुख्य समस्या यह है कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो मनुष्य या ईश्वर द्वारा

निर्मित प्राणियों को स्वतंत्रता कहाँतक है ? शायद बिलकुल नहीं है। यदि ईश्वर ही सर्व-कर्तृत्ववान् है, तो संसार में दुःख क्यों है ? पापी या दुष्ट अदंडित क्यों चला जाता है। अब इसके विचार में कुरआन से ही उत्तर प्राप्त करना होगा। प्रो० मुजीब के अनुसार, मुस्लिम-इतिहास में कुरआन को कई परस्पर-विरोधी मामलों में उद्धृत किया गया है। 'कादरी' और 'जबरी' के बीच में आरंभ से ही मतभेद था। कादरी मत को—यानी मनुष्य को वरण की स्वतंत्रता है—मोतजला और शिया-मत के लोगों ने माना। जबरी मत के अनुसार, मनुष्य की स्वतंत्रता का प्रश्न संदर्भ-च्युत और व्यर्थ है। उस पर चर्चा करने से धर्मनिष्ठा में कमजोरी पैदा होती है।

प्रो० मुजीब लिखते हैं : "इस्लाम सातवीं सदी में ऐसे लोगों में प्रचारित हुआ, जिनकी अनंत संभावनाएँ थीं। आरंभ से ही स्थिति काफी गतिशील थी। परिवर्त्तन और विकास का प्रभाव कुरआन पर भी पड़ा है। वस्तुतः, कोई ऐसा ही व्यक्ति, जो साक्षात्कार का अनुभव प्राप्त कर चुका हो, साक्षात्कार का और कुरान के ऐतिहासिक और अन्य सन्दर्भों का पूरा अंतःसंबंध समझ सकता है। पैगंबर का उद्देश्य था एक धर्म का प्रचार करना और किसी दार्शनिक आम्नाय या मतवाद का निर्णय करना नहीं। जिन्हें उसमें से एक दर्शन-संहिता वाद में निर्मित करनी पड़ी, उन्होंने चैतन्यमय दिव्य वाणी को तर्क का जामा पहनाया। उनकी कठिनाई और भी बढ़ गयी, चूँकि शब्दों के अर्थ बदलते गए। इस्लाम-पूर्व काल की अरबी भाषा, कुरआन की अरबी और अब जगत् के बाहर के विद्वानों की अरबी यह सब भाषाएँ मूलतः तो एक ही अरबी हैं। परंतु, प्रोफेसर इजुत्सु जैसे विद्वान् जब उसकी गहराई में जाकर भाषा की अर्थ-च्छटाओं का विश्लेषण करते हैं, तब साधारण पाठक चकित रह जाता है। मुख्य प्रश्न का उत्तर इस तरह के भाषा-विश्लेषण के बजाय और भी कठिन हो जाता है।

"वस्तुतः, कुरआन का साहित्यिक रूप संवाद का है। भाषा इसीलिए अलंकारपूर्ण और सशक्त है। बल देने के लिए पुनरावृत्ति भी काफी मात्रा में है। कई बार साक्षात्कार किसी विशिष्ट घटना और चरित्र को लेकर हैं, जिनकी सर्वजनीन महत्त्व की बातें कुछ और हो गई हैं। कुरआन में स्वयं कुछ बातों को स्पष्ट और प्रत्यक्ष (मुकाम) कहा है और कुछ बातों को अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष (मुतशबिह) कहा है। कुरआन कोई व्यवस्थित प्रबन्ध नहीं है; न

कि वह धर्मशास्त्रीय वचनों का संग्रह ही है। उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जिसका स्पष्टीकरण और उसपर भाष्य आवश्यक था। कई रिक्त स्थानों की पूर्ति आवश्यक थी। इस कारण पैगंबर के कथन एकत्र करने आवश्यक थे, उनका अध्ययन आवश्यक था, उन पर मूल्यांकन और चर्चा के सिद्धांत और मापदंड निश्चित करने थे। यह काम कई पीढ़ियों तक चलता रहा। इसी कारण, कुरआन के साथ-साथ रूढ़ियों का सिलसिला जुड़ा। इन परंपराओं में ईसाई और यूनानी विचारों का भी प्रभाव पड़ा।"

इस दृष्टि से कुरआन में यदि मनुष्य की स्वतंत्र संकल्पना को खोजें, तो पता चलता है कि ईश्वर के कुछ लोग निन्यानब्बे नाम बताते हैं, तो और लोग पाँच सौ या एक हजार। एक निबंधकार के अनुसार, ये नाम केवल भक्ति के उपयोग के लिए थे। वे सब ईश्वर के गुण नहीं हैं। कुरआन में ईश्वर की 'कदर' और 'तकदीर' की चर्चा है। उसी के अनुसार मनुष्य की स्वतंत्रता भी निर्णीत होती रहती है।

ईश्वर की 'मशिया' (इच्छा) से वह सदा जागरूक, पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण बुद्धिमान् शक्ति है। कई स्थानों पर ऐसा भी उल्लेख है कि ईश्वर की इच्छा पात्रानुकूल, उसके अनुयायियों के निर्देशित होने के ढंग से गतिशील होती है। उदाहरणार्थ, 'यदि तुम अकृतज्ञ हो, तो अल्लाह को तुम्हारी कोई जरूरत नहीं; क्योंकि उसे अपने बंदों के नाशुक्रेपन से कोई सुख नहीं होता। यदि तुम कृतज्ञ हो, तो वह भी सुखी होता है। जो बोझ उठानेवाला है, वह कभी दूसरे का बोझ नहीं उठाता।' (३९.९)

'तर्जुमान-अल-कुरआन' में मौलाना अबुल कलाम आजाद ने 'तकदीर' का अर्थ ईश्वर की आज्ञा माना है। 'रब' में सब कुछ आता है। ईश्वर की शक्ति में विकास और संपूर्णता सब शामिल हैं। इसका अर्थ 'तकदीर' या 'नियति' कोई पूर्वनिर्णीत या पूर्वनिश्चित बात नहीं। कुरआन में ऐसा एक भी वचन नहीं, जो सिद्ध करे कि सारा मानव-कर्म केवल ईश्वर की मनचाही सनक या हुक्मवाली बात है।

अल-रजी ने अपनी कुरआन पर टीका में लिखा है कि कई बातों के छुपे मानी और होते हैं। इसलिए, जब कुरआन में कहा गया कि 'जिसकी इच्छा हो, विश्वास करें; जिसकी इच्छा हो, अविश्वास करें....'(१८ : २८), तो यह हुआ 'मुकाम'।

जबकि 'तुम्हारी और कोई इच्छा नहीं होगी, सिवा ईश्वर या सब विश्वों के स्वामी की जो इच्छा हो।' (८१ २९), यह 'नुतशविह' हुआ।

अब यह देखें कि रहस्यवादियों या सूफियों की इस बारे में क्या राय थी। मुहिउद्दीन इब्न अरबी, या शेख-इ-अकबर (सन् ११६५—१२५० ई०) सूफियों के अध्यात्म-चिंतन के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने ईश्वर के पूर्व-निर्णय और मानव की स्वतंत्र संकल्पना के विषय में बहुत कम कहा है। जलालुद्दीन रूमी जैसे कवियों ने या शेख अब्दुर रज्जाक काशानी (मृ० १३२९ ई०) ने कुछ स्वतंत्र विचार किया है। वैसे तो रहस्यवाद का आरंभ इमाम हसन बसरी (मृ० ७२८ ई०), इब्राहीम बिन आदम (मृ० ७७७ ई०), अबू हाशिम उस्मान (मृ० ७७६ ई०) और रबीस बसरी (मृ० ९०१ ई०) से शुरू हो गया था। वे उम्मैयादों के खिलाफत-इ-रशिदा परंपरा को अमान्य करने के विरुद्ध थे। कूफा और बसरा में ये रहस्यवादी केंद्र बढ़ते गए। नवीं और दसवीं शताब्दी में अरबी में कई ऐसे टीकाग्रन्थ लिखे गए, जो आत्मनिरीक्षण, मृत्यु, अंतिम निर्णय, आध्यात्मिक भावना आदि की चर्चा करते हैं। गजाली (सन् ११११ ई०) ने 'इह्या अल-उलूम-अल-दीन' नामक बड़ा ग्रंथ लिखा, खर्राज (मृ० ८९९ ई०) ने 'किताब-अल-सिद्क' लिखी और हल्लाज ने 'किताब-अल-तवसिन'। ऐसे कई ग्रंथ गिनाए जा सकते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी तक इन रहस्यवादियों में बारह 'गरोह' बन गए। शेख अल् हजवेरी (मृ० १०७२ ई०) ने उनके नाम दिए हैं : हुलूली, हल्लाजी, तैफूरी, मुसाहिबी, तुस्तरी, हाकिमी, नूरी, जुनैदी आदि। मसलन, तैफूरी आनंदोन्माद (सुक्र) को गंभीरता (सह्व) से बेहतर मानते थे; खुफूफी ईश्वर के प्रत्यक्ष (हुजूर) और अनुपस्थिति (गैब) को महत्त्व देते हैं; सय्याई 'शौक' (आनंद) और अलम (दुःख) को महत्त्व देते हैं। गजाली ने 'उलमा-इ-जाहिर' (ऐसे विद्वान्, जो बाह्य पर बल देते हैं) और 'उलमा-इ-बातिन' (मर्मी और संत) में अंतर स्पष्ट किया है। पहले प्रकार के लोग ज्ञान से कर्म की ओर जाते हैं; दूसरे कर्म से ज्ञान की ओर। गजाली विभिन्न मतवादों में संश्लेषण और संयुजन घटित करना चाहते थे, पर उनके तर्क से कुछ मतभेद बढ़े।

शेख अब्दुल कादिर जिलानी (शायद सन् ११६६ ई० में जनमे) एक ऐसे विद्वान् रहस्यवादी हुए, जो बड़े अच्छे वक्ता थे, और 'नफस-इ-गिरा' पूर्ण (बड़े अनुभववाले बुद्धिमान्) संत थे। 'अल फतह अल रब्बानी' नामक अपने

प्रवचनों में मुस्लिम-साहित्य का सर्वोत्तम सार निहित है। सन् ११२७ ई० में शेख यूसुफ हमदानी (मृ० ११४० ई०) की आज्ञा से वे जनसाधारण में अपना प्रचार करने लगे। शुरू-शुरू में बहुत थोड़े लोग उनकी बातें सुनते। फिर, बगदाद में हल्वा दरवाजे पर उन्होंने प्रवचन दिए, जिससे मुस्लिम-जगत् के विद्वान् उनकी ओर आकृष्ट हुए। कई यहूदी और ईसाई भी उन्हें सुनकर मुस्लिम बने। यमन, सीरिया और मिस्र से उनके पास अनुयायी खिंच आए।

ख्वाजा अहमद या अता यासवी (मृ० ११६६ ई०) नामक मध्य एसिया के बड़े संत ने, जिन्हें अत्तार 'पीर-इ-तुर्किस्तान' कहते हैं, एक सिलसिला-इ-ख्वाजागान शुरू किया। उसने तुर्की जबान में कविता लिखी है, जो उस भाषा के प्रसार के साथ-साथ व्यापक रूप में फैलती गई। अता यासवी के बाद मंसूर अता (मृ० ११९७ ई०), सईद अता (मृ० १२१८ ई०) और हकीम अता (मृ० ११८८ ई०) भी बहुत प्रसिद्ध हुए। रहस्यवादी विचारधारा फैलती गई, इस्लाम के कुछ रूढ रीति-रिवाज और रस्मों को ये लोग छोड़ते गए। ईसाई मत की कुछ बातों को वे अपनाने लगे। ख्वाजा अब्दुल खालिक गुजदुवानी (मृ० १२२० ई०) ने आठ सूत्र दिए, जो 'सिलसिलाह' के आधार माने जाते हैं। इसी परंपरा में डेढ़ सदी बाद हुए ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंद (मृ० १३८९ ई०)। इन्हीं की शिष्य-परंपरा में ख्वाजा अहरार (मृ० १४९० ई०) बहुत बड़े विद्वान् और लोकप्रिय अमीर संत हुए। उनके प्रवचन सुनकर मौलाना जामी को कई सूत्रों का अर्थ मिला।

दूसरी रहस्यवादी शाखा चिश्तियों की है। सीसिया में ख्वाजा अब्बू इश्तक (मृ० ९४० ई०) ने इसकी स्थापना की, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। पर है यह मुख्यतः भारतीय। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने अजमेर में अपना पंथ चलाया।

सुरहावर्दी सिलसिला शेख अबू नजीब अब्दुल कादिर सुरहावर्दी (मृ० ११६८ ई०) ने चलाया। बगदाद में शेख शिहाबुद्दीन सुरहावर्दी (मृ० १२३४ ई०) उनके प्रमुख शिष्य हुए।

फिरदौसी सिलसिला, शत्तारी सिलसिला आदि और भी कई सिलसिले हैं। मसलन, रिफैदा, बेदविया, बय्यूमी, दसूकी आदि। इन्हीं सिलसिलों के साथ-साथ 'खानकाह' भी बने। पहला खानकाह दूसरी हिजरी में अबू हाशिम ने बनाया था। ये एकांतप्रिय साधना-स्थल थे। इनमें रहनेवालों को सात नियम पालने पड़ते थे :

१. सारे खलक के साथ मैत्री रखें।

२. प्रार्थना और ध्यान में ईश्वर पर मन केंद्रित करें।
३. कमाने और जीविका के सब उपाय छोड़ दें। ईश्वर पर सब छोड़ दें।
४. अंतर्जीवन की शुद्धि का यत्न करें।
५. बुरे नतीजे पैदा करनेवाली चीजों से अपने-आप को बचाएँ।
६. समय का महत्त्व समझें।
७. आलस्य और तंद्रा को पूरी तरह त्यागें।

'अहल-इ-खानकाह' (खानकाहों में रहनेवाले) दो तरह के थे : स्थायी (मुकीमिन) और प्रवासी (मुसाफिरिन)। प्रवासी दो दिन तक रह सकते थे। तीसरे दिन उनको उस मठ के नियमों के अनुसार दैनंदिन काम करना पड़ता था। जो स्थायी निवासी थे, वे भी तीन कोटियों में विभाजित हैं : अहल-इ-खिदमत, अहल-इ-शुभात और अहल-इ-खतवत। इन मठों में पूरा अनुशासन रखा जाता था। इन्हें 'वक्फ' भी मिलता था। जहाँ ऐसा दान नहीं था, वहाँ मठ के शिष्य अपनी जीविका स्वयं कमा लेते थे, या भिक्षा पर जीते थे।

'मारिफत' सूफियों का खास मकसद था। उसमें वे सब तरीके खोजे जाते थे, जो ईश्वर के साथ संगम (वस्ल) की संभावना बताते। 'कल्ब' (हृदय) के द्वारा ही सांत और अनंत का मिलन संभव था। जो भी 'सिलसिले' में आता, उसे सबसे पहले तौबा करनी पड़ती। अल्लाह से मिलने के पाँच उपाय बताए गए हैं :

१. जिक्र-इ-जिह्र—नामस्मरण, एक विशेष मुद्रा में उच्चार-सहित।
२. जिक्र-इ-खफी—नामस्मरण, मौन।
३. पस-इ-अनसफ—प्राणायाम।
४. मुरक्कबह—रहस्यवादी ध्यान में मग्न होना।
५. चिल्लह—चालीस दिन तक एक स्थान में एकांत ध्यान।

कुछ मर्मियों या सूफियों ने सभा या संगीत (कव्वाली) का भी महत्त्व बताया है। सभा, उर्स, लंगर—ये चीजें जन-संग्रह करने के लिए उपयोगी थीं। सूफियों का बड़ा काम इस्लाम को लोकप्रिय बनाना था।

आधुनिक काल में सैयद अहमद खान ने 'उलमाओं' से, भिन्न आधुनिक वैज्ञानिक जगत् से प्रेरणा लेकर सुधार का यत्न किया, पर ईश्वरेच्छा और

मानव-स्वातंत्र्य के मामले में वे अबू हनीफा या इमाम गजाली के ही तर्कों को मानते थे। डॉ० मुहम्मद इकबाल ने बंदे की 'खुदी को कर बुलन्द इतना' कि खुदा भी पूछे कि बंदे की रजा क्या है? यह कहकर मनुष्य को ईश्वरोपम बना दिया। एक तरह से सच्चे मुस्लिम को वैसी स्वतंत्र इच्छा या संकल्प संभव नहीं है, जैसी कुछ अन्य धर्मों में है। इस्लाम में सब कुछ ईश्वरार्पित है, ईश्वर-निर्देशित है, ईश्वर-इच्छित है। जो बादशाह है, वह शरिया के हिसाब से केवल अल्लाह का बंदा है, यानी उसे 'मिल्लत' को जवाब देना जरूरी नहीं। 'कुफ्र' को छोड़ वह जो कुछ कहे, प्रजा को मानना चाहिए। कुरआन में शराब पर पाबंदी है, मगर 'शरिया' के हिसाब से तम्बाकू पीना या अफीम का सेवन भारत में प्रतिबंधित नहीं। तुर्की के एक शेखुल इस्लाम ने तो यहाँतक कहा बताया जाता है कि जो काफी पिये, वह 'काफिर'। फिर भी, मुस्लिम देशों में काफी का खूब चलन है। सूअर के मांस पर जरूर सब जगह प्रतिबंध है और मुस्लिम उससे परहेज करता है। इस प्रकार, धर्म और न्याय या कानून धीरे-धीरे कुछ एक दूसरे से अलग-अलग होने लगे। यहाँ तक कि आधुनिक मुस्लिम स्त्रियाँ पर्दा छोड़ने और एकपत्नीत्व के नियम को मानने पर आंदोलन कर रही हैं। भारत में 'हनफी' कानून चलता है। 'शिया' शासक या अनुयायी उसे नहीं मानते। मिस्र में शफी पद्धति है। समय और देश-विशेष की परिस्थितियों से मूल सिद्धांतों के आचरण में अंतर आता ही रहता है। पर, इस्लाम काफी हदतक मूल रूप के अनुसार प्राचीन परंपरा पर आधारित, अपरिवर्त्तित रहा है। यह एक साथ उसकी शक्ति और सीमा भी है।

●

८. यहूदी धर्म में ईश्वर

पश्चिमी सभ्यता के एक तिहाई हिस्से का संबंध यहूदी वंशों से है। उदाहरण के लिए, बच्चों के नाम ही ले लीजिए : ॲडम, नोहा, अब्राहाम, आइजैक, रेबेका, सारा, मोजेस आदि सारे नाम यहूदी हैं। माइकेल एंजेलो ने जब डेविड का पुतला बनाया या सीस्टीन गिरजाघर की छत पर विशाल चित्र बनाए, तब यही भाव उसके मन में था। दांते ने जब 'डिवाइन कामेडी' इटैली में लिखी या मिल्टन ने महाकाव्य 'पैराडाइज लास्ट' लिखा, तब भी यहूदी मिथक उनके मन में मँडराते थे। अमेरिका के, स्वतंत्रता के घोषणा-पत्र में 'बाइ देअर क्रिएटर' (अपने स्रष्टा के द्वारा) या स्वतंत्रता की घंटी पर 'प्रोक्लेम लिबर्टी थ्रू आउट दि लैंड' (सारे प्रदेश में स्वतंत्रता घोषित की जाए) आदि शब्द यहूदियों की प्राचीन पवित्र पुस्तक से हैं। सबसे बड़ा यहूदी प्रभाव जीवन की समस्याओं के प्रति पश्चिमी देशों के रुख में पाया जाता है।

इतिहास में यहूदी बहुत देर से आए। तीन हजार बरस ईसा-पूर्व में मिस्र में पिरामिड बन चुके थे और सुमेर तथा अक्काद के साम्राज्य विश्व-साम्राज्य थे। ईसा-पूर्व १४०० में फिनीशिया उपनिवेश बना रहा था और इन सबमें यहूदी कहाँ थे ? वे किसी कोने में उपेक्षित पड़े थे। अरबस्तान के रेगिस्तान के उत्तर में एक घुमन्तू जाति थी, जो अपनी आजीविका किसी तरह जुटा रही थी। वह संख्या और महत्त्व में बहुत थोड़ी थी।

जब उस जाति के लोगों ने बसने का इरादा किया, तब जो देश उन्होंने चुना, वह भी कोई बहुत प्रभावशाली नहीं था। दान से बीरशेबा तक डेढ़ सौ मील लंबा, और येरूशेलम में पचास मील चौड़ा, फिलस्तीन एक छोटा-सा देश था। वहाँ की भूमि भी वैसी उपजाऊ या बहुत जरखेज नहीं थी। यूनान में जानेवाले प्रवासी माउंट ऑलिंपस पर चढ़कर कल्पना करते हैं कि क्यों देवताओं ने अपने निवास के लिए यह नन्दन कानन चुना। फिलस्तीन उसकी तुलना में 'सौम्य और समतल सपाट देश है। वहाँ सब कुछ आकाश के नीचे खुला है।' एडमंड विल्सन जब वहाँ गया, तब उसने पूछा कि 'क्या इसी देश में इतने बड़े धर्मयुद्ध हुए ? क्या यहीं के चरागाहों में पहले प्रार्थना-स्वर गूंजे ? सब जगह पत्थर और कुछ भेड़-बकरियाँ नजर आती हैं। और तो कुछ भी नहीं है।' यहूदियों

का इतिहास भी किसी तरह दिव्य या भव्य नहीं। अन्य जातियों की भांति यहाँ का भी इतिहास सामान्य घटनाओं से भरा हुआ है। असुरिया, बेबिलोन, मिस्र और सीरिया की तुलना में यहूदियों का प्रदेश बहुत महत्त्वपूर्ण इतिहास-वाला नहीं माना जा सकता। फिर भी, धर्मों के इतिहास में यहूदियों का एक विशेष स्थान है।

'आरंभ में ईश्वर था....' यहूदियों का सारा जातीय जीवन ईश्वरार्पित रहा है और ईश्वर की खोज में बीता है। किसी की भी कोई भी चिंतन-पद्धति हो, उसमें 'दूसरे' का विचार आवश्यक है। इसके दो कारण हैं: एक तो कोई भी यह नहीं मान सकता कि वह स्वयंभू है। वही अपने-आपको अस्तित्व में लाया। फिर, उसे सृष्टि में लानेवाला 'दूसरा' भी मनुष्य ही नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव-जाति की उत्पत्ति अपने से अलग किसी तत्त्व से हुई। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य कभी-न-कभी अपने-आपको सीमित अनुभव करता आया है। कोई बड़ी चट्टान ही है, जो वह उठा नहीं सकता; कोई समुद्री तूफान है, जो उसका गाँव बहा ले जाता है। यानी एक 'अन्य' है, जिससे उसका जन्म हुआ; और एक 'अन्य' है, जिसका सामना उसे सदा करना पड़ता है। अब मनुष्य इस 'अन्य' का अर्थ जानने का निरंतर यत्न करता रहता है। या तो उसका अर्थ स्पष्ट है या वह अनर्थमय है। या अर्थ-अनर्थ से परे है, या वह अर्थ पाने के विरोध में है। यहूदी कहते हैं कि ये चारों उत्तर अपर्याप्त हैं, अमान्य हैं।

अन्य केवल वही नहीं है, जो दिखाई देता है। अतः, वह व्यक्ति-रूप है। यानी, यह जो यच्च यावत् चराचर सृष्टि है, वह अंधी प्रकृति नहीं है, वह यंत्रवत् नियमों से बँधी नहीं है। आदिमानव ने सूर्य, चंद्र, धरती, धान्य, जन्म और मृत्यु के पीछे मानवी भावना देखी। और, यही बात यहूदियों के साथ भी है। यहूदी यह मानते हैं कि परम सत्य ईडन के बगीचे में सवेरे की ठंडी हवा में टहल रहा होता है। इसके पीछे भाव यह है कि परम सत्य एक व्यक्तित्व है। वह यंत्रमात्र नहीं है। अॅलफ्रेड नॉर्थ वाइटहेड जैसे दार्शनिक इस युग में इसमें विश्वास करते हैं। दूसरी बात यह है कि यहूदी अपने अंतिम प्रश्नों का ऐसा उत्तर चाहते थे कि वे निरुत्तर न हो जाएँ। उनकी खोज बराबर जारी रही। मनुष्य अपूर्ण है। वह जिस परम तत्त्व का निरूपण करना चाहता है, वह उसके इतिहास में कैसे संपूर्ण हो सकता है? अतः, वह 'अन्य' या 'परम तत्त्व'

निश्चित रूप से निगूढ है, वह व्यक्तित्व-संपन्न है। अब यहीं पर यहूदियों का अपने पड़ोसियों से मतभेद हो गया। वह परम तत्त्व केवल एक व्यक्तित्व ही नही है, उसकी एकांत, सर्वश्रेष्ठ प्रकृति से परे इच्छा और सत्ता है। अब उस समय मिस्रियों, बैबिलोनियों और सीरियाई लोगों में प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति का अपना देवता था। समुद्र और आकाश, झंझा और सूर्य सबके देवता थे। पुराने करार (ओल्ड टेस्टामेंट) में एक दूसरा ही माहौल है। यहाँ प्रकृति सारी चराचर सृष्टि के एक स्वामी की अभिव्यंजना है।

जब हम प्रार्थना १९ में पढ़ते हैं, 'आकाश या स्वर्ग ईश्वर के ऐश्वर्य की घोषणा करता है; और आसमान में अपनी कला दिखलाता है', तो ऐसा लगता है कि मिस्रियों और बैबिलोनियों के विश्वासों का मजाक उड़ाया जा रहा है। आकाश क्या है? ईश्वर की महत्ता का साक्षी-मात्र। मेसोपोटामिया के लोग उस आकाश को ही 'आनु' नामक देवता मानते थे। मिस्रियों के लिए सात स्वर्ग दैवी मातृशक्ति के रहस्य के सोपान थे। मिस्रियों के लिए सूर्य में वह सब गुण थे, जो स्रष्टा में पाए जाते हैं। वह शम्स है, परम न्यायदाता है। पर यहूदियों के धर्मग्रंथ में प्रार्थना रचनेवाले की दृष्टि में सूर्य भगवान् का एक नौकर है। वह अँधेरे कमरे से निकलनेवाला नवविवाहित वर है। इन प्रार्थनाओं में ईश्वर प्रकृति से परे है। इस प्रकार, हिब्रू लोग अपने पूर्ववर्त्तियों से भिन्न नए मौलिक विचारों की उद्भावना कर रहे थे।

ओल्ड टेस्टामेंट में याह्वेह (जिसे जेम्स राजा के समय के अँगरेजी-रूपांतर में गलत हिज्जे से जेहोवा लिखा गया) के अलावा भी और देवता हैं, फिर भी यहूदी धर्म का सबसे बड़ा योगदान उसका एकेश्वरवाद है। वे अन्य गौण देवता भी ईश्वर से ही पैदा हुए थे। 'तुम देवता हो, पर सर्वोच्च की संतान-मात्र हो!' (साम, ८२·६) फिर, ये दूसरे देवता मर्त्य थे। परंतु परम एकेश्वर या सर्वेश्वर में विश्वास यहूदियों को अन्य धर्मियों से अलग करता है। यदि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य एक ईश्वर है, तो वह अन्य कई देवताओं में अपना ध्यान कैसे बँटने दे सकता है। प्रत्येक मनुष्य को एक ही जीवन मिला है। उसका एक ही ईश्वर हो सकता है। अनेक देवता होने से मनुष्य खंडित हो जाएगा। 'सुनो, इसराइल, हमारा स्वामी, हमारा ईश्वर केवल एक है!'

अब प्रश्न पूछा जा सकता है कि यह ईश्वर नीति-अनीति से परे है, या वह मनुष्य का विरोधी है। परंतु, वह ऐसा होता, तो ईश्वर का अर्थ ही

नष्ट हो जाता। मनुष्य का जीवन अपने साथियों के साथ अधिक अच्छी तरह बीतता, यदि वह नैतिक होता, और उस नैतिकता को ऊपर की शक्ति या ईश्वर का समर्थन आवश्यक था। यदि मनुष्य सदा ईश्वर के विरोध में रहता, तो जीवन में पूर्णता या शांति कहाँ से आती? ल्युक्रेशियस ने रोम में इसीलिए नास्तिकता का प्रचार किया कि यदि देवता इतने दुष्ट, पापी, दुराचारी, प्रतिशोध लेनेवाले और मनमाना व्यवहार करनेवाले हैं, तो ऐसे देवताओं की अस्वीकृति ही अधिक अच्छी बात है।

यहूदियों का ईश्वर केवल एक ही नहीं है। वह नैतिक भी है और वह मनुष्य की उपेक्षा नहीं करता। यहूदी धर्म से पूर्व के विश्वासों को यहूदियों ने इस प्रकार से उलट दिया। आलिंपस के यूनानी देवता सदा सुंदरियों का पीछा करनेवाले थे; यहूदियों का सिनाई का देवता विधवाओं और अनाथों पर करुणा बरसानेवला था। मेसोपोटामिया का 'आनु' और कन्नान का 'एल' अपने ही ढंग से 'टेढ़े-टेढ़े जात' थे, तो याह्वेह अपनी जनता को दासता से उबारनेवाला और बैबिलोन में अपना निर्वासन सहन करनेवाला था। यहूदी ईश्वर परम दयालु और परम नैतिक पुण्यात्मा है। 'ओ याह्वेह, तुम्हारे जैसा और देवताओं में कौन है?'

दस्ताएवस्की के 'कारामजाव बंधु' उपन्यास में इवान बोलता है, 'मैं जानता हूँ कि ईश्वर की दुनिया है, फिर भी मैं उसे स्वीकार नहीं करता। मैं ईश्वर को अस्वीकार नहीं करता, पर उसकी बनाई यह दुनिया मैं अस्वीकृत करता हूँ। मैं इस दुनिया को स्वीकार नहीं कर सकता।' इवान अकेला नहीं है। कई दर्शन ईश्वर को अच्छा, पर उसकी सृष्टि को बुरा मानते हैं। ऐसे निराशावाद में यहूदी धर्मग्रंथ यों आरम्भ होता है: 'आरम्भ में ईश्वर ने आकाश बनाया और पृथ्वी बनाई।' यह सारी सृष्टि ईश्वर-निर्मित बताने का क्या अर्थ है? जो इस दुनिया में जीता है, उसके लिए उसे किसने बनाया और कब बनाया या सदा के लिए बना डाला—ये सारे तथ्य बेमानी हैं।

परंतु, यहूदियों के इस वचन में सृष्टि का मूल्य और सार निहित है। यहूदी आशावादी धर्म है। चूंकि इस सृष्टि को ईश्वर ने बनाया, वह सार्थक है, जीने लायक है। जो ऐसा नहीं मानते, वे निराशा के अँधेरे गर्त्त में भटकते है। इस प्रकार से यहूदी ईश्वर एक ऐसी सत्ता है, जिसमें शक्ति और

मूल्य एक स्थान पर है। वह जो चाहता है, करता है, और जो कुछ करता है, वह अच्छा ही करता है। इसलिए, ईश्वर जो निर्मित करता है, वह भी अच्छाई लिए हुए है।

अब मनुष्य के सामने दो ही विकल्प हैं: या तो दोष उसमें है, या शेष दुनिया में है। सारी गर्दिश सितारों की है, भाग्य ही खराब है—यह एक दृष्टिकोण है। सब तरह के दु:खवादी इस तरह का विश्वास करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि बच्चों को एकमात्र खिलौना जैसी 'जिग सा' पहेली देनी चाहिए, जिसके टुकड़े कभी एक-दूसरे से न जुड़ते हों। टॉमस हार्डी इसी तरह मनुष्य को क्रूर देवताओं के हाथ का खिलौना मानता था। बल्कि ऐसी मक्खियाँ, जो जब ईश्वर की इच्छा हो, वह मार डालता है। उमरखैयाम ने रात और दिन के चौसर या शतरंज पर मनुष्यों को मोहरा-मात्र माना था और ईश्वर ऐसा मनमाना खिलाड़ी है कि जब वह चाहता है, तब उठा कर मोहरें संदूक में एक-एक कर बन्द कर देता है। सोमरसेट मॉम के 'ऑन ह्यूमन बांडेज' उपन्यास में प्रमुख पात्र फिलिप को एक फारस का कालीन दिया जाता है और कहा जाता है—जब जीवन का अर्थ उलझने लगे, इस कालीन को उलट-पुलट कर देखना, कोई अर्थ मिले उसके डिजाइन का, तो जीवन का भी अर्थ है। फिलिप इस नतीजे पर पहुँचा कि जीवन एक निरर्थक झमेला है।

दूसरा रास्ता यह है कि जब भी कोई दु:ख या विपदा पड़े, तब उसका कारण निज में खोजना। दोष अपने भीतर हो सकता है। अब इस उत्तर में अधिक कुछ करने को है। मनुष्य भाग्यवादी बना हाथ-पर-हाथ धरे बैठा नहीं रहता। यहूदी जब सृष्टि को ईश्वर-निर्मित मानता है, तब वह जीवन में अपनी आस्था ही दुहराता है। जीवन का अर्थ छिपा हुआ हो सकता है; सहज समझ में न आनेवाला हो सकता है, पर वह है। आखिर जीवन ईश्वर-निर्मित है। वह व्यर्थ कैसे हो सकता है?

यहूदी-धर्मग्रंथ प्रकृति को वन्य या असभ्य नहीं मानते। उसमें लिखा है: 'ईश्वर ने जो कुछ बनाया, उसे देखा, और देखो, वह सब बहुत अच्छा था।' इसीलिए, यहूदी-धर्मग्रंथ में ईश्वर द्वारा वचन में दिया गया देश 'उत्तम, गेहूँ, द्राक्षा, अंजीर, अनार, जैतून और शहद का देश है; एक ऐसा देश, जिसमें तुझे रोटी की कभी कमी नहीं होगी।' यहूदी धर्म में ऐसेनेस जैसे कुछ पंथ ब्रह्मचर्य

का आदेश देते हों, अन्यथा विवाह और संतान की प्रशंसा यहूदी धर्म में पूरी तरह की गई है। हर व्यक्ति को अधिक-से अधिक संपत्ति, द्रव्य और भौतिक वस्तुएँ प्राप्त करना चाहिए, उसमें कोई बुराई नहीं है। यहूदी धर्म का ऐसा प्रवृत्तिपरक, आशावादी और जिजीविषापूर्ण दृष्टिकोण संन्यासमार्गी धर्मों के विपरीत है।

चीनी धर्म के 'ताओ ते चिंग' में लिखा गया है कि 'जो पृथ्वी पर अधि-राज्य करते हैं, अपने इच्छानुसार उसे आकार देने का यत्न करते हैं, वे कभी सफल नहीं होंगे।' यहूदी धर्म कहता है—'वे सारी पृथ्वी पर अपनी सत्ता फैलाएँ।'

आर्च बिशप टेंपल का मत है कि यहूदी और ईसाई-धर्म संसार के सब धर्मों में सबसे अधिक भौतिकवादी हैं। पश्चिम में प्रकृति पर विजय और विज्ञान का बोलबाला इसी कारण बढ़ा। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में शरीर और आत्मा के मिलन को बुरा नहीं माना गया है। जीवन के भौतिक पक्ष महत्त्व के हैं, इसलिए इन धर्मों में सामाजिक कर्त्तव्य और मानवता की सेवा पर जोर है। शरीर मुक्ति के मार्ग में बाधक नहीं, सहायक है। प्रकृति दैवी गुणों का अधिनिधान हो सकती है। इसलिए, यहूदियों का ईश्वर प्रेम का निधान है। मनुष्य उसकी प्रिय संतान है। होसिया में यह पद आते हैं :

मैंने सिखाया एब्राहीम को चलना
मैंने उन्हें गोद में उठाया.........
मैं उन्हें करुणा के सूत्रों से संचालित करता रहा
प्रेम के बन्धनों से
ओ एब्राहीम ! मैं तुम्हें कैसे छोड़ दूँ
ओ इसराइल ! मैं तुम्हें कैसे दे दूँ
मेरा हृदय मेरे भीतर उमड़ आता है
मेरी करुणा उष्ण और कोमल होती है

(होसिया, ११ : ३·४,८)

हिंदू-दृष्टिकोण में संसार माया है। यूनानियों की दृष्टि से प्रकृति का नित्य-क्रम संसार-चक्र, ऋतु-चक्र की भाँति चलता रहता है, अव्याहत। परंतु यहूदियों की दृष्टि में संसार ईश्वर का कार्यक्षेत्र है। इसलिए, यहूदियों के लिए इतिहास बहुत महत्त्वपूर्ण है। इतिहास सामाजिक कर्त्तव्य या सामूहिक

कर्म का कारण और साक्षी है। यहूदी मिस्र में गुलाम रहकर ईश्वर की प्रशंसा नहीं कर सकता था। यहूदी की दृष्टि में इतिहास मनुष्य के लिए अवसर प्रदान करता है। ईश्वर इतिहास का नियंता है। बिना ईश्वर की इच्छा के कुछ भी नहीं हो सकता। पत्ता भी उसकी इच्छा के बिना नहीं खड़कता। इतिहास की घटनाओं में कुछ निर्णायक होती हैं, जिनके पीछे निश्चित दैवी अधिष्ठान होता है।

यहूदी-धर्मग्रंथों में इतिहास के एक विशेष प्रसंग में जब धर्मग्लानि होती है, ईश्वर अवश्य अपना चमत्कार दिखाता है। ऐसी परिस्थिति में ईश्वर विशेष रूप से यहूदी जाति को चुनता है। उसी के हाथों संसार का उद्धार होना है। यहूदी-धर्मग्रंथों में उत्पत्ति-अध्याय में कहा गया है कि आदम ने आज्ञा नहीं मानी, वर्जित फल खाया, एबल के केन का खून हुआ, ईश्वर के पुत्र और पुत्री आपस में संभोग करने लगे, नोहा के पुत्र समलैंगिक अप्राकृतिक पापाचार में डूबे, तभी महाप्रलय की बाढ़ आई। ऐसी दुरवस्था में ईश्वर ने अब्राहाम को बुलाया और कहा—नए देश में नए लोगों को बसाओ। इतिहास में यह क्षण निर्णायक है। अब्राहाम को ईश्वर चुनता है। वह पहला हिब्रू बनता है, ईश्वर द्वारा निर्वाचित प्रथम व्यक्ति।

भारत में इतिहास से परे, कालातीत, ईश्वर-तत्त्व है। जो कुछ है, वह केवल 'व्यक्त मध्य' है। संसार में सुख-दुःख, आनंद-यातना, अच्छाई-बुराई प्रायः समान मात्रा में रहेगी। इसलिए, मनुष्य का संसार बदलने का यत्न व्यर्थ है। मिस्र में, मेसोपोटामिया में प्रकृति को ही ईश्वर मान लिया गया। वहाँ भी संसार बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर, सामी धर्मों में, यहूदी धर्म में विशेष रूप से, मनुष्य को ईश्वर का प्रेषित माना गया। उसका ऐतिहासिक कर्त्तव्य बताया गया। ईश्वर केवल यथास्थिति का संरक्षक नहीं, आदर्श को धरती पर लानेवाला भी है। मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया, इसलिए उसे ईश्वर से पूरा इनाम नहीं मिला। यहूदी धर्म में मनुष्य सदा अपनी दैवी पूर्णता-प्राप्ति की खोज में है। जूडाह के मसीहा सुधारक राजनैतिक शक्ति बने। और, इसी कारण यहूदी धर्म ने जो नींव रखी, उसी में इस्लाम और मसीही धर्मों ने अपना संसार-सुधार-कार्य आगे बढ़ाया। यहूदी धर्म में इसी कारण से 'दस आदेशों' पर जोर दिया गया। रबाय (यहूदी पूजार) लोगों की दृष्टि से ओल्ड टेस्टामेंट में ६१३ आदेश हैं, जो मनुष्य को

सही रास्ता दिखाते हैं। पर, दस आदेशों में भी चार सबसे प्रमुख माने गए हैं। बलप्रयोग, संपत्ति, यौन जीवन और उच्चरित शब्द ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें ये आदेश ईश्वर की आज्ञा की तरह माने जाते हैं :

१. तू हत्या नहीं करेगा।
२. तू व्यभिचार नहीं करेगा।
३. तू चोरी नहीं करेगा।
४. तू झूठी साक्षी नहीं देगा।

जर्मन-कवि हाइने ने इसीलिए कहा था कि सिनाई पर्वत उस हजरत मूसा के आगे कितना छोटा लगता है, जिसने ऐसे आदेश दिए। इसराइल में ऐसा दूसरा मसीहा पैदा नहीं हुआ।

यहूदी धर्म में मसीहा का बड़ा माहात्म्य है। 'प्रोफ़ेट' का अर्थ दो यूनानी शब्दों से बना है : प्रो=पक्ष में, फीटेस=बोलना। यानी मसीहा या प्रेषित वह है, जो पक्ष में बोलता है। ईश्वर ने मूसा से कहा कि फारोहा से जाकर कहो कि अपने लोगों को वह मुक्त करे। तो मूसा ने कहा—वह बोल नहीं सकता। तो ईश्वर ने कहा—तेरा भाई, आरोन, प्रोफेट बनेगा। संक्षेप में, मसीहा वह बना, जो ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में बोलता है। ईश्वर और मनुष्य के बीच की कड़ी 'प्रोफेट' है।

अब यह प्रेषित तीन अवस्थाओं में से विकसित हुआ। पहले प्रोफेट समूह में होते थे। वे जमात में चलते थे। वे नाचते-गाते और उन्हें 'हाल' आता। वे ईश्वरोन्माद में अपनी चेतना खो देते। इस पहली अवस्था में नैतिकता का प्रश्न नहीं था।

दूसरी अवस्था में नीतिशास्त्र आ जाता है। धर्मग्रंथ के लेखन के पहले के प्रोफेट अकेले परमहंस थे। जैसे : एलिजाह, एलिशा, नैथान, मिकाइआह, आहिजाह इत्यादि। बाइबिल में उनके नाम नहीं हैं, चूंकि वे बाइबिल से पहले के हैं। उन्हें अकेले एकांत में ईश्वर-साक्षात्कार होता था। एलिजाह को ईश्वर ने आदेश दिया—'नावोथ को जिसने अन्याय से पत्थर मारे हैं, जिसके व्रण कुत्ते चाटते हैं, वे ही कुत्ते इसराइल के राजा आहाब के व्रण चाटेंगे। जा और राजा से कह दे।' इस कथा में एक अज्ञातनाम व्यक्ति अन्याय के विरुद्ध अकेला खड़ा होता है। उसे ईश्वर का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। राजा के विरोध में कहना उस जमाने में आसान नहीं था। ऐसी ही दूसरी

कहानी डेविड की है। अपने घर की छत से उसने बाथशेबा को नहाते हुए देखा और वह उसपर आसक्त हो गया। बाथशेबा के पति उरिया को उसने युद्ध में भेज दिया, अकेले। ताकि, वह वहाँ मारा जाए। प्रोफेट नैथान को इस बात का पता लगा। उसने प्रचार किया—"यह ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध काम डेविड ने किया। ऐसे लोग जो दूसरों की पत्नियों को पाप-दृष्टि से देखते हैं, उनकी पत्नियों को उनके पड़ोसी बलात् ले जाएँगे। डेविड ने यह काम गुप्त रूप से किया और लोग खुले आम, दिन-दहाड़े यही करेंगे। पापी को सजा उसी तरह से मिलेगी।"

बाद में यहूदी धर्म में बड़े-बड़े लेखक प्रोफेट आए : आमोस, होसिया, मिकाह, जेरेमियाह, इसायाह आदि। यहाँ भी प्रेषितों के दैवी उन्माद की कथाएँ दी गई हैं। अब इन प्रेषितों ने ईश्वरेच्छा को लेखबद्ध किया। सारे समाज के पापों की भर्त्सना की। इस समय संपत्ति मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में संचित हो गई थी। गरीब लोगों को पशुओं की तरह तप्त मुद्रा लगाई जाती और गुलामों की तरह एक जूते की जोड़ी के एवज में वे बेचे-खरीदे जाते। स्वामी दासों के साथ चाहे जैसा दुर्व्यव्यहार करते। स्त्रियों के साथ चाहे जैसा अत्याचार होता। अनिच्छित संतान सड़कों पर मरने के लिए छोड़ दी जाती। ऐसे समय इसराइल देश राजनैतिक शत्रुओं से घिरा हुआ था। ऐसे समय यहूदियों ने ईश्वर की इच्छा को प्रमाण मानकर संघर्ष आरंभ किया। ईश्वर अपनी प्रिय संतान को इस प्रकार सदा दुःख में नहीं रखेगा। ईश्वर जिसपर प्रेम करता है, उसे वह अवश्य बचाएगा। ईश्वर ने सोचा कि मेरे सामने खाली प्याले हैं। यदि मैं इन्हें बहुत गर्म पानी से भरता हूँ, तो काँच चटकेगा। यदि मैं इन्हें बहुत ठंडे पानी से भरता हूँ, तो काँच तड़केगा। सो गर्म और ठंडे पानी को मिलाकर मैं इन्हें भरूँ। वैसे ही संसार में अत्यधिक दया और अत्यधिक न्यायनिष्ठुरता से बचकर ईश्वर ने दोनों का मिश्रण दिया।

यहूदी धर्म के प्रचारक प्रेषित सीधे-सच्चे किसान हैं, सुसंस्कृत नागरिक भी हैं। कुछ ईश्वर की वाणी को सिंह-गर्जन की तरह सुनते हैं; कुछ तूफान से पहले के सन्नाटे में ईश्वर का शब्द सुनते हैं। प्रत्येक मनुष्य को बड़ी-से-बड़ी सत्ता को चुनौती देने का अधिकार है। ये प्रेषित एक भूचाल की तरह आते हैं। इतिहास में विस्फोट पैदा करते हैं। इस प्रकार से जब-जब आवश्यकता हुई, यहूदियों को ईश्वर के दूत मिल गए।

ईश्वर दंड भी दिलाता है। आमोस में लिखा है :

"जो लोग अपना सत्य चाँदी के टुकड़ों के लिए बेच देते हैं
जिनके गरीब जूते की जोड़ी के लिए बेचे जाते हैं
ऐसे लोगों के देश को शत्रु घेर लेगा
और तुम्हारे बड़े-बड़े प्रासाद लूटे जाएँगे।"

जेरेमियाह में भी यही स्वर है—'तुम्हारे नगर बरबाद हो जाएँगे। उनके रेगिस्तान बन जाएँगे।'

ईसा-पूर्व ७२१ में असुरिया ने यहूदियों का उत्तरी राज्य पूरी तरह नष्ट कर दिया। ईसा-पूर्व ५८६ में दक्षिण का यहूदी राज्य भी पराजित हो गया। इसके बाद भी यहूदी जाति पूरी तरह से नष्ट नहीं हो सकी। उन्होंने इस दुःख में अर्थ खोज निकाला। यहूदी मसीहाओं ने यह कहा कि यह पूरी जाति को दंड ही नहीं है, इससे बहुत कुछ सीखना है, पश्चात्ताप करना है। मिस्र में गुलाम अवस्था में स्वतंत्रता का अर्थ यहूदियों ने पहचाना।

"बैबिलोन की नदियों के किनारे हम बैठ गए
हाँ, हम रोते रहे. जब हमने जायन को याद किया
वहीं की बेलों पर हमने अपने तंतु-वाद्य लटकाए
वे हमें दास बनाकर ले जा रहे थे और गाना गाने को कहते थे
और वे हमें चिढ़ाते थे—हाँ-हाँ अब, जायन का गाना गाओ
इस अजनबी देश में हम अपने प्रभु का गीत कैसे गाएँ ?
यदि हम तुम्हें भूल जाएँ, ओ येरूशेलम, तो मेरा यह दाहिना हाथ मर जाए
यदि हम तुम्हें भूल जाएँ, तो मेरी यह जिह्वा झड़ जाए।"

(साम, १३७)

फारस के राजा सिरस ने बैबिलोन पर ईसा-पूर्व ५३८ में विजय प्राप्त की और यहूदियों को फिलस्तीन लौटने की अनुमति दी। तबसे उनके दिल में आजादी के लिए एक विलक्षण आग सुलग पड़ी। इस प्रकार से जलावतन होने पर, देशनिकाला मिलने पर, यहूदियों ने अपने धर्म में और एक गहरा अर्थ पाया।

यहूदियों के लिए अपना छोटा-सा देश ही ईश्वर बन गया। पवित्र देश एक धर्म का अंग बन गया। तालमुड में लिखा है, जब भी खाना खाओ या कुछ भी

कहानी डेविड की है। अपने घर की छत से उसने बाथशेवा को नहाते हुए देखा और वह उसपर आसक्त हो गया। बाथशेवा के पति उरिया को उसने युद्ध में भेज दिया, अकेले। ताकि, वह वहाँ मारा जाए। प्रोफेट नैथान को इस बात का पता लगा। उसने प्रचार किया—"यह ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध काम डेविड ने किया। ऐसे लोग जो दूसरों की पत्नियों को पाप-दृष्टि से देखते हैं, उनकी पत्नियों को उनके पड़ोसी बलात् ले जाएँगे। डेविड ने यह काम गुप्त रूप से किया और लोग खुले आम, दिन-दहाड़े यही करेंगे। पापी को सजा उसी तरह से मिलेगी।"

बाद में यहूदी धर्म में बड़े-बड़े लेखक प्रोफेट आए : आमोस, होसिया, मिकाह, जेरेमियाह, इसायाह आदि। यहाँ भी प्रेषितों के दैवी उन्माद की कथाएँ दी गई हैं। अब इन प्रेषितों ने ईश्वरेच्छा को लेखबद्ध किया। सारे समाज के पापों की भर्त्सना की। इस समय संपत्ति मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में संचित हो गई थी। गरीब लोगों को पशुओं की तरह तप्त मुद्रा लगाई जाती और गुलामों की तरह एक जूते की जोड़ी के एवज में वे बेचे-खरीदे जाते। स्वामी दासों के साथ चाहे जैसा दुर्व्यवहार करते। स्त्रियों के साथ चाहे जैसा अत्याचार होता। अनिच्छित संतान सड़कों पर मरने के लिए छोड़ दी जाती। ऐसे समय इसराइल देश राजनैतिक शत्रुओं से घिरा हुआ था। ऐसे समय यहूदियों ने ईश्वर की इच्छा को प्रमाण मानकर संघर्ष आरंभ किया। ईश्वर अपनी प्रिय संतान को इस प्रकार सदा दुःख में नहीं रखेगा। ईश्वर जिसपर प्रेम करता है, उसे वह अवश्य बचाएगा। ईश्वर ने सोचा कि मेरे सामने खाली प्याले हैं। यदि मैं इन्हें बहुत गर्म पानी से भरता हूँ, तो काँच चनकेगा। यदि मैं इन्हें बहुत ठंडे पानी से भरता हूँ, तो काँच तड़केगा। सो गर्म और ठंडे पानी को मिलाकर मैं इन्हें भरूँ। वैसे ही संसार में अत्यधिक दया और अत्यधिक न्यायनिष्ठुरता से बचकर ईश्वर ने दोनों का मिश्रण दिया।

यहूदी धर्म के प्रचारक प्रेषित सीधे-सच्चे किसान हैं, सुसंस्कृत नागरिक भी हैं। कुछ ईश्वर की वाणी को सिंह-गर्जन की तरह सुनते हैं; कुछ तूफान से पहले के सन्नाटे में ईश्वर का शब्द सुनते हैं। प्रत्येक मनुष्य को बड़ी-से-बड़ी सत्ता को चुनौती देने का अधिकार है। ये प्रेषित एक भूचाल की तरह आते हैं। इतिहास में विस्फोट पैदा करते हैं। इस प्रकार से जब-जब आवश्यकता हुई, यहूदियों को ईश्वर के दूत मिल गए।

ईश्वर दंड भी दिलाता है। आमोस में लिखा है :

"जो लोग अपना सत्य चाँदी के टुकड़ों के लिए बेच देते हैं
जिनके गरीब जूते की जोड़ी के लिए बेचे जाते हैं
ऐसे लोगों के देश को शत्रु घेर लेगा
और तुम्हारे बड़े-बड़े प्रासाद लूटे जाएँगे।"

जेरेमियाह में भी यही स्वर है—'तुम्हारे नगर बरबाद हो जाएँगे। उनके रेगिस्तान बन जाएँगे।'

ईसा-पूर्व ७२१ में असुरिया ने यहूदियों का उत्तरी राज्य पूरी तरह नष्ट कर दिया। ईसा-पूर्व ५८६ में दक्षिण का यहूदी राज्य भी पराजित हो गया। इसके बाद भी यहूदी जाति पूरी तरह से नष्ट नहीं हो सकी। उन्होंने इस दुःख में अर्थ खोज निकाला। यहूदी मसीहाओं ने यह कहा कि यह पूरी जाति को दंड ही नहीं है, इससे बहुत कुछ सीखना है, पश्चात्ताप करना है। मिस्र में गुलाम अवस्था में स्वतंत्रता का अर्थ यहूदियों ने पहचाना।

"बैबिलोन की नदियों के किनारे हम बैठ गए
हाँ, हम रोते रहे. जब हमने जायन को याद किया
वहीं की बेलों पर हमने अपने तंतु-वाद्य लटकाए
वे हमें दास बनाकर ले जा रहे थे और गाना गाने को कहते थे
और वे हमें चिढ़ाते थे—हाँ-हाँ अब, जायन का गाना गाओ
इस अजनबी देश में हम अपने प्रभु का गीत कैसे गाएँ ?
यदि हम तुम्हें भूल जाएँ, ओ येरूशेलम, तो मेरा यह दाहिना हाथ मर जाए
यदि हम तुम्हें भूल जाएँ, तो मेरी यह जिह्वा झड़ जाए।"

(साम, १३७)

फारस के राजा सिरस ने बैबिलोन पर ईसा-पूर्व ५३८ में विजय प्राप्त की और यहूदियों को फिलस्तीन लौटने की अनुमति दी। तबसे उनके दिल में आजादी के लिए एक विलक्षण आग सुलग पड़ी। इस प्रकार से जलावतन होने पर, देशनिकाला मिलने पर, यहूदियों ने अपने धर्म में और एक गहरा अर्थ पाया।

यहूदियों के लिए अपना छोटा-सा देश ही ईश्वर बन गया। पवित्र देश एक धर्म का अंग बन गया। तालमुड में लिखा है, जब भी खाना खाओ या कुछ भी

पियो, तो ईश्वर को धन्यवाद दो। उसी की कृपा से तुम जी रहे हो। उसे याद न करके खाना ईश्वर की वस्तुओं को चुराने के समान है। जीवन की अच्छी चीजों का आनंद उठाओ, पर साथ-ही-साथ ईश्वर का सतत स्मरण करो; क्योंकि ईश्वर के कारण ये सब अच्छी चीजें तुम्हें उपलब्ध हुई हैं। इसलिए, यहूदी धर्म में परंपराओं, विधियों और नियमों का बड़ा महत्त्व है। पुरानी बाइबिल की पहली पाँच पुस्तकें 'तोरा' कहलाती हैं, जो यहूदियों के पूज्य धर्मग्रंथ हैं।

ये ग्रंथ यहूदियों को ईश्वर ने एक चमत्कार की तरह दिखाये। उनका मनुष्यों को साक्षात्कार हुआ। हजरत मूसा कहता है कि 'हम मिस्र में फारोहा के गुलाम थे। ईश्वर हमें छुड़ा के लाया।' यह फारोहा के बंदीगृह से पलायन और स्वदेश लौटना यहूदियों की दृष्टि में ईश्वर की कृपा थी। 'ईश्वर के अनुग्रह से इसराइल मृत्यु से बच गया और मिस्रियों की शक्ति से मुक्त हुआ।' (एक्सोडस, १२.५०)

यहूदियों पर इस प्रकार से प्रभु या ईश्वर प्रकट हुए। वह सर्वशक्तिमान् था। मिस्र जैसे प्रबल साम्राज्य को वह नष्ट कर सकता था। 'ओ इसराइल, तुम सुखी हो। तुम याहवेह द्वारा रक्षित मनुष्यों की तरह हो।' यह प्रकट होना यहूदियों को आजीवन एक अनुबंध में बाँधता है। अन्य अनुबंध तो जीवन के साथ नष्ट होते हैं; पर यह समस्त जाति के साथ अनुबंध है, जो वंशानुक्रम से चलता रहेगा। यह ईश्वर ने अपने चुने हुए लोगों के लिए यानी यहूदियों के लिए दिया है। सारी पृथ्वी में ये ही लोग ऐसी कृपा के अधिकारी थे। जापानी लोग भी अपने-आपको सूर्य-देवता की विशिष्ट संतान मानते हैं। कुछ रवाय यह मानते हैं कि ईश्वर ने पवित्र ग्रंथ 'तोरा' और देशों को देने का यत्न किया, पर किसी ने वह नहीं लिया। यहूदियों ने उसे स्वेच्छा से स्वीकार किया। इसलिए, तोरा के नियम यहूदियों पर विशेष रूप से लगे। निकोलस बार्दाएव कहते हैं, 'इतने विरोधों के बावजूद यहूदी जाति अबतक बराबर जीवित रही, यह एक रहस्यमय घटना है। इसका कोई तार्किक उत्तर नहीं है।'' ईश्वर ने यहूदियों को ही विशेष रूप से चुना। इसका एक कारण यह दिया जाता है कि यहूदी जाति को सर्वाधिक दुःख सहन करना पड़ा। अन्य कुछ यहूदी मानते हैं कि ईश्वर द्वारा उनके चुने हुए या विशिष्ट जाति होने की बात अब अर्थहीन है।

यहूदी जाति ने कार्लमार्क्स, सिग्मंड फ्रायड, अलबर्ट आइनस्टाइन जैसे तीन मनीषी एक-डेढ़ सदी के भीतर दिए। यहूदी विचारधारा में परम आस्तिक से परम नास्तिक तक सब प्रकार के लोग आते हैं। यह एक बहुत बुद्धिमान् जाति है। इसलिए, इस मत में सब प्रकार के विश्वासों को एक साथ रहने की छूट है। मुख्यतः परंपरावादी, जायनिस्ट (देश को ही धर्म माननेवाले) और आधुनिक वैज्ञानिक ये तीन प्रकार के यहूदी विश्व में हैं। 'तोरा' मूल धर्मग्रंथ है, 'तालमुड' विधि-पुस्तक। एक श्रुति, दूसरी स्मृति। जैसे : कुरआन और हदीस। तीसरा ग्रंथ मिद्राशिम है, जिसमें और कई नैतिक कथाएँ हैं। ये लोग अपनी भाषा हिब्रू को पवित्र भाषा और अपने देश इसराइल को पवित्र देश मानते हैं। सन् १९४८ ई० में आधुनिक इसराइल की स्थापना हुई। धार्मिक कारणों के अतिरिक्त प्रमुख राजनैतिक कारण ये थे :

१. सुरक्षा : नाजियों ने अपने अंध-यहूदी-द्वेष में ६०,००,००० यहूदियों को (संसार में उनकी जनसंख्या के एक-तिहाई हिस्से को) नष्ट कर दिया।

२. मनोवैज्ञानिक कारण : सारी दुनिया में सब जगह अल्पसंख्यक बने रहना गलत था। इससे विकास में बाधा पड़ती है।

३. सांस्कृतिक कारण : यदि इस जाति का अपना देश न हो, तो इसकी सांस्कृतिक परंपरा कैसे टिकाई रखी जा सकेगी ?

४. आदर्शवादी तर्क : विश्व में एक देश तो हो, जो प्रेपितों के आदर्शों पर ऐतिहासिक कार्य करता रहे।

इस छोटे-से देश ने बहुत थोड़े समय में बहुत बड़ा विकास किया है। यहूदी जाति पश्चिम की सभ्यता के इतिहास में बराबर उन शक्तियों के साथ रही है, जिसने इतिहास को मोड़ दिया। आरंभ में ये यहूदी मध्यपूर्व में अनेक संस्कृतियों के संगमस्थल पर मौजूद थे। बाद में वे रोमन-साम्राज्य, बैबिलोनी साम्राज्य, इस्पाहानी साम्राज्य, जर्मनी और पोलैंड में बढ़ते रहे। अब संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विकास में यहूदी व्यापारियों का बहुत बड़ा हाथ है। रूस के इतिहास में भी यहूदियों की समस्या एक बड़ी समस्या रही है।

संख्या में छोटी, पर शक्ति और जीवट में महान् इस जाति के धर्म में ईश्वर-निष्ठा ने बहुत बड़ा कार्य, उसे बनाये रखने में किया है। भारत में भी कोचीन के प्राचीन मंदिर में और बंबई के बेने-इसराइल लोगों में यहूदी धर्म रहा। उनमें से कई अब इसराइल वापस गये हैं।

●

९. (क) कन्फ्यूशियस के धर्म में ईश्वर

कुंग फु-त्सु अथवा कुंग स्वामी (जिन्हें अँग्रेजी में कन्फ्यूशियस कहते हैं) चीन के सर्वप्रथम गुरु माने जाते हैं। वह स्वयं अपने-आपको 'प्राचीनों का प्रेमी' कहते थे। उनकी विनम्रता के बावजूद वे चीनी संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण आदि आचार्यों में माने जाते हैं। उनका जन्म ईसा-पूर्व ५५१ में लु (जो अब शांतुंग सूबे में है) जिले में हुआ था। उनके माता-पिता के बारे में निश्चित रूप से कोई कुछ नहीं जानता, परन्तु इतना पता चलता है कि उनका बचपन सादगी और गरीबी में बीता। 'जब मैं छोटा था, तब मेरा कोई दर्जा नहीं था और हमारी हालत बहुत छोटी थी।' कन्फ्यूशियस तीन बरस के भी नहीं हुए थे कि पिता का देहांत हो गया। उनकी माँ बहुत गरीब, पर विलक्षण थी। उन्हें बचपन में हलके काम करने पड़े। दरिद्रनारायण के साथ उनका संबंध हमेशा के लिए जुड़ गया। अपने बचपन की याद में शिकार करना, मछली पकड़ना, धनुष चलाना आदि बातों का वे उल्लेख करते हैं, जिससे पता चलता है कि वे किताबी कीड़े नहीं थे। उन्होंने पढ़ाई में भी काफी कामयाबी हासिल की। 'मैं पंद्रह वर्ष का हुआ, तब मैंने पढ़ाई में अपना ध्यान लगाया।' बीस-पच्चीस बरस तक वे छोटी-मोटी सरकारी नौकरियाँ करते रहे। शादी हुई, पर वह बहुत सफल नहीं रही। वे अंत में एक अध्यापक बने। यही उनका मुख्य पेशा बना रहा। गुरु के नाते उनकी कीर्ति बहुत तेजी से फैली और उनके कई शिष्य आन जुटे।

कन्फ्यूशियस सोचते थे कि प्रशासन हाथ में आ जाए, तो काम जल्दी से हो सकता है। एक बार वेई-राज्य में आबादी बहुत बढ़ रही थी, तो उनसे पूछा गया—'कैसे रोकें?' वे बोले—'उन्हें अमीर बनाओ।' 'और उसके बाद?' 'उन्हें शिक्षित करो।' यही उनका उत्तर था। कुछ जीवनी-लेखकों ने लिखा है कि कन्फ्यूशियस को कुछ अरसे के लिए लोकनिर्माण का, और बाद में न्याय का मंत्री बना दिया, और अंत में मुख्यमंत्री। और, उस समय लु-प्रांत सबसे आदर्श राज्य बन गया। पर, इस कहानी में सत्य कम है। तथ्य यह था कि उस समय के राजा इतने अन्यायी और लोगों से पैसा बटोरनेवाले थे कि कन्फ्यूशियस की कीर्ति सुनकर उस राजा ने उनसे सलाह माँगी कि मैं कैसे

राज्य करूं । गुरु बोले—'पहले अपने-आप पर राज्य करना सीखो, फिर दुनिया पर राज्य करने की सोचो।' राजा ने उन्हें मृत्युदंड नहीं दिया। पर, ऐसा बड़ा-सा नाममात्र का पद दे दिया कि उसमें कोई शक्ति नहीं थी। इस पद से कोई कार्य नहीं होता देखकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। पचास वर्ष की आयु में उन्हें 'दैवी निमंत्रण' मिला। तब तेरह वर्ष वे पद-यात्रा करते रहे। हर प्रांत में घूमे और सबको उपदेश देते रहे। प्रशासकों से कहा कि शासन कैसे सुधारें। वह चाहते रहे कि कभी उन्हें भी अधिकार मिले, जो उन्हें नहीं मिले। एक राहगीर ने कहा—'गुरु का उपयोग भगवान् घंटे की तरह कर रहे हैं, जनता को जगाने के लिए !' जीवन में इस तरह से कन्फ्यूशियस को गहरी निराशा मिली। उनके उपदेश कोई नहीं सुनते थे। जनता भी भी उन्हें नहीं चाहती थी। बहुत थोड़े-से शिष्य बराबर उनके साथ बने रहे। उनके नाम थे मिंग-त्सु, त्सु लु, जान चिउ, त्सु कुंग आदि। जीवन के अंतिम पांच वर्ष वे प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन करते रहे। ईसा-पूर्व ४७९ में ७५ वर्ष की पकी उम्र में उनका देहावसान हुआ।

राजनीति में नेतृत्व पाने में असफल होने पर भी कन्फ्यूशियस दुनिया के श्रेष्ठतम अध्यापकों और गुरुओं में माने जाते हैं। वे सुकरात की तरह अनेक विषयों पर आधिकारिक ढंग से बोल सकते थे। वे प्रश्न करते और इस प्रकार से अपने छात्रों और अनुयायियों में विचारोत्तेजना विकसित करते। वे समाज-सुधार करने को व्यग्र थे, पर वे अतिवादी थे। एक बार उनके एक सदेहवादी साथी त्साई वो ने उनसे मजाक में पूछा : 'यदि कोई परोपकार करनेवाले से कहे कि उस कुंए में एक आदमी है, तो वह परोपकारी क्या कुंए में कूद पड़ेगा ?' कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया : 'पहले वह इस बात का पता कर लेगा कि कुंए में आदमी है या नहीं, तभी वह आगे बढ़ेगा।' एक बार किसीने उनसे कहा : 'क्या कोई भी काम करने से पहले तीन बार सोचना जरूरी है ?' तो उन्होंने उत्तर दिया : 'दो बार काफी होगा।' उन्हें पता लगा कि त्सु कुंग नामक उनका शिष्य उनकी आलोचना कर रहा है, तो वे विनोद में बोले—'हां, वह स्वयं पूर्ण ज्ञानी हो गया होगा, तभी उसे आलोचना करने की फुरसत मिली। मेरे पास तो अभी समय ही नहीं होता।' 'मेरे लिए मोटा खाना, पीने को पानी और सोने को अपनी ही मुड़ी हुई बांह का तकिया काफी है। मैं इसी में सुखी हूं। गलत कामों से पैसा और

सम्मान कमाया भी, तो वह मेरी दृष्टि में उड़ते बादलों से अधिक मानी नहीं रखता।'

मरने के बाद उनकी कीर्त्ति बढ़ी। उन्हें गुरु और स्वामी माना गया। दो हजार वर्षों में ही हर चीनी-घर में एक कोने में कुंग-फु-त्सु की प्रतिमा या चित्र होता है, जिसे हर चीनी-बच्चा दोनों हाथ जोड़कर सवेरे प्रणाम करता रहा है। हर विद्यार्थी ने उनके ग्रंथ पढ़े हैं। उनके वचन किसानों की बातचीत में पहुंचे हैं। सारे प्रशासन में उनका प्रभाव है। कई जगह तो उन्हें देवता बना दिया गया। दुनिया की एक-पंचमांश लोकसंख्या पर इतना बड़ा प्रभाव सन् १९३८ ई० तक जिस एक विचारक का रहा, उसके वचनों में ऐसी क्या विशेषता थी ? उनकी नैतिक सूक्तियाँ कुछ इस प्रकार थीं, जैसे :

—क्या वह सच्चा दार्शनिक नहीं है, जिसे कोई भी महत्त्व न दे, सब उपेक्षा से देखें, फिरभी जिसके मन में कोई गुस्सा न हो ?
—जो तुम अपने साथ होने देना न चाहो, वह दूसरों के साथ न करो।
—मुझे इसका दुःख नहीं है कि मनुष्य मुझे नहीं जानते, मुझे इसका दुःख है कि मैं मनुष्य को नहीं जानता।
—सज्जन सदा पहले खुद करता है, फिर दूसरों से कहता है।
—ज्ञान का अर्थ है, जब तुम किसी चीज को जानो, तो पहचानो कि मैं जानता हूँ; और जब न जानते हो, तो जानो कि मैं नहीं जानता।
—जब कोई अपने से बड़ा या अच्छा आदमी देखो, तो सोचो, मैं उससे क्या सीख सकता हूँ। जब कोई छोटा या बुरा आदमी देखो, तो अपने चरित्र के भीतर झाँककर देखो।
—सबके साथ दया करो। पर, केवल पुण्यात्माओं से मैत्री रखो।
—अपने मन में झाँककर देखो। अगर वहाँ कोई पाप नहीं है, तो फिर किसीसे क्या डरना ? किस बात की चिंता है ?
—घर में नौकर-नौकरानियों को रखना अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि उनके प्रति मैत्री दिखाओ, तो वे आपका आदर नहीं करते; और उनसे खिचे रहो, तो उसे वे पसंद नहीं करते।

इस तरह के कन्फ्यूशियस के वचन थे, जो सुभाषित और सदुक्तियाँ कही जा सकती हैं। परंतु, उनमें धर्मग्रंथों के वचनों की तरह कोई शक्ति नहीं दिखाई देती। यह हमारी समझ में तब आएगी, जब हम उस काल का विचार

करेंगे। तब चीनी समाज में परंपरा का महत्त्व कम हो रहा था, और एक प्रकार की सामाजिक अराजकता छाई हुई थी। ऐसे समय कन्फ्यूशियस का कार्य, ऐतिहासिक दृष्टि से, बहुत महत्त्वपूर्ण था। परंपरावादी रूढ़िवादी बन गए थे। एक ओर वे यथार्थवादी थे, 'शठं प्रति शाठ्यम् आचरेत्' मानते थे। जैसे, भारत में कौटिल्य। दूसरी ओर हमारे गांधीवादियों की तरह से मो-त्सु या मोती के माननेवाले मोहवादी थे, जो सब चीजों का हल प्रेम और अहिंसा से पाना चाहते थे। मो-त्सु ईसा से पाँच शताब्दी पहले युद्ध-विरोध और 'हिंसा का उत्तर अहिंसा से दो' सिखा गया था। कन्फ्यूशियस दोनों अतिवादी पंथों को नहीं मानते थे। वे मध्यम-मार्ग, सुवर्ण-मध्य, या तीसरा नया मार्ग बनाना चाहते थे। वे यह मानते थे कि प्राचीन चीन में महान् समन्वय और संतुलन का स्वर्णकाल कभी था। परंपरा से उसे ग्रहण करना चाहिए। वह बराबर चीनियों के रक्त-बीज में समाया हुआ है। परंतु उतना ही काफी नहीं है।

त्सु किंग ने पूछा—'ऐसे आदमी को आप क्या कहेंगे, जिसे सारा नगर और उसके निवासी चाहते हों ?'

कन्फ्यूशियस ने उत्तर दिया—'उतना ही काफी नहीं है। अधिक अच्छा होता कि जो अच्छे नागरिक हैं, वह उसे चाहें, और जो बुरे हैं, वह उससे घृणा करें।'

कन्फ्यूशियस ने जो नैतिक मूल्य सिखाये, वे पाँच थे : जेन, चुन-त्सु, लि, ते, वेन।

१. 'जेन' यह चीनी अक्षर 'मनुष्य' और 'दो' के मिलाने से बनता है। इस शब्द के कई अर्थ दिए गए हैं : अच्छाई, मनुष्य-मनुष्य में प्रेम-संबंध, दया, सहृदयता आदि। कन्फ्यूशियस की दृष्टि से यह सर्वोत्तम गुण था। सद्गुणी मनुष्यों के लिए यह गुण जीवन से भी अधिक मूल्यवान् था। इसी गुण से मनुष्य पशु से भिन्न और श्रेष्ठतर है। ऐसा व्यक्ति सदा सहानुभूति से भरा होता है।

२. 'चुन-त्सु' सच्ची और श्रेष्ठ मनुष्यता का गुण है। 'सज्जन' शब्द अब केवल अच्छे व्यवहार और शिष्टाचार तक सीमित हो गया है। 'चुन-त्सु' जिसमें है, वह अच्छा अतिथि और अच्छा गृहस्थ है। उसकी बातचीत, व्यवहार, आचार-उच्चार सब संतुलित होते हैं। वह आत्मश्लाघा नहीं करता।

वह अपने बारे में अधिक नहीं बोलता, वह रागद्वेष पीडित नहीं होता, वह 'सुखेषु विगतस्पृहः' और 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' होता है। वह स्थितप्रज्ञ होता है। कन्फ्यूशियस कहते हैं :

हृदय में पवित्रता हो, तो चरित्र में सौंदर्य होगा
चरित्र में सौंदर्य होगा, तो घर में संतुलन होगा
घर में संतुलन होगा, तो देश में सुव्यवस्था होगी
देश में सुव्यवस्था होगी, तो संसार में शांति होगी

३. 'लि' के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ है औचित्य—उत्तम व्यवहार। कन्फ्यूशियस नामों के सही उच्चारण, शब्दों के उचित प्रयोग पर बहुत जोर देते थे। चीनी-भाषा में 'चुंग-युंग' का अर्थ है 'मध्यम' और 'स्थिर' या 'स्थायी'। यहाँ अहंकार को कम करने की बात कही गई है। पारिवारिक और सामाजिक संबंधों में निम्नांकित पाँच संबंध बहुत महत्त्वपूर्ण बताए गए हैं : पिता पुत्र, बड़ा भाई-छोटा भाई, पति-पत्नी, बड़ा मित्र-छोटा मित्र, प्रजा-राजा। इसमें वृद्ध या वय में श्रेष्ठ की बात सदा मानने पर जोर है।

'लि' का दूसरा अर्थ है व्यवस्था, विधि-पूर्वक किसी कार्य को संपन्न करना। जीवन तभी ठीक से चलता है, जब वह नियमानुकूल हो। कायदे से, करीने से जिया जाए।

४. 'ते' का अर्थ था शक्ति। शक्ति केवल शारीरिक या भौतिक होती है, यह कन्फ्यूशियस नहीं मानता था। उनके सामने 'चिन'-वंश का राज्य फौजी ताकत से नौ वर्ष तक फैला और बाद में नष्ट हो गया। टेलीरैंड ने ठीक ही कहा था कि 'संगीनों से आप सब कुछ कर सकते हैं, पर उनपर बैठे नहीं रह सकते!' कन्फ्यूशियस की कई कहानियों में से एक बहुत सुंदर है। ताई पर्वत के एकांत निर्जन में घूमते हुए उन्हें एक रोती हुई स्त्री का स्वर सुनाई दिया। उन्होंने पूछा कि वह क्यों रो रही है, तो उसने उत्तर दिया : 'मेरे पति के पिता को यहाँ बाघ खा गया, और मेरे पति को भी वह खा गया, और मेरे पुत्र का भी वही हश्र हुआ।'

कन्फ्यू०—'तो तुम ऐसी भयानक जगह में क्यों रहती हो?'

उस स्त्री ने उत्तर दिया—'इसलिए कि यहाँ कोई अन्यायी राजा नहीं है।'

यह कहानी सुनाकर अपने शिष्यों से कन्फ्यूशियस ने कहा—'विद्यार्थियो, याद रखो, अन्यायी राजा बाघ से भी बुरा होता है।' किसी भी राज्य की

सफलता के लिए आर्थिक और सैनिक शक्ति के साथ-साथ जनता का विश्वास प्रधान वस्तु होती है। यदि वह खो दिया, तो राज्य चल नहीं सकता। इसलिए सच्ची 'ते' या शक्ति नैतिक होती है। आदर्श सामने रखने में, जैसे ध्रुवतारा। एक बार राजा ने उनसे पूछा कि राजा-प्रजा का संबंध कैसा होना चाहिए, तो वे बोले—'हवा और घास जैसा। जिधर हवा बहेगी, घास झुकेगी ही।'

५. 'वेन' का अर्थ है शांति की कलाएँ। इसका अर्थ है संगीत, चित्रकला, कविता—समूची संस्कृति। कन्फ्यूशियस इन्हें बहुत महत्त्व देता था। संगीत से वह ऐसा झूम उठता कि तीन-तीन महीने तक खाना-पीना भूल जाता। वह मनुष्य मनुष्य ही नहीं, जिसपर संगीत का प्रभाव न होता है। 'कविता मन को जगाती है। संगीत से मन सुसंस्कृत बनता है।' उनके हिसाब से अंततः इन कलाओं द्वारा ही अंतरराष्ट्रीय सद्भावना विकसित होगी। रोमन-साम्राज्य सैनिक शक्ति से कितने दिन चल सका। अंत में, अन्य देशों की ललित कलाओं की याद ही अधिक दिनों तक की जाएगी।

इस सारी चर्चा से यों लगेगा कि कन्फ्यूशियस का धर्म अध्यात्म से अधिक नीतिशास्त्र है। परंतु, स्वयं कन्फ्यूशियस को उनके अनुयायी देवता मानते हैं। इसलिए, सारी उपर्युक्त चर्चा को उसी दृष्टि से देखना चाहिए। फिर भी, इस धर्म में अध्यात्म और ईश्वर की चर्चा कुछ इसी प्रकार से की गई है।

चीन में उस समय जो धर्म प्रचलित था, उसमें स्वर्ग का अर्थ था पितर (ति) और उनपर राज्य करते थे सर्वश्रेष्ठ पितर (शंग ति)। स्वर्ग और पृथ्वी में, इस प्रकार से, निरंतर संबंध बना रहता ही है। मृत्यु का अर्थ था इस पृथ्वी पर से ऊपर आकाश में जाना, एक तरह की पद वृद्धि। स्वर्ग सदा पृथ्वी का ध्यान रखता है। आबहवा या जलवायु स्वर्ग का 'मूड' है। स्वर्गवासी अधिक आदर के पात्र थे और हैं। अतः, उन्हें बलि, भोग और चढ़ावा बराबर देते रहना चाहिए।

पृथ्वी स्वर्ग के साथ जो बातचीत करती है, वह बलि या उपहार द्वारा। यह सब बलि की अग्नि (यज्ञ) के धुएँ के रूप में ऊपर पहुँचाई जाती है। प्रत्येक पुराने चीनी गाँव में ऐसी अग्नि के लिए पवित्र वेदी बनी होती। जब कोई राजा सिंहासन पर आता, तब वह 'स्वर्ग का पुत्र' ऐसी वेदियों पर सामूहिक बलि चढ़ाता। यानी, वे सब मानवी व्यवहार, जिनपर उसका कोई अधिकार

नहीं होता, उनमें दैवी इच्छा प्रधान होती है। उन सबके शुभ या अशुभ शकुन होते हैं। उदाहरण के लिए, छींक, खुजली, ठोकर, कान में आवाज आना किसी अंग-विशेष का फड़कना, पलकों का झपकना, डकार या उबकाई इत्यादि। बाह्य दैवी चिह्नों में तूफान, बिजली, सितारे, पशु-पक्षी, कीड़ों की गति आदि सभी माने जाते थे। आज भी चीनी ज्योतिषी कीड़ों की गति से भविष्य बताते हैं। जमीन पर पीली घास छितरा कर हवा के रुख से भविष्य बताना (हमारे देश में देवता की मूर्त्ति पर फूल चढ़ाकर उसके गिरने से 'कौल' लिया जाता है) ; कछुए की पीठ पर गर्म सलाख लगने के बाद वह किस दिशा में टूटता है, इससे मानव-नियति निश्चित करना आदि चीनियों के विश्वास थे। यात्रा हो, युद्ध हो, जन्म हो या विवाह हो, सब समय शकुन-विचार होता था। एक अतिथि आया, उसे मेजवान ने कहा—'शाम तक रुक जाइए।' तो वह बोला—'मैंने सवेरे का शकुन देखा था, शाम का नहीं। तो शाम का मैं कैसे कह सकता हूँ ?'

यों प्राचीन चीनी धर्म में स्वर्ग में पितरों से सीधे संबंध, बलि-विधि और शकुन-विचार तो था ही, जिसमें पृथ्वी से अधिक स्वर्ग पर बल दिया जाता था। कन्फ्यूशियस ने चीनियों का ध्यान स्वर्ग से बदल कर धरती की ओर खींचा। और, ऐसा करते समय उन्होंने स्वर्ग का विचार पूरी तरह छोड़ नहीं दिया। एक बार उन्हें पूछा गया, कि 'भूत-प्रेतों की सेवा करें या नहीं ?' तो वे बोले—'मनुष्यों की ही सेवा पूरी तरह नहीं हुई, तो भूतों की सेवा क्या कर सकोगे ?' ऐसे ही मृत्यु के बारे में पूछा गया तो बोले, 'जीवन को ही ठीक तरह से नहीं जाना, तो मृत्यु को कैसे जानोगे ?' परंतु साथ ही वे यह भी मानते थे कि संसार में कोई शक्ति है, जो सदा पुण्यवान् की सहायता करती है। हर सज्जन को 'स्वर्ग की इच्छा' से डरना चाहिए। एक बार लंबी पद-यात्रा में क्वांग गाँव में उनपर हमला हुआ, तो उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा—'मुझे स्वर्ग ने भेजा है एक विशेष संदेश देने के लिए। और, जबतक वह पूरा नहीं होता, क्वांग के लोग मुझे कैसे मार सकते थे ?' 'जाको राखे साइँयाँ, मार सके ना कोई' का ही यह चीनी-रूप है। जब लोग उसकी उपेक्षा करते थे, तब वह अपने मन का समाधान करता—'स्वर्ग ऊपर है, वह मुझे जानता है !' उन्होंने यह भी कहा कि 'जो ईश्वर को नाराज करता है, वह किसके आगे प्रार्थना करेगा ?'

कन्फ्यूशियस का धर्म आधुनिक बुद्धिवादी, मानवतावादी की तरह था—जो यह मानता है कि इस दृश्य भौतिक सत्ता के पीछे कोई अदृश्य शक्ति है, जो उससे परे है और बड़ी है। ईशावास्योपनिषद् का आरंभिक मंत्र ही है 'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत्।' पीपिंग में कन्फ्यूशियन मंदिर है, जहाँ एक दर्शक ने लिखा—'यहाँ स्वर्ग, पृथ्वी और मैं एकाकार हो जाते हैं। प्रकृति और मानव एकाकार हैं' और कन्फ्यूशियस इसका प्रधान निमित्त था।

हान-वश (२०६ ईसा-पूर्व से २२० ई०) में कन्फ्यूशियस का धर्म चीन का राज्य-धर्म था। सन् ५९ ई० में सब नगरों के स्कूलों में कन्फ्यूशियस के लिए बलि और चढ़ावे दिए गए, सातवीं, आठवीं शती तक उनके मंदिर बन गए। बारहवीं शती में उनके 'एनेसेक्ट्स' ग्रंथ को धर्मग्रंथ मान लिया गया। सुंग-वंश में उसे एक अनिवार्य पाठ्य-पुस्तक बना दिया गया। और, सन् १९३४ ई० से उनका जन्मदिन राष्ट्रीय छुट्टी का दिन माना जाने लगा। चीन में संयुक्त परिवार का महत्त्व वयोवृद्धों का सम्मान, विद्वानों का आदर, पश्चात्ताप की महत्ता आदि कन्फ्यूशियस के सिद्धांतों की विजय के उदाहरण हैं। माओ-त्से तुंग ने कहा कि 'मार्क्स और लेनिन के साथ-साथ हर कम्युनिस्ट को कन्फ्यूशियस को भी पढ़ना चाहिए।' ह्यूस्टन स्मिथ ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'नेहरू से अधिक कालतक गांधी याद किए जाएँगे, और माओ-त्से-तुंग से अधिक काल तक कन्फ्यूशियस को लोग याद रखेंगे।'

(ख) ताओ-धर्म में ईश्वर

ताओ-धर्म या जैसे उसका उच्चारण होता है, 'दाओ'-धर्म लाओ-त्स के साथ ६०४ ईसा-पूर्व में आविर्भूत हुआ। कुछ विद्वान् लाओ-त्स को तीन शताब्दी बाद का बताते हैं। और, कुछ विद्वान् यहाँतक कहते हैं कि इस नाम का कोई व्यक्ति था ही नहीं। होगा भी, तो उसके जीवन के तथ्यों के विषय में बहुत कम पता चलता है। लाओत्स का अक्षरशः अर्थ होता है – 'वृद्ध व्यक्ति' या 'वृद्ध शिक्षक'। इसमें आदर और प्रेम दोनों शामिल हैं। उसके जीवन के बारे में केवल कई दंतकथाएँ मिलती हैं।

कुछ बहुत विचित्र हैं। एक के अनुसार, उसका जन्म एक सितारे से हुआ था। उसकी माँ के गर्भ में यह तारा बयासी वर्ष रहा। जब उसका जन्म हुआ, तब उसकी सफेद लंबी दाढ़ी थी। चीन में पश्चिमी प्रदेश के एक नगर में वह प्राचीन ग्रंथागार का ग्रंथपाल था। वह बहुत सादा और नम्र जीवन बिताता था। सब कुछ उसके बारे में जो जाना जाता है, वह एक छोटी-सी पुस्तक के आधार से जाना जाता है। कुछ जोग मानते हैं कि वह अकेला था और किसी मठ में रहनेवाला संन्यासी या फकीर था। दूसरे लोग एक सहज, सौम्य, मृदुभाषी पड़ोसी के रूप में उसे चित्रित करते हैं। उसका एक समकालीन कहा जानेवाला चित्र मिलता है, जिससे उसके बारे में रहस्यमयता कम होने के बजाय बढ़ती ही है। कुंग फुत्सू (कन्फ्यूशियस) एक बार उनसे मिलने गए और जो वर्णन उन्होंने दिया है, वह इस प्रकार है: 'पक्षियों के पंख होते हैं, मछली के भी छोटे-छोटे पंख होते हैं। पशुओं के पैर होते हैं। पैरों के लिए बेड़ियाँ, मछलियों के लिए जाल, पक्षियों के लिए बाण पाए जाते हैं। पर पता नहीं, ये बड़े-बड़े पंखवाले अजगर हवा में कैसे उड़ते हैं, बादलों से कैसे घिरे रहते हैं। आज मैंने लाओ त्स को देखा, यानी ऐसे पंखवाले अद्भुत अज़दहे को देखा।'

उसके बारे में यह दंतकथा है कि मानव-जाति से वह निराश हो गया, उस जाति में कितना भी समझाने पर अच्छाई की बढ़ती नहीं देख वह एक भैंसे पर बठकर पश्चिम में तिब्बत की ओर चला गया और फिर कभी नहीं लौटा। हांका ओ दर्रे के पास इस विचित्र पुरुष को भागते हुए देखकर

एक सीमारक्षक ने कहा—'क्या हम संसार के लिए अपने अनुभवों का सार पुस्तक-रूप में नहीं छोड़ जाएँगे ?' तो, लाओ-त्स एक गुफा में चले गए। तीन दिनों में ५००० अक्षरों की एक पुस्तक बनाकर ले आए। वही 'ता ओ ते चिंग' या 'पथ और उसका प्रभाव' बनी। यह पुस्तक अब हिंदी-अनुवाद में उपलब्ध है। अनुवादक हैं डॉ० जगदीशचंद्र जैन और प्रकाशक साहित्य-अकादमी, नई दिल्ली। यह पुस्तक आधे घंटे में पढ़ी जा सकती है। वही ताओ-धर्म की एकमात्र मूल पुस्तक है।

क्या विचित्र जीवन था ऐसे धर्मसंस्थापक का। उसने न तो उपदेश दिए, न अपना गिरजा या मठ बनाया। उसने कुछ पन्ने लिखे, एक भैंसे पर बैठा और बस वह चला गया। और, उसका जहाँ तक संबंध है, मामला वहीं खत्म हो गया। बुद्ध बेचारे पैंतालीस वर्ष तक (संबोधि के बाद) भारत के नगर-ग्रामों की खाक छानते फिरे। कन्फ्यूशियस भी तेरह वर्ष तक बड़े-बड़े नगरों में अपने दर्शन को जमाने के लिए घूमता फिरा। और, यहाँ लाओ-त्स थे, जिनको तनिक भी परवाह नहीं थी कि कोई उनके विचारों को सफलता या असफलता प्रदान करेगा या उन्हें कीर्त्ति या वैभव उनसे मिलेगा। वे तो अपनी बात कह गए। वे जवाब के लिए भी नहीं रुके। अब यह सारी कहानी सच हो या झूठ, ताओ-धर्म के साथ यह इस तरह जुड़ी है कि उसे मानना ही पड़ता है।

ताओ ते चिंग के आरंभ में यह पता चलता है कि सब कुछ 'ताओ' शब्द के आस-पास घूमता है। 'ताओ' का अक्षरशः अर्थ है—पथ या मार्ग। अब यह शब्द तीन तरह से समझा जा सकता है :

१. पथ अंतिम सत्य है। यह 'ताओ' देखा नहीं जा सकता; क्योंकि वह इंद्रियों की पहुँच से परे है। यदि वह अपना पूरा विराट् रूप दिखा दे, तो मनुष्य उसे देख नहीं सकेगा। वह केवल इंद्रियातीत ही नहीं है, विचार और कल्पना से भी परे है। शब्द उसका वर्णन नहीं कर सकते, न परिभाषा। 'ताओ, जिसका विचार किया जा सकता है। वह सच्चा ताओ नहीं है'। यह वही उपनिषद् की बात है कि 'विज्ञातारम्' अजानताम् अविज्ञातं विजानताम्।' यह ताओ सबसे परे है, सबकी नींव है। अदृश्य है, अतीत है। यह सारे जीवन का मूल गर्भ है, और इसी में सारी सृष्टि का विलय होगा। 'ताओ ते चिंग' का लेखक उस ताओ के ध्यान में

प्रशंसोद्गार व्यक्त करता है, वह जीवन के 'मौलिक रहस्य, रहस्य के रहस्य, समस्त जीवन के रहस्य के प्रवेशद्वार' का प्रत्यक्ष दर्शन करता है। 'वह कितना स्वच्छ और शांत है ! वह चिरंतन अस्तित्ववाली वस्तु है !' 'सब वस्तुओं में ताओ ही सबसे महान् है।' ताओ सबसे पहली चीज है, जो रहस्यानुभूति का मूलाधार है।' 'जो ताओ को जानते हैं, उसे कह नहीं सकते; जो कहते हैं, वे जानते नहीं।' वह गूँगे का गुड़ है, शब्दातीत और सारे शब्दों का आदिस्रोत है।

२. ताओ विश्व का मार्ग है। सारे जीवन के भीतर और पीछे की लय है। सारी प्रकृति की मूल प्रेरणा है। सब चीजों के पीछे होने पर भी वह मूर्त्त रूप ग्रहण करता है। वही सबको जीवित रखता है। 'वही सबका सार-रूप है, वही उसकी विविध पूर्णता को स्पष्ट करता है, वही उसका परम प्रकाश है और वही धूल बन जाता है।' वह आत्मरूप होने से कभी नहीं चुकता, बल्कि जितना उसमें से निकालते जाओ, उतना ही वह भरता जाता है। जब शिशिर ऋतु आती है, तब हर पत्ते और फूल का जो होना होता है, वही होता है। किसी को उसके रूप या गंध के कारण बख्शा नहीं जाता। वह परम उदार, परम कृपालु है। वह विश्वमाता है। सदा देती रहती है। बर्गसाँ की जीवनी-शक्ति की तरह वह ताओ है। प्राचीन पश्चिम में जो 'लेक्स ऐटेर्ना' था—चिरंतन नियम या उसीके समान ताओ है।

३. ताओ वह मार्ग है, जिसपर मनुष्य को चलना चाहिए और अपने जीवन को नियमित बनाना चाहिए। उसी के आधार पर विश्व चलता है। चीन में ताओ-मत के एक नहीं, तीन रूप हैं।

मूलतः ताओ की शक्ति (ते) के तीन अर्थ लिए जाते हैं। शक्ति जादू से से आती है। लोकप्रिय ताओवाद जनता का ताओवाद है। उसमें पंडा-पुरोहित और अनेक तंत्र-मंत्र आते हैं। रहस्यवाद यहाँ जान-बूझकर लोगों को रहस्यमयता में डालने के बराबर हो जाता है। भूत-प्रेत और मृत्यु-पूजा और मृतक-संस्कारों की लंबी-चौड़ी विधि में वह खो जाता है।

दूसरा ताओवाद गुह्य पंथ है। ईसाई-धर्म के आने के बाद यह पंथ प्रचलित नहीं रहा। इतिहास में उसका प्रभाव बहुत कम रहा। इसलिए, उसका विशेष वर्णन नहीं मिलता।

तीसरा अर्थ है समाज को एकीकृत करके रखनेवाली शक्ति। कन्फ्यूशियस कहते थे कि ऐसी शक्ति नैतिक हो सकती है, पर गुह्यपंथी ताओवादी कहते थे कि वह शक्ति मानसिक है। योगक्रियाओं के द्वारा मन को संयत किया जा सकता है। मन को खाली रखना, सवेरे प्राणायाम करना आदि क्रियाओं से कुछ व्यक्तियों में वह 'शक्ति' आ सकती है। ऐसे अच्छे सिद्ध और योगियों के कारण समाज का स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। ये योगी प्रत्यक्ष कुछ नहीं करते, पर इस प्रकार से चुपचाप समाज को संचालित कराते रहते हैं। चिंताएँ नदी में जमनेवाली बालू की तरह नीचे रह जाएँगी और मनुष्य सीधे उस अवस्था में पहुँच जाएगा, जहाँ से वह केवल दृश्य चीजों को ही नहीं देखेगा, पर जिससे देखा जाता है, उस दृष्टि को देख सकेगा। उसके बारे में कहा गया है कि :

"वह निकट है, बिलकुल समीप; फिर भी वह अदृश्य है, ऐसा कि पहुँच से परे। दिखने में वह इतना दूर लगता है, जैसे असीम का दूसरा छोर हो। फिर भी वह इतना दूर नहीं है, प्रतिदिन हम उसी 'शक्ति' का उपयोग करते हैं। क्योंकि, ...जीवित आत्मा का मार्ग हमारे सारे शरीर में व्याप्त है, फिर भी हम उसे पकड़ नहीं सकते। वह चला जाता है, फिर भी पूरी तरह चला नहीं जाता। वह आता है, फिर भी वह यहाँ नहीं है। वह मौन है, उसकी ध्वनि तक नहीं सुनाई देती, फिर भी वह मन के भीतर है। वह धुँधला है, आकारहीन है, फिर भी वह ऐसा विराट् प्रवाह है, जो जन्म के साथ हमारे भीतर बहता रहता है।"

इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मुमुक्षुत्व, स्वच्छता, भावनात्मक शांति आवश्यक है। उसीमें से गहरी समाधि-अवस्था जागरित होती है। 'मौन में ध्यान रखो और आत्मा का प्रकाश तुम्हें अपना लेगा।' बाह्य इंद्रियों को अपने भीतर समेट लेना होगा—आंतरिक बिंदु तक। भारतीय आसनों (योगासनों) जैसी स्थितियाँ प्राणायाम आदि के लिए इस पंथ में सुझाई गई हैं। जैसे गर्भ पेट में होता है, वैसे ही मनुष्य को हो जाना चाहिए—मृदु और हल्का। इसीसे वह अवस्था आएगी, जिसे 'शून्य मन से बैठना' कहते हैं।

इस आत्मज्ञान के बाद सत्य, आनंद, शक्ति, सब एकाकार होकर मिल जाएँगे। यह केवल सुखमय मुद्रा नहीं है। यह उन्मनी मुद्रा है। इसमें तूर्यावस्था का आनंद है। सूफी जिसे 'हाल' की अवस्था कहते हैं। उसके बाद

तो ऐसी सिद्धि मिल जाती है कि आकाश और पृथ्वी को मनुष्य हिला सकता है। यह अवस्था केवल पूर्व के देशों में ही धर्मों में प्राप्त होती हो, ऐसी बात नहीं। सलीब पर संत जॉन को भी ऐसी ही सिद्धि मिलती है। बिना उँगली उठाए, अपनी आंतरिक नैतिक शक्ति से वह पूरे विश्व को हिला सकता है।

"यह संत कर्म के बिना कर्म करता है...
वह अपने-आपको पीछे रखता है; फिर भी वह सबसे आगे है
वह बाहर रहता है, फिर भी वह भीतर है
यह इसलिए संभव होता है कि वह किसी व्यक्तिगत हेतु से प्रेरित नहीं है
इसीलिए उसके सारे व्यक्तिगत हेतु पूरे हो जाते हैं।"

ऐसे साधु-संतों का मजाक भी उड़ाया गया। चुआंग त्सु ने कहा कि 'ये लोग भीतर की अपवित्र हवा बाहर फेंकते हैं और शुद्ध हवा भीतर खींचते हैं—इसके कारण वे बंदर-भालू की तरह पेड़ों पर जल्दी से चढ़ जा सकते हैं।' मेन्शियस ने लिखा कि 'ये लोग उन अधीर किसानों की तरह हैं, जो रात को जाकर अपने खेतों में पौधों को खींचकर जल्दी ऊँचा बनाना चाहता है।' ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी तक ताओवाद का प्रभाव, इन सब व्यंग्य-परिहासों के बावजूद बराबर बना रहा।

इस प्रकार से ताओ ते चिंग में 'ते' या शक्ति के तीनों रूप जनता द्वारा अपनाये जाते रहे : जादुई, गुह्य-तांत्रिक, दार्शनिक।

ताओवाद में दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द 'वेई' है। यह 'निष्कर्म' के अर्थ में है। उसे 'रचनात्मक शांति' भी कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति में जब अत्यधिक गति आ जाती है, तब वह अत्यधिक विश्रांति के समान लगती है। लट्टू जब बहुत जोर से घूमता है, तब लगता है कि वह स्थिर है। इसके लिए नित्यानित्य वस्तु-विवेक आवश्यक है। मन की बाहरी सतह को भीतरी गहराई से अलग करना पड़ता है।

'वू वेई' परम क्रिया है। ताओ के अनुसार, मन की तैयारी पहले जरूरी है। क्रियाशीलता उसमें से निकलती रहती है। ताओ ते चिंग में कहा गया है कि 'करने का अर्थ है होना।'

ताओ के अनुसार, परम अनुग्रह से परम क्रियाशीलता जगती है। वह अरुक है, वह हिंसा नहीं करती। ताओ भीतर और बाहर बहता रहता है—

कबीर के 'बाहिर भीतर पानी' की तरह। 'वू वेई' संघर्ष से परे का जीवन है :

"धनुष की डोर खींचिए
पछतावा होगा—डोर फिर वहीं चली जाएगी
पर तेज धारवाला आरा
चुपचाप, बारीक, भीतर चला जाता है।" (१५)

इस मार्ग में लचीलापन, सहजता और मुक्ति तीनों हैं :

"इस तरह चलो कि पैरों के निशान न दिखाई दें
इस तरह बोलो कि जिह्वा कभी न फिसले
इस तरह हिसाब करो कि कोई गिनतारा या गणक जरूरी न हो" (८)

एक मछुए के पास एक ऐसा धागा था, जो कहीं भी कच्चा नहीं था। उसीके सहारे वह चाहे जितनी मछली उतारता था। ताओ की शक्ति भी उसी धागे की तरह है।

'ताओ' के प्रतीक के रूप में उन्होंने पानी या जीवन को माना। पानी की शक्ति से वे चकित हुए थे—पानी बड़ी-बड़ी भारी चट्टानों को बहाकर ले जाता है। चीनी-भाषा में 'तैराक' के लिए जो चित्राक्षर है, उसका अर्थ है—'वह व्यक्ति, जो पानी का स्वभाव जानता है।' उसी प्रकार से जो जीवन-शक्ति के मूल को जानता है, वह बड़ी-से-बड़ी बाधा को भी ठेलकर आगे बढ़कर जा सकता है। वह आराम से हलके होकर उन तरंगों पर जा सकता है। पानी 'वू वेई' का पर्याय था। मनुष्य पानी की तरह से अपना स्तर खोज लेता है। जीवन का स्तर पानी की तरह से ही सहज-स्वाभाविक है। पानी बड़े-बड़े नुकीले पत्थरों को गोल बना देता है। वह बड़ी-बड़ी दीवारों और सीमाओं को फांद जाता है। 'देखो, पानी हठीले को नम्र बना देता है, शक्तिशाली कमजोर के आगे झुक जाते हैं। रोज हम यह देखते हैं, पर पानी से सीख नहीं लेते।' (७८)

ताओ (१७) में लिखा है :

"वही नेता सर्वोत्तम है
जिसे जनता जान भी न पाए कि वह नेता है
....अच्छे नेता कम बोलते हैं
जब उसका काम पूरा होता है, उद्देश्य पूर्ण होता है
सब कहते हैं 'हमने ही यह काम स्वयं किया है'।"

"मिट्टी सने, कीचड़ में पानी को थिराने दो। वह अपने-आप साफ हो जाएगा।"

सितारों को देखने के लिए आँखें गड़ानी पड़ती हैं। ताओ को समझने के लिए मन को वहाँतक पहुँचाना पड़ता है।

"पाँच रंग चौंधिया देते हैं
पाँच स्वर बहरा बना दे सकते हैं
पाँच स्वाद जीभ को गड़बड़ा देते हैं
दौड़, शिकार आदमी को पागल बना दे सकते हैं
लूट के बाद भी मन को शांति नहीं होती
इसलिए, समझदार आदमी
बाहरी के बजाय भीतरी दृष्टि (अंतर्दृष्टि) पसंद करते हैं।" (१२)

पानी को ही आदर्श मानकर ताओवादी सब प्रकार की स्पर्द्धा और आत्म-प्रौढि के विरुद्ध हैं। 'सबसे ऊँचे पेड़ पर सबसे पहले बिजली गिरती है।' 'मनुष्य को कभी अपनी औकात से बाहर नहीं जाना चाहिए, जरूरत से ज्यादह खर्च नहीं करना चाहिए, अपने-आपको बहुत बड़ा नहीं मानना चाहिए।' (२४,२९) नम्रता की पूजा के कारण वे कुबड़े और पंगु लोगों को विशेष महत्त्व देते थे। वे प्याली, खिड़की, दरवाजे के गलियारे इसलिए पसंद करते थे कि वे 'खाली' या अहंता से रिक्त होते हैं।

मनुष्य को अन्य मनुष्यों के प्रति नम्र होना चाहिए। प्रकृति के प्रति भी ममतामग्न होना चाहिए। बाद में पश्चिम में रूसो, वर्ड्स्वर्थ और थौरो ने जिस प्रकार की प्रकृति-पूजा को महत्त्व दिया, वैसा ही प्रकृति के प्रति आदर ताओवादियों ने सिखाया।

हिमालय की सर्वोच्च चोटी एवरेस्ट पर जब मनुष्य पहुँचा, तब पश्चिम-वालों ने उसे 'एवरेस्ट की विजय' कहा। ताओवादी कहता—'एवरेस्ट से मैत्री'। अमेरिका के स्थपति फ्रैंक लॉइड राइट ताओ-मंदिरों से इसलिए प्रभावित हुए थे कि प्रकृति और मनुष्य के घनिष्ठ संबंध उन्हें पसंद थे। इन मंदिरों के परिवेश—प्रकृति से वे एकाकार होते हैं। ताओवाद ने सत्रहवीं शती की चीनी-चित्रकला को विशेष रूप से प्रभावित किया। वे चित्रकार कभी-कभी आधा-आधा दिन विचार करने में बिता देते, तब कहीं अपनी तूलिका का एक स्पर्श चित्रफलक पर करते। चीनी-भाषा में सैरों या 'लैंडस्केप' के लिए शब्द है—

'पर्वत और पानी'—यानी विराट्ता और विस्तार। स्थिति और गति, एक साथ। इन चीनी दृष्टियों में मनुष्य बहुत छोटा-सा दिखाई देता है, किसी बिंदु की तरह। वह भी या तो नाव चलाते, या बोझा ढोते, या भैंस पर बैठा दिखाई देता है। यानी, वह चिरंतन प्रवासी है। वह पक्षी और बादलों की तरह है। पर्वत और देवदार या चीड़ की तरह नहीं।

चुआंग त्सु से उसके शिष्यों ने जब कहा कि हम आपका बड़ा भारी मृतक-संस्कार करेंगे, तब वह हँसा। उसने कहा—'आकाश मेरा कफन और पृथ्वी मेरी कब्र है। सूर्य, चंद्र और तारे मेरे झिलमिलाते वस्त्र हैं और सारा सृष्टि मेरे मृतक-संस्कार का जुलूस है।' ताओवादी सदा सादे जीवन का समर्थन करते हैं : ग्रामीण, प्राकृतिक और सरल। यहीं ताओ कन्फ्यूशियनों से भिन्न हैं। कन्फ्यूशियन के अनुयायी काफी विधि-संस्कार, ताम-झाम मानते थे, कृत्रिमता में विश्वास करते थे। ताओवादी इसके विपरीत थे। वे इन सब बाह्य विधि-विधानों के विरोध में थे। यह तो इसी तरह हुआ कि बंदरों से कहा गया कि तीन मूंगफलियाँ सवेरे और चार शाम को दी जाएँगी, तो बंदर बहुत नाराज हुए। हल्ला मचाने लगे। उन्हें बता दिया गया कि अच्छा, अब चार सवेरे देंगे और तीन शाम को। और, बंदर खुश हो गए।

ताओवाद सब चीजों की सापेक्षता में विश्वास करता है। चीन के प्राचीन यांग-मिन सिद्धांतों को वह मानता है :
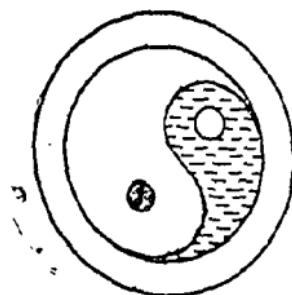
यह चक्र जीवन की सब परस्पर-विरोधी बातों का समाहार करता है : अच्छा-बुरा, सक्रिय-अक्रिय, सकारात्मक-नकारात्मक, गर्मी-जाड़ा, प्रकाश-अँधेरा, पुरुष-स्त्री इत्यादि। ये परस्पर-पूरक और परस्पर संतुलन रखनेवाली बातें हैं। दोनों एक दूसरे के क्षेत्र पर आक्रमण करते हैं, और एक दूसरे को अपने केंद्र में

समाहित कर लेते हैं। दोनों एक ही सर्व-संश्लेषक वर्त्तुल का भाग है, जिसे 'ताओ' कहते हैं। ॐ की तरह यह वर्त्तुल ताओ-धर्म का मुख्य प्रतीक चिह्न है।

चुआंग-त्सु ने एक रात सपने में अपने-आपको तितली के रूप में देखा। जागकर देखा, तो वह चुआंग-त्सु था। अब उसके लिए यह प्रश्न चिरंतन था कि वह सचमुच तितली था और चुआंग-त्सु यह तितली को पड़ा हुआ सपना है; या वह सचमुच चिगाग-त्सु है और वह सपने में तितली बन गया था? यह एक अनसुलझा प्रश्न है। कहाँ जागरण समाप्त होता है और कहाँ स्वप्न शुरू होता है? इसलिए, सारे मूल्य, सारी धारणाएँ अंततः सापेक्ष हैं। अच्छे-बुरे की मान्यताओं की भी यही बात है।

एक किसान का घोड़ा भाग गया। पड़ोसी ने आकर दुःख जताया और कहा, 'बहुत बुरा हुआ'। तो किसान बोला: 'कौन जानता है, यह अच्छा हुआ या बुरा?' दूसरे दिन वह घोड़ा अपने साथ और कई जंगली घोड़ों को ले आया। फिर पड़ोसी आए और बोले, 'बहुत अच्छा हुआ, इतने घोड़े मुफ्त में मिल गए?' फिर किसान बोला: 'कौन जानता है, यह अच्छा हुआ या बुरा?' एक नए जंगली घोड़े पर किसान का बेटा चढ़ने की कोशिश करने में गिर पड़ा और उसकी टाँग टूट गई। पड़ोसी ने आकर दुःख जताया और कहा, 'बहुत बुरा हुआ'। तो किसान बोला, 'कौन जानता है, यह अच्छा हुआ या बुरा?' दूसरे दिन सिपाही आए, सब नौजवान लोगों को जबरदस्ती फौज में भरती करने के लिए। यह लँगड़ा बेटा बच गया! भारतीय बौद्धधर्म ताओ आदि के द्वारा जापान में जाकर 'जेन बौद्ध-धर्म' बना।

ताओवादी और कन्फ्यूशियस के शिष्यों में बहुत वाद-विवाद चलता था। ताओवादी चुआंग-त्सु और कन्फ्यूशियस के शिष्य हुई-त्सु के बीच सम्पन्न एक संवाद इस प्रकार है: हाओ नदी पर एक पुल पर जाते हुए चुआंग-त्सु ने कहा:

'देखो, मछलियाँ इधर-उधर कैसे पानी में थिरकती हैं! उन्हें कैसा आनंद हो रहा है!'

हुई-त्सु ने जवाब दिया—'तुम्हें क्या पता है कि उन्हें आनंद हो रहा है, तू तो मछली नहीं है।'

चुआंग-त्सु ने कहा—'तुम मैं नहीं हूँ। फिर, तुम कैसे जान गए कि मछलियों को जो आनंद हुआ, वह मैं नहीं जानता।'

ताओ-धर्म युद्धविरोधी था। उसके अनुसार युद्ध आदमी को पशु बना देता है। युद्ध में विजय आनंदोत्सव का विषय नहीं है। हजारों लोगों को मौत के घाट उतारना एक तरह से सामूहिक शोक का विषय है।

हिरण्यगर्भ की तरह ताओ का परम पंथ अपरिभाषेय है। उसमें कहा गया है :

"एक ऐसा प्राणी है, जो विस्मयकारक है, संपूर्ण है
वह स्वर्ग और पृथ्वी से पहले था
वह कितना शांत है
कितना अध्यात्म-भरा है
वह अकेला है, वह कभी नहीं बदलता
वह बराबर गोल-गोल घूमता रहता है
पर इस कारण से कम नहीं होता, दुःखी नहीं होता
सारा जीवन उसीसे निकला है।
वह सबको लपेटता है अपने प्रेम के धागे से, और फिर भी
वह कोई सम्मान नहीं चाहता। अपने-आप को स्वामी
नहीं कहता, मैं उसका नाम नहीं जानता, इसीलिए उसे केवल ताओ
कहता हूँ, पंथ कहता हूँ, उसकी शांति में आनंद पाता हूँ।

●

१०. शितो-धर्म में ईश्वर

शितो जापान का, बौद्ध और कन्फ्यूशियन धर्मों के पहले सूर्य-पूजक धर्म था। जापान में स्वर्ग या आकाश देवता नहीं है। वह केवल देवताओं का निवासस्थान था। इस धर्म की कोरिया के प्राचीन धर्म से काफी समानता है।

पाँचवीं शताब्दी से पहले जापान में लेखन नहीं था। अतः, शितो-धर्म की कहानियाँ और मिथक मौखिक रूप से लोगों में फैलाए जाते थे। नाकातोमी और इम्बे पुरोहित हुआ करते थे, जो मिकाडो या राजा के दरबार में होते थे। 'कटाहिरे' पुराने शब्दों के उच्चारण करनेवाले होते थे या 'ओहोनिहे' राजा के सिंहासन पर बैठने के समय मंत्र पढ़ते। सन् ७१२ ई० में एक ग्रंथ लिखा गया 'कोजिकी', जिसमें इस तरह की कुछ पुराण-कथाएँ हैं। दसवीं शताब्दी तक शितो-धर्म की प्रार्थनाएँ पुस्तक-रूप में एकत्रित नहीं हुई थीं। इस प्रकार, इस धर्म के बारे में लिखित सामग्री बहुत कम है।

हरबर्ट स्पेंसर मानते थे कि मनुष्य ने आरंभ में अपने ही रूप के अनुसार देवता बनाए, पितर, भूतप्रेत और अ-मानवी रूप। कुछ यूरोपीय विद्वान् ऐसा मानते हैं कि इसमें दो धाराएँ थीं : एक तो प्राकृतिक चमत्कारों का दैवीकरण; दूसरे मानवों का दैवीकरण। शितो-धर्म में प्रकृति को देवता मानने की प्रवृत्ति अधिक थी। सूर्यदेवी—एक प्राकृतिक वस्तु को देवी मानना था; वृक्ष और वनस्पतियाँ एक वर्ग या सामूहिक रूप से कई वस्तुओं को देवता बनाना था। 'मुसुबी'—विकास या वृद्धि जैसी अमूर्त्त बात को देवता बनाना था। तेम्मांगु राजनयिक का दैवीकरण था। कोयाने पुरोहित-देवता था। 'ता-जिकर नो-वो' (हाथ की शक्ति का पुरुष) पुनः एक गुण को देवता-रूप बनाना था।

ऑगस्त कांत का मत था कि धर्म की पहली अवस्था है 'फेटिश'। यानी, किसी प्राकृतिक वस्तु-विशेष की सीधी पूजा, उसे अलौकिक मानना। जापान में उसकी दूसरी अवस्था थी उसे मानवी रूप देना। और, तीसरी अवस्था उसे अ-भौतिक मानकर मंदिर में प्रतिष्ठित करना था।

सारे देशों में, मिथकों में इन तीन अवस्थाओं में काफी परस्पर-पर्यायहीनता थी। कई देवताओं के दो 'मितमा' या स्वरूप थे : एक मंगलकारी, दूसरा अमंगलकारी। यदि वे नाराज हो जाएँ, तो वे सर्वनाश ढा सकते हैं।

शितो-धर्म में प्रतिमाएँ नहीं होतीं। वैसे देवताओं की संख्या बहुत है। सुसा नो-वो पर्जन्य-देवी है। वह काफी हानि किया करती है। धीरे-धीरे प्राकृतिक शक्तियों को जो दैवी रूप दिया जाता है, वे मानव-नियति का रूप ले लेते हैं। सूर्यदेवी प्रकाश ही नहीं, स्वास्थ्य भी देती है। वह शत्रुओं से संरक्षण भी देती है। 'इनारी' धान्य-देवता हैं। वे तलवार बनानेवालों के विशेष देवता हैं। उनकी कृपा से चोरी का माल वापस मिल जाता है।

शितो-धर्म में चीनियों की तरह पितर-पूजा नहीं थी, और न मृतकों को कुछ चढ़ावा या बलि दी जाती थी। वैसे जापानी मिकाडो की मृत्यु के बाद उनके साथ रानी और दास-दासी भी गाड़ दिए जाते थे। पर, यह मानना कि राजा मृत्यु के बाद भी रानी को साथ रखना चाहता है, एक ऐसी ही कल्पना है, जैसे मूर्त्ति के आगे फूल रखना या उसे माला पहनाने से मूर्त्ति को सुगंध प्राप्त होती होगी।

बाघ, साँप और भेड़िया को भी 'कामी' (देवता) कहते हैं। पर उनके मंदिर नहीं हैं। वे किसी-न-किसी देवता के साथी या वाहन के रूप में याद किए जाते हैं। हिरन, बंदर, कबूतर और कछुआ भी किन्हीं देवताओं के निकट पवित्र माने जाते हैं। कभी-कभी मिथकों में देवता पशु रूप ग्रहण कर लेते हैं। कभी वह 'वानी' (सर्पराज या 'ड्रैगन') का रूप ग्रहण करते हैं।

शितो-धर्म में कोई सर्वश्रेष्ठ सत्ता का प्रतीक ईश्वर नहीं है। कुछ देवताओं को देवाधिदेव माना जाता है, जैसे सूर्यदेवी। शितो-देवता अनंत शक्ति या ज्ञान के स्रोत नहीं माने जाते।

जापान के मिथकों में इजानागी और इजानामी प्रथम सृष्टिकर्त्ता मानव और मानवी माने गए हैं। ये लोग धरती पर आए। एक द्वीप पर एक खंभे-वाले मकान में यह दैवी जोड़ा रहने लगा। खंभे की दाहिनी ओर स्त्री और बाईं ओर पुरुष घूमने लगे। उनके बच्चे हुए। उनमें अंतिम था अग्नि। उसके जन्म के समय स्त्री जख्मी होकर मर गई। पुरुष ने तलवार से उस बच्चे के कई टुकड़े कर डाले। फिर, वह स्त्री इजानामी योमी के देश पाताल-लोक में गई। वहाँ पति भी गया। पर, पतिपत्नी को नहीं पा सका। यह कहानी बहुत लंबी है। यही स्त्री जब वापस ऊपर पृथ्वी पर आई, तब उसने अपनी बाईं आंख धोई। उससे सूर्यदेवी बन गई। दाहिनी आंख से चांद बन गया और नाक धोने से पर्जन्य-देवता।

शिंतो-देवमाला में पहले प्राकृतिक शक्तियों के देवता लें :

१. सूर्यदेवी सबसे बड़ी आकाश की शासिका मानी जाती है। उसके दरबार में अनेक देवता मंत्री हैं। समुद्र और योमी देश उसकी सीमा से परे है। आठ हाथोंवाला कौआ इस देवता के लिए बहुत पवित्र माना जाता है। चंद्र देवता सूर्यदेवी का भाई है। वह अन्नदेवी का हत्यारा है।

२. पृथ्वी-पूजा—कहीं-कहीं धरती की सीधी पूजा की जाती है। उसे न देवी कहा जाता है, न देवता। 'जि-मात्सुरी' धरती-उत्सव है। इसमें मकान बनाने की भूमि या खेती की भूमि की पूजा की जाती है।

३. पर्वत देवता—वैसे तो प्रत्येक पर्वत का एक देवता होता है। पर, फूजियामा (सेंगेन्सामा) सबसे बड़ा पर्वत-देवता है।

४. समुद्र-देवता—इस देवता के ऊपर, मँझले और नीचे के हिस्से के अलग-अलग नाम हैं। ओसाका में इस देवता का प्रसिद्ध मंदिर है। अच्छी नौ-यात्रा के लिए इन्हें पूजते हैं।

५. नदी-देवता—इनके अलग-अलग नाम नहीं। इन्हें मिद्‌जुची (पानी-पिता) कहा जाता है। पहले ये सर्प या 'ड्रैगन' के रूप में माने जाते थे। पर्जन्य के दो देवता 'निहोंगी' में बताए गए हैं। सारे कुएँ पवित्र देवस्थान माने जाते हैं। पानी यज्ञ या बलि में पवित्र करने के लिए या अर्घ्य-रूप में चढ़ाने के लिए काम में लाते हैं।

६. वायु-देवता—यह इजानागी की साँस से पैदा हुआ। कुछ विधियों में इसके देवी और देवता दो रूप थे।

७. अग्नि-देवता (कागु-त्सुची और हो-मुसुबी)—पूर्व जापान में कोदोरी में इसका बड़ा मंदिर है। अब इसे युद्ध-देवता मानते हैं। घन गर्जन को भी युद्ध-देवता मानते हैं। सारे घर की रसोई बनाने की अग्नि की पूजा की जाती है। चूल्हे या भट्ठी को ही देवता मानते हैं।

८. अन्न की देवी—यह शिंतो-धर्म में सबसे प्रधान देवी है। उसे उके-मोची या उकानो मितमा कहते हैं। साके (देशी शराब) में चावल भिगोकर उसे साके-देवी माना जाता है। चावल-देवता की भी पूजा होती है। उसकी पूजा से फसल अच्छी होती है। इसका 'शिताई' (प्रतीक) अलग-अलग जगह भिन्न है। अक्सर गोल पत्थर प्रतीक होता है। इस देवी का दूत लोमड़ी है। कुछ गँवार लोमड़ी को ही देवी मान लेते हैं।

९. वृक्ष-देवता—बड़े पुराने वृक्ष पूजे जाते हैं। वे 'कामि-गी' कहलाते हैं। 'कुकुनोची' वृक्ष-बाबा कहलाते हैं, वनस्पतियों के स्वामी। एक और देवता बाँस-देवी (कया नो हिए) है।

१०. घर को भी देवता मानते हैं। कहीं-कहीं दो देवता माने जाते हैं। घर के केंद्रीय खंभे का बड़ा महत्त्व होता है। दरवाजे का एक देवता है और एक अंतर्गृह का।

मनुष्य-देवता :

शिनानो-प्रांत में 'सुव' नाम का देवता इसी प्रकार से व्यक्ति को दैवी रूप देकर बनाया गया। जिम्मू पहला राजा था, जिंगो पहली महारानी। तेम्मांगु ज्ञान और सुंदर हस्ताक्षर का देवता है। वह सन् ८४५ ई० में एक राजनयिक था। एक ईर्ष्यालु सहयोगी ने उसे देशनिकाला दिया। वह किउशिउ में जाकर मर गया। देशपर बड़ी विपदा आई। उसके क्रुद्ध प्रेत को शांत करने के लिए एक पंथ चल पड़ा, जो आजकल चलता है।

ये मनुष्य-देवता प्राचीन शितो-धर्म में मनुष्य का दैवी रूप नहीं हैं, पर अलग-अलग व्यक्ति हैं। सूर्यदेवी के पाँच सेवक देवता माने जाते हैं।

लिंग-देवता भी मनुष्य के अच्छे गुणों के प्रतीक हैं। आरंभ में यह प्रजापति देवता थे। धीरे-धीरे वह लिंगदेव पौरुष के प्रतीक के नाते पूजे जाने लगे। उससे शत्रु को रोग और मृत्यु का भय था। इस कारण वह जादू-मंत्र की तरह काम में लाया जाने लना। उसे 'कुनादो नो कोमी' (ऐसी जगह का देवता, जहाँ से लौटना नहीं है) कहा जाता था। इस देवता की मूर्त्तियाँ या मंदिर नहीं थे। पर, वह चौराहे पर एक लिंगाकार पत्थर, या लकड़ी के खंभे की तरह पूजा जाता था। उसे रास्ते का देवता और यात्रियों का संरक्षक माना जाने लगा। 'दोसोजिन' (पथ-पितर-देव) को अब भी मानते हैं—पूर्वी जापान में विशेप रूप से। नाशपाती, चावल के दाने, बीन्स आदि उसके प्रसाद हैं, जो रोग और राक्षस भगाने के लिए काम में लाते हैं।

हरवर्ट स्पेंसर का कथन था कि सामाजिक विकास की आरंभिक अवस्था में धार्मिक और भौतिक रूप में बहुत कम अंतर था। यह बात शितो के बारे में भी सही है। 'जिंगिकवान' या धर्म-विभाग के अधिकारी अन्य किसी सरकारी महकमे की तरह थे। पर उन्हें प्रथम महत्त्व दिया जाता है। यहाँतक कि जापानी भाषा में 'शासन' (मत्सुरिगोतो) शब्द 'धार्मिक उत्सव' (मत्सुरि) का

का दूसरा रूप है। हिराता कहते हैं कि 'ईश्वर-पूजा ही शासन का स्रोत है, नहीं, वही शासन है !' प्रमुख पुजारी राजा या मिकाडो स्वयं था। सबसे बड़े पुजारिन सैवो या राजपुत्री हुआ करती थी।

शितो-मंदिर बहुत भारी या मूल्यवान् नहीं होते थे। कुछ तो एक जगह से दूसरी जगह ले जाने लायक होते थे। सन् ७७१ ई० में सबसे बड़े मंदिर का आद्य भाग १८ फीट बड़ा था। येंगिशिकी के अनुसार, ऐसे ३१३२ मंदिर कभी होते थे। अब वे दो लाख से ऊपर हैं। भारतीय 'तोरण' या चीनी 'पाइलू' की तरह मंदिर के आगे 'तोरी-ई' नामक द्वार होता है।

सातवीं शताब्दी में देवताओं का भी उच्च-नीच आदि विभाजन किया गया। ११वीं १२वीं शती में कई देवताओं की पदोन्नति हुई। एक बार एक ज्वालामुखी देवता को खुश करने के लिए उनको चढ़ा दिया गया।

देवताओं की जादूई शक्ति के कई उदाहरण हैं : सोने से पहले तीन बार घर की परिक्रमा करें, यह कहते हुए कि 'आग न लगे !' इससे आग नहीं लगती। किसी स्त्री को बच्चा न हो, तो बूढ़ियाँ एक खिलौना लाकर नकली बच्चे का अभिनय करती हैं। सफेद पशु और तीन पैर के पक्षी विशेष शुभ-शकुनी हैं। सीटी बजाने से हवा आती है, पत्थर-विशेष पर पानी उड़ेलने से वर्षा आती है। ऐसे अनेक अंधविश्वास शितो-धर्म में थे।

बौद्धधर्म के आने के बाद सब शितो-मंदिरों पर उनका अधिकार हो गया। शितो-धर्म में बौद्ध-तत्त्व भी आ गए। मंदिर का स्थापत्य, कई विधियाँ, देवताओं के गहने बौद्ध ढंग के हो गए। सत्रहवीं शती में शितो-पुजारी बौद्ध ढंग से मुंडित हो गए।

११. अनिमिस्ट्स (आदिवासी) और ईश्वर

यह संभव नहीं कि एक छोटी पुस्तक में संसार के सभी आदिवासियों के सब तरह के ईश्वर-विश्वासों पर अधिकारपूर्वक कुछ कहा जाए। उदाहरण के लिए, भारत की एक प्रधान आदिवासी जाति संताल को लें। यह तो सभी नृवंशशास्त्री मानते हैं कि संतालों में ईश्वर-शक्ति पर विश्वास है। पर, उसका नाम क्या है, इसपर एक मत नहीं है। डाल्टन उसे 'सिग बोंगा' कहता है, रिसले 'ठाकुर'। बमपास और इसरेफ सोर्ड भी 'ठाकुर' ही मानते हैं। ई०जी० मैन उसे 'कान्दू या चान्दू बोंगा' कहते हैं। बोडिंग भी यही 'कान्दू' नाम मानते हैं। पी० सी० विश्वास उसे कन्दू' कहते हैं: सूर्य को सिनकान्दू और चाँद को निदाकान्दू।

संताल लोग मंदिर या मूर्त्ति-पूजा में विश्वास नहीं करते। वे पहाड़, जंगल, नदी, गुफा आदि को ही आदिशक्ति का निवास मानकर डरते रहते हैं। "बोंगा' या देवता (रूसी और स्लाव-भाषाओं में ईश्वर 'बोग' है) भूखे, क्रोधा और मनुष्य को दंड देनेवाले होते हैं। मरने के बाद संतालों के पूर्वज या पितर भी बोंगा बन जाते हैं। इन देवताओं को वलि चढ़ाकर सदा प्रसन्न रखना पड़ता है। बड़ा पहाड़ या 'मरांग बुरू' उनका एक विशेष देवता है। अच्छे-बुरे दोनों प्रसंगों पर इस पहाड़ की पूजा जरूरी है। कुछ संतालों में यह विश्वास है कि ये सब पहाड़, नदी, जंगल, गुफा आदि, बोंगा जब ईश्वर से लड़कर पृथ्वी पर आए, तब शक्ति-पीठ बन गए। मरांग बुरू ने प्रथम मानव-मानवी को 'पोचाई' भेंट करने का आदेश दिया। उसकी आराधना में जो मंत्र हैं, उनमें नव वर-वधू के लिए लंबी उम्र और सुख-शांति की माँग की जाती है। ये देवी-देवता दस प्रकार के हैं :

१. कान्दू : प्रमुख देवता। यह जीवन देता और लेता भी है।

२. (क) अरोक बोंगा : वासपहार, देसवासी, सीएस, गोरिया, वारपहार, सर चावडी, थुनतातुरश।

(ख) अयेज बोंगा : दारास्तोरिया, धरासंदा, केतकीमकुद्रा, चंपा-दिनागढ, गरसेनिका, लीयाचंडी, धनागठ आदि १४ प्रकार।

३. मृत पितरों की शक्तियां।

४. रंगो रूजी : शिकारी शक्ति।
५. गाँव के देवी-देवता : जेहरा इरा, गोसाई ऐरा आदि।
६. गाँव की सीमा-शक्ति : सीमा बोंगा, बहरी बोंगा।
७. अकालमृत्यु या अप्राकृतिक ढंग से मरे बालकों की आत्माएँ।
८. नाट्टियर बोंगा : ससुराल के देवता और नैहर के देवता।
९. किसार बोंगा : यह प्रसन्न होने पर परिवार को धन और समृद्धि देता है। अप्रसन्न होने से मार डालता है।
१०. युद्ध बोंगा : युद्ध के अस्त्रों के नाम पर देवता होते हैं।

कुछ देवताओं की विशेष पूजा जहाँ होती है, उस स्थान को 'जहरी' कहते हैं। यह स्थान अक्सर गाँव के अंत में होता है, विशेषतः पश्चिम की ओर। वैसे प्रत्येक घर में भी कुछ जगह उनके लिए निर्धारित रखते हैं।

यदि भारतीय और विदेशी नृवंशशास्त्रियों की पुस्तकें पढ़ी जाएँ; जैसे डी० एन० मजुमदार की पहाड़ी जातियों के बारे में, वेरियर एलविन की गोंडों के बारे में, डॉ० जैन की भील भोंपों के बारे में, एरहेनफेल्स की आरगय की जातियों के बारे में, सौनथाइयर की महाराष्ट्र के नगरों के बारे में, रा० चिं० ढेरे या दुर्गा भागवत की महाराष्ट्र के आदिवासी विश्वासों के बारे में, तो बहुत-सी बातें, जो ऊपर संतालों के बारे में कही गई हैं, अन्य आदिवासियों में भी बराबर मिलेंगी।

पश्चिम में 'ॲनिमिज्म' शब्द 'ॲनिमा' (=प्राण, शक्ति) से आता है, जिसका अर्थ है मानसिक और शारीरिक शक्तियों का आधार-स्रोत अपने से परे किसी अन्य आधिदैविक शक्ति में मानना। धर्म के इतिहास में ऐसी सब आत्माओं या भूत-प्रेतों में विश्वास, जो शक्तियाँ प्रत्यक्ष जिन वस्तुओं पर आरोपित हों, उनमें सामान्यतः नहीं होतीं। एक तरह के जादू या टोटकों या चमत्कारों में विश्वास। उसके भी तीन रूप पश्चिम में हैं :

१. नेक्रोलेटरी—मृतकों में विश्वास और उसकी पूजा (यथा : पितर-पूजा)।
२. स्पिरिटिज्म—मानव-जगत् से ऊपर किन्हीं आत्माओं में विश्वास।
३. नेचरिज्म—प्रकृति को ही ईश्वर मानना।

सारी पूजा-विधियों और धर्मों के आरंभ में यह 'ॲनिमिज्म' था। इस पुस्तक की भूमिका में इस बात की विस्तार से चर्चा है। सभी तथाकथित सभ्यतापूर्व आदिम मानवों का वह धर्म रहा है। लोक-साहित्य में इसके पर्याप्त

उदाहरण हैं। गयाना-द्वीप के आदिवासी सूर्य, चंद्र, तारे, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सबको एक ही तरह से आत्मा और शरीरवाला मानते हैं। इसलिए, हमारी भाषाओं में नदी, सूर्य, चंद्र-ग्रह आदि प्राकृतिक शक्तियों को लिंग-भेद दिए गए हैं। उनपर मानवी क्रियाओं का आरोप किया जाता है। आरंभ में इन प्रकृतिक शक्तियों और भौतिक वस्तुओं का बाह्य रूप और आत्मा एक ही मानी जाती थी। पर, धीरे-धीरे वे अलग-अलग माने जाने लगे। उदाहरण के लिए, आस्ट्रेलिया के एक आदिवासी से पूछा गया कि क्या सोने के बाद तुम्हारी 'यांबो' (आत्मा) कहीं और भटकने जाती है। तो वह बोला— 'हाँ, नहीं तो मैं सपने में इतनी दूर कैसे चला जाता, अजनबियों से कैसे मिलता, मृतकों से भी कैसे बोलता ?'

अब पितर-पूजा या भूत-प्रेतों में विश्वास को ही लें। आत्माएँ हवा में या आसमान में भटकती हैं, यह एक भोले-भाले आदिवासी का विश्वास जब प्रकट होता है, तब यहाँ 'आत्मा' शब्द आधुनिक सुसंस्कृत मानव की शब्दावलि की भाँति प्रयुक्त नहीं होता। यहाँ एक अदृश्य, अधिक शक्तिशाली, पर मानव-समान आभास के लिए वह यह शब्द प्रयुक्त करता है। जहाँतक जीवित मनुष्यों का संबंध है, वे शरीर की ही अस्पष्ट छाया-मूर्तियाँ होंगी, ऐसा माना जाता है। एक तरह से वह आदमी का ही दूसरा रूप है, जैसे सपने में देखा जाता है। वह कभी-कभी शरीर की छाया या पानी में पड़नेवाले प्रतिबिंब का पर्यायवाची होता है। कभी-कभी वह 'प्राण' वाचक शब्द है; जैसे लैटिन ॲनिमा, ग्रीक ॲनिमास, संस्कृत प्राण, हिब्रू रूह। इसे हृत्स्पंदन, दिल की धड़कन या नाड़ी की ध्वनि का भी समानार्थक माना जाता है। कभी-कभी बच्चों की कहानियों की तरह यह आत्मा कई पशु-पक्षियों का रूप ग्रहण कर लेता है।

जो चोट या रोग या जख्म शरीर पर हो, आत्मा पर भी यह प्रतिक्रिया छोड़ती है। कभी-कभी एक ही शरीर में अनेक आत्माओं का निवास हो सकता है। या एक ही आत्मा अनेक शरीरों में एक साथ निवास करती है। इसलिए, कई आदिवासियों में जादू की क्रियाएँ की जाती हैं, जिनके द्वारा मूल आत्मा की जगह ऊँची आत्मा डाल दी जाती है। ज्योंही कोई मरने लगे— ा इस तौर से यह तिब्बत की लामाविषयक प्राचीन प्रथा थी—तो उसे विकृत कर

दिया जाता था, ताकि उसकी आत्मा आगे आनेवाले उसी पद पर के महनीय व्यक्ति में अनिर्बाध प्रवेश कर सके। इस दूसरी आत्मा का, मृत्यु के बाद क्या होता है, इसके बारे में कई विश्वास हैं। अबूझ माड़ के गोंड लोग जिस झोपड़ी में मृतक को पाते या रखते हैं, उसकी छत में छेद कर देते हैं, ताकि वह आकाश या स्वर्ग में सीधे जा सके। उस जातियों में यह धारणा है कि जबतक शव है, तबतक उसकी आत्मा उसपर मँडराती रहती है। या बाद में भी कब्रिस्तान या समाधि-स्थल पर आती रहती है। एक नीग्रो से पूछा गया कि आपके बड़े परदादा के दादा की आत्मा कहाँ है, तो वह बोला— याद नहीं। पर जब उसके मृत पिता या भाई की आत्मा की बात की, तो वह बताने से डरने लगा। कई जातियों में ये आत्माएँ पुनः जन्म लेती हैं। या फिर स्वर्ग या पाताल चली जाती हैं—समुद्र से परे या पर्वत के शिखर पर, सप्त लोकों से ऊपर, सितारों में (ध्रुव बालक मरकर ध्रुवतारा बन गया)। नरक, पाताल, शिओल या हेड्स में जीवन भयानक शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से गुजरता है। या फिर, वह लौटकर किसी अन्य प्राणी का रूप लेकर आ जाती है। ऐसी अवस्था में ये आत्माएँ बदला भी लेती हैं या परोपकार भी करती हैं। इसीलिए, पितर-पूजा का विधान है।

पितर-पूजा के पीछे तीन प्रेरणाएँ हैं : (१) भूतप्रेतों में विश्वास, (२) मृत संबंधियों से गहरा प्रेम या आदर और (३) पिता या माता आदि द्वारा सुरक्षा की प्राप्ति। एक बार यह मान लेने पर कि मृत्यु के बाद भी जीवन चलता है, तो फिर स्वाभाविक है कि पिता पुत्र के प्रति ममतालु हो या शत्रुओं-मित्रों के प्रति अलग-अलग व्यवहार मृतात्माएँ रखें। अब धीरे-धीरे पितर-पूजा 'मानेस' या विभूति-पूजा का रूप लेने लगती है। किसी जाति या देश के वीर पुरुष या श्रेष्ठ जन देवता बना दिये जाते हैं। पिलानी में बिरलाजी द्वारा निर्मित शारदा-मंदिर पर भारत की और बाहर की अनेक विभूतियों के पुतले हैं। मूर्त्तिपूजा-विरोधी दयानंद भी हैं; और धर्म-विरोधी लेनिन भी। विदेशी केनेडी भी हैं; और जब मंदिर निर्मित हुआ, तबके स्वदेशी वैज्ञानिक सी० वी० रमण भी ! अब यह देवता बनाने की प्रक्रिया गुरुओं, आचार्यों, स्वामियों, योगियों और बाबाओं तक फैलती जाती है। और, हर जादूगर और चमत्कारी पुरुष देवता बना दिया जाता है। मराठी में कहावत है : 'बिना चमत्कार के नमस्कार नहीं।'

जब कुछ जातियों में यह विश्वास दृढ हो जाता है कि वे किसी एक प्राकृतिक शक्ति, पशु-पक्षी आदि की संतान हैं, तब कोई सूर्यवंशी होता है, तो कोई चंद्रवंशी। कुछ अफ्रीका की जातियाँ आदि-व्याघ्र या आदि-सिंह की पैदाइश हैं; तो कुछ हाथी की, कुछ मगर की। इसे अँगरेजी में 'टॉटेमिज्म' या 'टोटेमवाद' कहते हैं। इसी तरह के पशुओं को देवता बनाने में से ही हमारे मच्छ, कच्छ, वराह और नरसिंह देवता बने। शिव के साथ नंदी पूजा जाने लगा। भोंसला मिलिटरी स्कूल में सब सैनिक विद्यार्थियों को आरती आदि के साथ घोड़े की पूजा करनी पड़ती है। शिवकांची में एक मंदिर की छत पर एक बहुत बड़ी बच्चे के आकार की सोने की छिपकली है, जिसे चढ़ावा चढ़ाया जाता है। नाग-पूजा का तो सारे भारत में रिवाज है। दक्षिण भारत में वासुकि-मंदिर (केरल) में और शिरड़ी (महाराष्ट्र) में जीवित सर्प की पूजा नागपंचमी को होती है। आत्मा कई तरह के प्राणियों का आकार अगले जन्म में ले सकती है। इस पर तो बौद्धधर्म में सारी बोधिसत्त्व-विषयक जातक कथाएँ आधारित हैं। फिर, कुछ अर्द्ध-मानव अर्द्ध-पशु आत्माएँ या देवता होते हैं—जैसे गणेश, नरसिंह, हनुमान् आदि।

दूसरा विश्वास का ढंग हर जीवित चीज में आत्मा के अस्तित्व को मानना है। चींटी को चीनी या आटा खिलाया जाता है; मछलियों को राम-नाम की गोलियाँ। पवित्र हाथी और पवित्र हिरण, पवित्र पशु और पक्षी (मदुरा के मीनाक्षी-मंदिर में तोते पवित्र माने जाते हैं) इसी विचार में से निकलते हैं। ये आत्माएँ इनके शरीरों से भिन्न हो जाती हैं। फिर, प्रेतात्माओं से प्लैंचेट आदि के सहारे बातचीत करनेवाले विशेषज्ञ होते हैं। जैसे, परलोक-विद्याविशारद बी० डी० ऋषि थे। ऐसी आत्माएँ फिर कीटक, पशु-पक्षी में ही क्यों, अन्य वस्तुओं में भी हो सकती हैं। ज्वालामाई ज्वालामुखी पर्वत का अवशेष है। ज्योतिर्लिंग शायद मूलतः उल्कापात के बाद पड़े नक्षत्रपिंडों के जलते अवशेषांश (मीटिआरिक पत्थर) थे। और, ऐसे असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं। जब तिब्बती लोगों ने घड़ी देखी ही नहीं थी, तब वे विश्वास करते थे कि जरूर इसमें कोई 'देव' या 'जिन्न' बैठा है। जब पहला ट्रैक्टर दक्षिण सोवियत देश पहुँचा, तब लोगों ने उसे मानताएँ चढ़ाईं। भारत में रेल के पहले इंजन को सिंदूर लगाकर उसके आगे नारियल फोड़े जाते रहे हैं। अब भी जब नवनिर्मित जहाज पानी में उतारा जाता है, तब उसपर नारियल

फोड़ते हैं। जो भी वस्तु अद्भुत या अजीब लगे, उसे प्रेतात्मा या देवता मान लेने का विश्वास कई मानवों में जातिगत संस्कार बन गया। जो भी विचित्र लीला हो, प्रकृति की या विज्ञान की, उसे 'अलौकिक शक्ति' मान लेने का सहज विश्वास कई जमातों में रहा है।

अब ये अलौकिक आत्माएँ या शक्तियाँ कोई भी रूप ग्रहण कर सकती हैं। कई बार कुछ भक्तों पर 'हाल' आता है। कुल्लू या किन्नर देश में देवता आदमी के रूप में बोलने लगते हैं। इसीमें से दैवी प्रेरणा, ईश्वरी आदेश, देव-बाधा, तूर्यानंद, दैवी उन्मादावस्था, आध्यात्मिक चरम समाधि आदि बातें निर्मित होती हैं। जब इस तरह से आत्मा किसी व्यक्ति को अपना 'माध्यम' बनाती है, तो फिर उसके द्वारा वह भविष्यवाणियाँ करती है, कई तरह के शकुन-विचार कराती है, उसे विशेष शक्ति से अनुप्राणित करती है। फेटिश' के भीतर ईश्वरांश या 'आत्मा' आ जाती है। वह अवध्य हो जाता है। वह क्षण-भर के लिए ईश्वर ही हो जाता है। टैलिस्मन या 'तावीज', 'गंडा' या गुरु-मंत्र एक बाह्य उपचार या उपलक्षण-मात्र है। ये आत्माएँ कई प्रकार की हो सकती हैं: हवा की, आकाश की, पाताल की, पानी की, आग की, वनस्पतियों की, जानवरों के समूह की, रेवड़ की आदि। उनका रूपाधार भौतिक या प्राकृतिक जगत् में होता है, पर वह अनेक कल्पनामय रूप ग्रहण कर सकती हैं: कई मुख, कई हाथ, कई पैर, कई आँखें, कई स्तन, कई पंख आदि।

इन देवताओं में उग्र और शांत दोनों तरह के होते हैं। उसी के अनुसार उनको शांत करने की विधियाँ भी हैं। यहाँ पर जादू और टोने-टोटके का सहारा लिया जाता है। अफ्रीका, अमरीका के नीग्रो, आस्ट्रेलिया, साइबेरिया के आदिवासी आदि इसी तरह के 'ऍनिमिजम' में विश्वास करते हैं। अधिकतर 'स्पिरिट' या भूत-प्रेत आदि डरावने और अमंगलकारी होते हैं, भूत या 'जिन्न' आदमी की मदद भी करते हैं। जैसे अलादीन के चि रगड़ने से पैदा होनेवाला सहायताकारी जिन्न! उनकी अच्छी भी अतिरंजित किया जाता है और उन्हें बलि चढ़ाई जाती है; यह कि देवता भी खुशामद-पसन्द हैं, मेरा और आपका उनके आगे सकेगा?

अब इन 'आत्माओं' या 'देवताओं' की दो श्रेणियां हैं : कुछ तो चढ़ावे से खुश होनेवाली आत्माएँ हैं। उनके सामने मंत्र पढ़े जाते हैं, उनका आवाहन किया जाता है। उनकी प्रार्थनाएँ की जाती हैं। दूसरी ओर कुछ कठिन या 'उग्र' देवता होते हैं। उन्हें बलिदान, प्रार्थना और श्रद्धा से प्रसन्न करना, पुचकारना, मनाना और सहना होता है। इसीमें से बहुदेवतावाद निकलता है। डॉ० डी० पी० करमरकर की 'रिलीजन्स ऑव इंडिया' नामक बंबई-युनिवर्सिटी से प्रकाशित थीसिस में हिन्दू-धर्म में वनस्पति-पूजा, प्राणी-पूजा आदि पर विस्तार से आर्य-अनार्य ग्रंथों, विधियों, उत्सवों, पुराणों से संदर्भ देकर विचार किया गया है। महामहोपाध्याय पा० वा० काणे के 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में भी दैवत-विचार में काफी विस्तार से यह चर्चा दी गई है।

●

१२. अनीश्वरवाद

सारी भौतिक चीजें भौतिक कारणों से ही निर्मित हुईं। जो कुछ भी दृश्य या संवेदनीय है, वही सत्य है। उससे परे कोई शक्ति नहीं है, यह अनीश्वरवाद की पहली शर्त है। धर्मकीर्त्ति (बौद्ध दार्शनिक) ने एक हजार वर्ष पहले कहा था : 'वेद-प्रामाण्य, सदा किसी-न-किसी चीज का कर्तृत्व किसी ऊपरी या अज्ञेय सत्ता को देना आदि, जडता या मूर्खता के लक्षण हैं। इसे अंगरेजी में 'पैनकॉस्मिज्म' कहा गया है। परंतु, अनीश्वरवाद शब्द में ही 'नकारात्मक' भाव है। ईश्वरवाद में यह स्थापना है कि जितनी भी वस्तुएँ संवेदनीय हैं या अनुमेय हैं, या तर्क द्वारा ज्ञेय हैं, उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के लिए अंततः कोई अ-लौकिक अ-भौतिक शक्ति जिम्मेदार है। वह अंनत, अनादि, अमर और अनाकलनीय है। वही ईश्वर अपना रूप धीरे-धीरे सारी सृष्टि में व्यक्त करता रहता है। पर, पूरी तरह नहीं। कुछ-न-कुछ रहस्यमय रह ही जाता है। पुरुषसूक्त के 'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्' की तरह।

यानी, अनीश्वरवाद ईश्वरवाद के विरोध में आया। जबतक मानवी मन एक स्वयंभू आदिकारण न खोज निकाले, अनीश्वरवाद की सत्ता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। नृवंशशास्त्र कहता है कि दैवत-कल्पना-विकास से बहुत पहले प्रकृति के चमत्कारों या भूत-प्रेतों या पितरों को अतिमानवी रूप देकर लोग मानते थे। अतः, विश्वास या आस्था का मूल कुछ न-कुछ था। यदि कोई हिंदू एक देवता-विशेष को न माने, या कोई यूनानी देवमाला में से किसी एक को अस्वीकृत करे, तो उतना काफी नहीं है। उसे अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। मैक्समूलर ने अपने 'प्राकृतिक धर्म' नामक 'गिल्फोर्ड लेक्चर' में पृ० २२८ पर लिखा है : 'इंद्र या जूपिटर का अस्तित्व न मानना यह अनीश्वरवाद नहीं है। इसे अ-देववाद कहें। स्पिनोजा को अनीश्वरवादी मानने लगे, चूंकि उसकी ईश्वर-धारणा जेहोवा से व्यापक थी। यूरोप के धर्मसुधारवादी भी अनीश्वरवादी कहलाए, चूंकि वे ईसा की माँ को या संतों को देवता नहीं मानते थे। इतिहास से यदि हम

इतनी ही सीख ले लेते, तो बहुत अच्छा होता कि जो कोई हमारे देवता को नहीं मानता, वह नास्तिक ही है, यह बात सच नहीं।'

अनीश्वरवाद का इतिहास ईश्वर के अस्तित्व में शंका और नकार तक सीमित नहीं है। कई वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारधाराएँ संसार में प्रचलित हुईं, जो ईश्वरवाद और देवतावाद में विश्वास ही नहीं करती थीं। उन सबमें सबसे अधिक प्रभावशाली भौतिकतावाद या जडवाद है। चार्वाक से कार्लमार्क्स तक इस मत को माननेवाले अनेक लोग हैं। आज संसार का एक-तिहाई हिस्सा (जो साम्यवाद के प्रभाव में है—प्रत्येक पाँचवाँ व्यक्ति चीनी है) अनीश्वरवादी है। जीवन केवल मृत्यु तक है। और, भौतिक बातों का कारण भौतिक ही है। यूनानी दार्शनिकों ने कुछ और बाद में बौद्धों ने, जैनों ने और इंगलैंड के जॉन लॉक आदि दार्शनिकों ने, फिर फ्रांस के कई चिंतक, जैसे वाल्तेयर आदि ने संवेदनावाद चलाया। लॉक स्वयं ईश्वर-विश्वासी था, पर वह कार्यकारणभाव में प्रतीत्य-समुत्पादवादी था। कांट आदि आदर्शवादियों ने बाद में जो 'आंतरिक नैतिक नियम' को ईश्वर माना, उसका उन 'भाववादियों' में अभाव था। सारे हमारे विचार और कल्पनाएँ केवल मनोनिस्सृत हैं। ईश्वर भी ऐसी ही कोरी कल्पना है।

चार्ल्स डार्विन आदि विकासवादियों के बाद सारी प्रकृति या सृष्टि के पीछे कोई एक नियम या 'रचना' है, इसका विरोध पश्चिम के वैज्ञानिकों में होने लगा। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' : स्पर्द्धा में जो भी बलशाली है, वही अधिक जी पाता है। उसीसे नस्लों में उत्क्रांति होती है। बंदर से मनुष्य बना। इसमें ईश्वर कहाँ से आया ? ज्यलियन हक्स्ले आदि इसे मानते हैं।

इस बीच में यूरोप में ईश्वर पर संदेह करनेवाले कुछ अज्ञेयवादी पैदा हुए। उनके मत से ईश्वर हो या न हो, हमें उससे क्या ? शायद होगा भी, शायद नहीं भी होगा। स्याद्वाद में विश्वास करनेवाले जैनों की तरह ईश्वर एक 'अविचारणीय' और 'अगम्य' तत्त्व बन गया। यह सापेक्षतावाद पर आश्रित था। यूनानी दार्शनिक कारनियादेस से मॅन्सेल और हरबर्ट स्पेंसर तक इस प्रकार के संदेहवादी मिलते हैं।

बाद में पश्चिम में नीत्शे आए, जिन्होंने कहा—'क्या ईश्वर ने आत्महत्या कर ली। यह आपके लिए नई खबर है ?' वे मनुष्य की प्रवृत्तियों पर बल देकर वैश्वानर, अतिमानव या सुपरमैन की कल्पना करने लगे। आधुनिक

अस्तित्ववादियों में कई नास्तिक अस्तित्ववादी हैं; जैसे ज्याँ पॉल सार्त्र। पश्चिम में अनीश्वरवाद का प्रथम उदय यूनान में हुआ। चीन में तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में मैन्शियस नामक कन्फ्यूशियस के शिष्य उसे राज्य का शत्रु मानते हैं। यांग-चू ने लिखा कि 'खाओ, पियो और मौज करो' यही जीवन का मुख्य उद्देश्य है। यही चार्वाक या एपिक्यूरियन लोगों की तरह विचार है। मध्वाचार्य के चौदहवी शती के ग्रंथ में चार्वाकों का थोड़ा-सा उल्लेख है। वह पुनर्जन्म नहीं मानता था, न ब्राह्मणों के अन्य विश्वास। जड़ द्रव्य ही सब कुछ था। कोई स्वर्ग नहीं है, न अंतिम मोक्ष है. न कोई आत्मा है, न परलोक।'

बौद्धधर्म में ईश्वरवाद का खंडन है। ईश्वर जैसा मनुष्य के कर्मो का लेखा-जोखा रखनेवाला कोई हिसाब-नवीस जरूरी नहीं है। अच्छे और बुरे कर्म मिश्रित होते रहते हैं, और मनुष्य का विवेक ही अंततः उनका निर्णायक है, न कि ईश्वर। पश्चात्ताप से क्या पापी पाप से मुक्त नहीं हो सकता? फिर ईश्वर को मनुष्य के कर्मो पर दंड देनेवाला न्यायाधीश बनाने की क्या आवश्यकता? ब्रह्मजालसुत्र नामक बुद्ध के संवादों की पुस्तक के दूसरे अध्याय में ब्रह्मा के आदि-देवता होने की और उसकी कल्पना द्वारा अन्य देवताओ के निर्माण की काफी व्यंग्य से हँसी उड़ाई गई है। केवड्ढसुत्त में सब देवता ब्रह्मा को महान् मानते हैं और बुद्ध तो ब्रह्म से भी महान् है। एक बौद्ध भिक्षु ने ब्रह्मा से पूछा—'ये चार मूल तत्त्व कहाँ तक जाते हैं; तो ब्रह्मा ने उत्तर दिया—मेरे आस-पास के देवताओं के कारण मैं देख नहीं पाता, सो उत्तर नहीं दे सकता। इसलिए, बुद्ध के पास जाओ, वही बताएँगे।' बोधिचर्यावतार में ईश्वर के न होने के तीन तर्क दिए हैं (अध्याय ९, पद ११९):

१. ईश्वर ने आत्मा या वस्तुएँ पैदा नहीं कीं। वे तो सदा से हैं। ईश्वर मन में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं करता। चूंकि ज्ञान वस्तुओं से निर्मित होता है। वह सुख-दुःख का कर्त्ता नहीं। वह कर्म से होता है।

२ ईश्वर को यदि सृष्टि की इच्छा हुई, तो वह निरिच्छ कैसे है? इच्छा का निर्माता कौन है? यदि वह इच्छा पर निर्भर है, तो वह स्वतंत्र कैसा है?

३. यदि वह सबसे स्वतंत्र है, तो वह उत्पत्ति, स्थिति और लय एक साथ क्यों नहीं करता। जो आदिकारण है, वह सब कर सकता है। अतः, सब कुछ क्षणिक है।

भारतीय 'लोकायत' पर साम्यवादी विद्वान् देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय की बड़ी पुस्तक है। सांख्यदर्शन में और जैनधर्म में भी ईश्वर का अस्तित्व नकारा गया है, जिसका विचार पूर्वाध्यायों में हो चुका है। आधुनिक भारत में भी अनीश्वरवादी दार्शनिक कई हुए हैं। बख्तावर नामक शून्यवादी ने उन्नीसवीं सदी में, हाथरस के जाट राजा दयाराम के काल में 'शून्यसार' लिखी थी। इसकी मूल पुस्तक लेनिनग्राद में प्रो० सेरियाब्रेकेव के पास पांडुलिपि के रूप में उपलब्ध है। उसमें लिखा है :

'आईने में जो तुम्हारा चेहरा दिखाई देता है, वह तुम्हारा है, दूसरे का नहीं है। उसी तरह से जो कुछ तुम्हें कहीं भी दिखाई देता है, वह तुम्हारा अपना है। तुम्हारे माता-पिता वहाँ कहाँ हैं। तुम ही बच्चे हो, तुम ही बूढ़े हो, तुम ही मूर्ख और विद्वान् हो, तुम ही स्त्री और पुरुष हो। तुम ही डूबते हो, तुम ही तिरते हो। तुम ही मारते हो, तुम ही मरते हो। तुम ही सोते हो, जागते हो। तुम ही नाचते हो, गाते हो।'

इस्लाम में भी जिंदीक, दहर आदि पंथ नास्तिकों के हुए। उनकी 'किताब अल अगानी' मिलती है। उसमें कई ऐसे लोगों का जिक्र है। मसलन, जाहिज या अब्दल मलिक या अबू हय्यान अली-अल-तौहीदी इत्यादि। इनका जिक्र इस्लाम की चर्चा में आ चुका है।

आधुनिक यूरोप में अनीश्वरवाद का इतिहास ईसाई-धर्म के साथ-साथ पठनीय है : एफ० ए० लैंग ने 'हिस्ट्री ऑव मेटेरियलिज्म' (भौतिकवाद का इतिहास) में १४वीं सदी के 'निकोलास द ऑत्रिक्यूरा' का उल्लेख किया है, जो फ्रांस में रहता था, और प्रकृतिवाद में विश्वास करता था। एक तरह से वह अणुवादी था। कोपरनिकस के बाद ब्रूनो और वानिनी के विचार अनीश्वरवादी से अधिक प्रकृति-शक्तिवादी थे। सत्रहवीं सदी में बेकन, गॅसेंडी और हॉब्स में अँगरेजी में और फ्रांसीसी में दकार्त में मिलते हैं। मेरे मेर्लेन नामक दकार्त्त के समकालीन ने लिखा है कि उसके समय पेरिस में ५०,००० नास्तिक थे। हॉब्स 'लेवियथान' में लिखता है कि 'सार्वजनिक रूप से अनुमतिप्राप्त काल्पनिक शक्ति के प्रति भय धर्म है; जिसे अनुमति नहीं मिलती, वह अंधविश्वास है।'

अठारहवीं सदी में जान लॉक के विचार फ्रांस में पहुँचे। और, सब चीजों का आरंभ संवेदनाओं से होता है, इस बात में कुछ लोग विश्वास करने लगे।

भौतिक वैज्ञानिक ला मैत्री, जिसने 'ल होमे मशीन' (मनुष्य-यंत्र) सन् १७४८ ई० में लिखा, ईश्वर को अस्वीकार करता है। 'मनःशांति के लिए ईश्वर का होना, न होना बराबर है। उसने संसार बनाया या न बनाया, यह मान्यता बेकार है। पृथ्वी तभी सुखी होगी, जब सब नास्तिक बनेंगे'—उसने लिखा।

इस ग्रंथ के बीस वर्ष बाद मिराबू नामक एक फ्रेंच-अकादमी के एक मृत अधिकारी के नाम से लिखी एक पुस्तक छपी, जिसका सच्चा लेखक था बैरन देहॉलबारव। उसकी पुस्तक में भौतिकवाद, संवेदनावाद और जडतावाद का संमिश्रण है। अंतिम दिदेरो द्वारा बाद में प्रतिपादित हुआ। सन् १८५९ ई० में लदन में 'दि एथिस्ट्स टेक्स्ट-बुक' (नास्तिकवादियों की पाठ्य-पुस्तक) छपी। वॉल्तेयर सबसे बड़ा फ्रेंच अनीश्वरवादी था।

जर्मनी में प्रो० अर्न्स्ट हाइकेल आदि लेखकों के प्रभाव से अनीश्वरवाद का विरोध हुआ। पर, लुडविग फ्वारबाख सबसे बड़े नास्तिक थे और डेविड स्त्राउस थी। हेगेल के ये विरोधी थे। हेगेल आदर्शवादी था। ये यथार्थवादी थे। हेगेल अमूर्त्त तत्त्व 'लौगोस' में विश्वास करता था, जबकि फ्वारबाख के अनुसार सभ्यता के बचपन में डर से मनुष्य अपनी ही अतिरंजित छाया को ईश्वर मान बैठा है। सन् १८४१ ई० में लुडविग फ्वारबाख के ग्रंथ 'डास वेसेन डेस क्रिस्टेनथम्स' ने काफी खलबली मचा दी। शरीरविज्ञानशास्त्रियों ने भी भौतिकतावादी दृष्टिकोण की पुष्टि की। कार्ल वोग्ट ने कहा कि दिमाग से विचार उसी तरह निकलते हैं, जैसे जिगर से पित्त या मूत्राशय से मूत्र (सन् १८४५—४७ ई०)। लुडविग बुखनेर ने सन् १८५५ ई० में 'क्राफ्ट डंड स्टफ' (शक्ति और जड द्रव्य) पुस्तक लिखी। बाद में डर्विन की 'नस्लों की उत्पत्ति' सन् १८५९ ई० में प्रकाशित हुई। दोनों परस्पर-पूरक और समर्थक थे। मानसिक क्रियाओं को शारीरिक क्रियाओं की उपज मानने से भौतिकतावाद आगे बढ़ा।

हमारे कणाद ऋषि की भाँति लाइब्निज ने समस्त भौतिक वस्तुओं की रचना कणों से या अणुओं (मोनाद) से मानी थी। उसी तरह हाइकेल भी सारी चेतना को भौतिक उपज मानता है। वह सारे विश्व को 'मोनौन', यानी कणों से युक्त एक संश्लेप मानता है। एफ० ए० लैंग ने अपने ग्रंथ 'भौतिकता-वाद के इतिहास' के तीसों खंडों में मनुष्य की नैतिकता के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, यह प्रतिपादन किया है। कांट अज्ञेयवादी थे और उन्हीं के प्रभाव में हाइकेल ने भी लिखा।

बाद में 'पाजिटिविज़म' नाम से एक दर्शन इंग्लैंड और फ्रांस में प्रसिद्ध हुआ। इसके अनुसार अतींद्रिय, आध्यात्मिक और आतिभौतिक किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। जो अज्ञेय है या हो, वह हमारे लिए अनुपयोगी है। वह मनुष्य के लिए अनावश्यक है। आगस्ट कांत के अनुसार बुद्धिवाद के साथ-साथ मनुष्य की मूर्त्ति-प्रधान धर्मप्रवणता कम होती जाती है। वह धीरे-धीरे अमूर्त्त तत्त्वों को ईश्वर मानने लगता है। विज्ञान की वृद्धि के साथ वह अमूर्त्त तत्त्व किसी प्रत्यक्ष या यथार्थ वास्तविकता पर आधारित नहीं है, ऐसा विश्वास दृढ होता है। और, विश्वास की यह अंतिम अवस्था ही 'पाजिटिविज़्म' है। इसका अर्थ हुआ आस्था या निष्ठा की स्वीकारात्मक निश्चित स्थिति। कांत ने विश्व को या मनुष्य को यांत्रिक मानने से इनकार किया। और इस प्रकार, भौतिकतावाद की कक्षा सचेतन विश्व को भी छूने लगी। कांत अनीश्वरवादी था। वह ईश्वर के स्थान पर 'ग्राँ एत्र', "मानवता, मनुष्यजाति' यह शब्द प्रयुक्त करना चाहता था।

धर्मनिरपेक्षता इंग्लैंड में उन्नीसवीं शताब्दी में बढ़ी। राबर्ट ओवेन, जेरेमी बेन्थैम, होल्योक, चार्ल्स ब्रैडलॉ (गांधीजी की आत्मकथा में उल्लिखित) आदि लेखकों ने यह सिद्ध करना आरंभ किया कि भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए किसी आधिदैविक कारण की आवश्यकता नहीं है। पहले के अनीश्वर-वादी, चाहे लॉक हों या वाल्तेयर, संसार की रचना के पीछे कोई 'डिजाइन' आकृतिबंध मानते थे। पर ये नए नास्तिक ऐसे किसी आकृति-बंध की आवश्यकता नहीं देखते। क्योंकि, ऐसी किसी संरचना के पीछे रचयिता की आवश्यकता अचेतन रूप से महसूस की जाती रही है। वैसे तो ॲनी बेसंट (जिन्होंने बाद में थियोसोफी शुरू की—जिसके प्रशंसकों में नेहरू और कृष्णमेनन भी शुरू शुरू में थे) भी वैट्स, फुट और रौस की तरह अनीश्वरवादी चिन्तक रही हैं।

पर, बाद के अनीश्वरवादी दार्शनिकों में बरट्रैंड रसेल प्रधान दार्शनिक रहा। जिसपर कार्लमार्क्स का भी काफी प्रभाव था। टी० एन० हक्स्ले, टिंडाल आदि के ग्रंथों में भी इंगलैंड में भौतिकतावाद का समर्थन मिलता है। भाषा-प्रधान दर्शन में विट्गेन्सटाइन आदि 'पाजिटिविस्ट' भी किसी आध्यात्मिक या चरम सत्ता की आवश्यकता नहीं मानते।

भौतिक वैज्ञानिक ला मैत्री, जिसने 'ल होमे मशीन' (मनुष्य-यंत्र) सन् १७४८ ई० में लिखा, ईश्वर को अस्वीकार करता है। 'मनःशांति के लिए ईश्वर का होना, न होना बराबर है। उसने संसार बनाया या न बनाया, यह मान्यता बेकार है। पृथ्वी तभी सुखी होगी, जब सब नास्तिक बनेंगे'—उसने लिखा।

इस ग्रंथ के बीस वर्ष बाद मिराबू नामक एक फ्रेंच-अकादमी के एक मृत अधिकारी के नाम से लिखी एक पुस्तक छपी, जिसका सच्चा लेखक था बैरन देहॉलबारब। उसकी पुस्तक में भौतिकवाद, संवेदनावाद और जड़तावाद का संमिश्रण है। अंतिम दिदेरो द्वारा बाद में प्रतिपादित हुआ। सन् १८५९ ई० में लदन में 'दि एथिस्ट्स टेक्स्ट-बुक' (नास्तिकवादियों की पाठ्य-पुस्तक) छपी। वॉल्तेयर सबसे बड़ा फ्रेंच अनीश्वरवादी था।

जर्मनी में प्रो० अर्न्स्ट हाइकेल आदि लेखकों के प्रभाव से अनीश्वरवाद का विरोध हुआ। पर, लुडविग फ्वारबाख सबसे बड़े नास्तिक थे और डेविड स्त्राउस थे। हेगेल के ये विरोधी थे। हेगेल आदर्शवादी था। ये यथार्थवादी थे। हेगेल अमूर्त्त तत्त्व 'लोगोस' में विश्वास करता था, जबकि फ्वारबाख के अनुसार सभ्यता के बचपन में डर से मनुष्य अपनी ही अतिरंजित छाया को ईश्वर मान बैठा है। सन् १८४१ ई० में लुडविग फ्वारबाख के ग्रंथ 'डास वेसेन डेस क्रिस्टेनथम्स' ने काफी खलबली मचा दी। शरीरविज्ञानशास्त्रियों ने भी भौतिकतावादी दृष्टिकोण की पुष्टि की। कार्ल वोग्ट ने कहा कि दिमाग से विचार उसी तरह निकलते हैं, जैसे जिगर से पित्त या मूत्राशय से मूत्र (सन् १८४५—४७ ई०)। लुडविंग बुखनेर ने सन् १८५५ ई० में 'क्राफ्ट डंड स्टफ' (शक्ति और जड द्रव्य) पुस्तक लिखी। बाद में डर्विन की 'नस्लों की उत्पत्ति' सन् १८५९ ई० में प्रकाशित हुई। दोनों परस्पर-पूरक और समर्थक थे। मानसिक क्रियाओं को शारीरिक क्रियाओं की उपज मानने से भौतिकतावाद आगे बढ़ा।

हमारे कणाद ऋषि की भाँति लाइब्निज ने समस्त भौतिक वस्तुओं की रचना कणों से या अणुओं (मोनाद) से मानी थी। उसी तरह हाइकेल भी सारी चेतना को भौतिक उपज मानता है। वह सारे विश्व को 'मोनीन', यानी कणों से युक्त एक संश्लेष मानता है। एफ० ए० लैंग ने अपने ग्रंथ 'भौतिकतावाद के इतिहास' के तीसों खंडों में मनुष्य की नैतिकता के लिए किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, यह प्रतिपादन किया है। कांट अज्ञेयवादी थे और उन्हीं के प्रभाव में हाइकेल ने भी लिखा।

बाद में 'पाजिटिविज्म' नाम से एक दर्शन इंग्लैंड और फ्रांस में प्रसिद्ध हुआ। इसके अनुसार अतींद्रिय, आध्यात्मिक और आतिभौतिक किसी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। जो अज्ञेय है या हो, वह हमारे लिए अनुपयोगी है। वह मनुष्य के लिए अनावश्यक है। आगस्ट कांत के अनुसार बुद्धिवाद के साथ-साथ मनुष्य की मूर्त्ति-प्रधान धर्मप्रवणता कम होती जाती है। वह धीरे-धीरे अमूर्त्त तत्त्वों को ईश्वर मानने लगता है। विज्ञान की वृद्धि के साथ वह अमूर्त्त तत्त्व किसी प्रत्यक्ष या यथार्थ वास्तविकता पर आधारित नहीं है, ऐसा विश्वास दृढ होता है। और, विश्वास की यह अंतिम अवस्था ही 'पाजिटिविज्म' है। इसका अर्थ हुआ आस्था या निष्ठा की स्वीकारात्मक निश्चित स्थिति। कांत ने विश्व को या मनुष्य को यांत्रिक मानने से इनकार किया। और इस प्रकार, भौतिकतावाद की कक्षा सचेतन विश्व को भी छूने लगी। कांत अनीश्वरवादी था। वह ईश्वर के स्थान पर 'ग्राँ एत्र', "मानवता, मनुष्यजाति' यह शब्द प्रयुक्त करना चाहता था।

धर्मनिरपेक्षता इंग्लैंड में उन्नीसवीं शताब्दी में बढ़ी। रावर्ट ओवेन, जेरेमी वेन्थैम, होल्योक, चार्ल्स ब्रैडलाँ (गांधीजी की आत्मकथा में उल्लिखित) आदि लेखकों ने यह सिद्ध करना आरंभ किया कि भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति के लिए किसी आधिदैविक कारण की आवश्यकता नहीं है। पहले के अनीश्वरवादी, चाहे लॉक हों या वाल्तेयर, संसार की रचना के पीछे कोई 'डिजाइन' आकृतिवंध मानते थे। पर ये नए नास्तिक ऐसे किसी आकृति-वंध की आवश्यकता नहीं देखते। क्योंकि, ऐसी किसी संरचना के पीछे रचयिता की आवश्यकता अचेतन रूप से महसूस की जाती रही है। वैसे तो ॲनी वेसंट (जिन्होंने बाद में थियोसोफी शुरू की—जिसके प्रशंसकों में नेहरू और कृष्णमेनन भी शुरू शुरू में थे) भी वेट्स, फुट और रौस की तरह अनीश्वरवादी चिन्तक रही हैं।

पर, बाद के अनीश्वरवादी दार्शनिकों में वरट्रैंड रसेल प्रधान दार्शनिक रहा। जिसपर कार्लमार्क्स का भी काफी प्रभाव था। टी० एन० हक्स्ले, टिंडाल आदि के ग्रंथों में भी इंगलैंड में भौतिकतावाद का समर्थन मिलता है। भाषा-प्रधान दर्शन में विट्गेन्सटाइन आदि 'पाजिटिविस्ट' भी किसी आध्यात्मिक या चरम सत्ता की आवश्यकता नहीं मानते।

इस प्रकार, अनीश्वरवाद के भी कई प्रकार हैं : सर्वसंदेहवाद, विकासवाद, ईश्वर से रोमैंटिक विद्रोह, वैज्ञानिक भौतिकतावाद, द्वंद्वात्मक भौतिकतावाद, अज्ञेयवाद, अनेकांतवाद, मानवतावाद, अस्तित्ववाद इत्यादि। उन सबका विस्तार से विचार करने के लिए एक अलग ग्रंथ की आवश्यकता होगी। अभी तो इतना ही कहना अलम् होगा कि मानव-मस्तिष्क और कल्पना ने ईश्वर के निर्माण और वर्गीकरण में जितना योग दिया है, मानवी तर्क ने उसके विरोध और खंडन में भी इतिहास में बड़े-बड़े चिंतक, मनीषी और ग्रंथ दिए हैं। उनके समूचे विचार के बिना मानव और ईश्वर के संबंध पूरी तरह से समझे नहीं जा सकते।

●